ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १५

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

द्वितीय-उपाङ्गम्

राजप्रश्नीयसूत्रम्

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

☐

प्रेरणा

(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

☐

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक

(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

☐

अनुवादक—विवेचक—संपादक

वाणीभूषण श्री रतनमुनि

देवकुमार जैन

☐

प्रकाशक

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १५

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
दिसम्बर १९९१ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : 70/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

SECOND UPĀNGA

RĀJAPRASHNIYA SŪTRAM

[Notes, Original Text, Hindi Version, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Shri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotators
Shri Ratan Muni
Deo Kumar Jain

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
दिसम्बर १९९१ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : [illegible] 70/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

SECOND UPĀNGA

RĀJAPRASHNIYA SŪTRAM

[Notes, Original Text, Hindi Version, Annotations and Appendices etc.]

□
Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Shri Brijlalji Maharaj

□
Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□
Translator & Annotators
Shri Ratan Muni
Deo Kumar Jain

□
Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 15

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**
Second Edition
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048, Dec. 1991.

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** : [illegible] 70/=

समर्पण

जिन्होने अन्धकारपूर्ण युग में
दिव्यज्योतिस्तम्भ का कार्य किया,
जो सम्यग्ज्ञान और चारित्र के परमाराधक थे,
जिनमार्ग के प्रचार-प्रसार के लिए जिन्होने
अपने जीवन की आहुति दी,
उन परम पुनीत संयतात्मा आचार्य

श्री लवजीऋषिजी महाराज

के कर-कमलों में।

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

राजप्रश्नीयसूत्र का यह द्वितीय सस्करण है ।

प्रस्तुत सूत्र द्वितीय अग-आगम सूत्रकृतागसूत्र का उपाग माना गया है । सूर्याभदेव के कथानक के द्वारा इसमे सरल सुबोध रोचक शैली मे जैनदर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ सूर्याभदेव द्वारा श्रमणभगवान् महावीर के समवसरण मे नृत्य-नाट्य कलाओ के प्रदर्शन के माध्यम से श्रमण सस्कृति की कलाओ का प्राजल रूप भी उपस्थित किया है ।

सूर्याभदेव की जीवनकथा से यह भी उजागर किया गया है कि अभिनिवेशो और भ्रान्त धारणाओ से ग्रस्त व्यक्ति जव योग्य मार्गदर्शक का सहवास पाकर प्रगति पथ पर प्रयाण करता है तव आत्मकल्याण करने के साथ-साथ जनकल्याण की ओर उन्मुख—अग्रसर हो सकता है ।

उपर्युक्त विशेषताओ के कारण इस सूत्र का आधार लेकर उत्तरवर्ती काल मे अनेक विद्वान् आचार्यो ने देशी भाषाओ मे रासो की रचनाये की है ।

सक्षेप मे कहा जाये तो यह सूत्र भारतीय कलाओ के अन्वेषको और दार्शनिको के लिये समान रूप से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करता है ।

प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद आदि वाणीभूषण श्री रतनमुनिजी म ने किया है और श्री देवकुमारजी जैन शास्त्री साहित्यरत्न ने सपादित कर सर्वोपयोगी वनाया है । एतदर्थ वे धन्यवादार्ह है ।

श्रमणसघ के सर्वतोभद्र स्व० युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म० की प्रवल आगमभक्ति के फलस्वरूप जो आगम प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ हुआ था, वह दिनानुदिन विस्तृत होता गया । विज्ञजनो के साथ-साथ सामान्य पाठको मे आगम साहित्य के पठन-पाठन का व्यापक प्रचार-प्रसार होने से समिति द्वारा अप्राप्य आगमो के द्वितीय सस्करण प्रकाशित किये जा रहे है ।

समिति अपने सभी सहयोगियों, पाठकों की आभारी है, जिन्होने आगमवत्तीसी के प्रकाशन, प्रचार-प्रसार करने मे सहयोग दिया है ।

रतनचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

सायरमल चोरड़िया
महामत्री

अमरचन्द मोदी
मत्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५ ९०१

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री सागरमलजी बेताला	इन्दौर
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री दुलीचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री जसराजजी सा. पारख	दुर्ग
महामंत्री	श्री जी. सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
मंत्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमंत्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री आर. प्रसन्नचन्द्रजी चोरड़िया	मद्रास
परामर्शदाता	श्री माणकचन्दजी संचेती	जोधपुर
कार्यकारिणी सदस्य	श्री एस. सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मोतीचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री तेजराजजी भण्डारी	जोधपुर
	श्री भंवरलालजी गोठी	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चोपड़ा	ब्यावर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेड़तासिटी
	श्री भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेड़तिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर

आदि वचन

[प्रथम संस्करण से]

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत. निरस्त हो जाते है तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती है। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते है, संघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते है अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते है और द्वादशाग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए है। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवाँ अंग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य; गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पदमात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत. आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्वलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर वाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणो से आगमज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल वाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे वहुत वडा विघ्न वन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आईं और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलतः आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय को प्रवृत्ति बढी है, जनता में आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवाये नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नही। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने में असमर्थ है, पर विनीत व कृतज्ञ तो है ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत मे खड़ी बोली में अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन वहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मै जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य मे आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलाक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मै अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणो में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट है, मूलपाठों में व वृत्ति में कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो है ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमों के अनेक गूढार्थ-गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नही हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसमे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गुंजाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगों मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील है। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो में उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे है। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्याये की जा रही हें। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्य मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये विना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएं महासती दिव्यप्रभाजी, एम॰ ए., पी-एच. डी., महासती मुक्तिप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी. तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल में ही तेरह आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)



प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

राजप्रश्नीयसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

धर्म : विश्लेषण

भारतीय साहित्य मे 'धर्म' शब्द व्यापक रूप से व्यवहृत हुआ है। आध्यात्मिक हो या दार्शनिक साहित्य, आयुर्वेदिक हो या ज्योतिषशास्त्र हो, सर्वत्र 'धर्म' शब्द के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। उस सम्बन्ध मे विशालकाय ग्रन्थ निर्मित हुए है। विभिन्न व्याख्याएँ और परिभाषाएँ धर्म शब्द को लेकर लिखी गई है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक लाखो चिन्तको ने धर्म शब्द को अपना चिन्तन का विषय बनाया है और धर्म के नाम पर अनेक विवाद भी हुए है। पारस्परिक मतभेदो के कारण धर्म के विराट् सागर मे विवाद के तूफान उठे है, तर्क-वितर्क के भँवरो ने जनमानस को विक्षुब्ध किया है। तथापि धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा प्रत्येक मानव में आज भी है। हम धर्म शब्द की विभिन्न परिभाषाओ पर चिन्तन न कर संक्षेप मे ही जैन मनीषियो ने धर्म पर जो गहराई से अनुचिन्तन किया है, उसे यहाँ प्रस्तुत कर रहे है।

परमार्थत. धर्म वस्तु का स्वभाव है। व्यवहारत. क्षमा, निर्लोभता, सरलता आदि सद्‌गुणो की अपेक्षा से वह दश प्रकार का है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की दृष्टि से धर्म के तीन प्रकार है। जीवो की रक्षा करना भी धर्म है,[1] इसलिए यह स्पष्ट है जो आत्मा के निज गुण है, वह धर्म है और जो पुद्‌गलो का स्वभाव है, वह आत्मा के लिए धर्म नही किन्तु परभाव है, विभाव है और वही अधर्म है। जो स्वभाव है, वह सदा बना रहता है और जो विभाव है वह सदा बना नही रहता है। पानी को गर्म करने पर भी पानी हमेशा गर्म नही रहता, क्योकि पानी का स्वभाव शीतलता है। मात्र आग के कारण उसमे उष्णता आती है। वैसे ही क्रोधादि भाव कर्म के कारण उत्पन्न होते है, वे आत्म-स्वभाव नही, किन्तु विभाव है। इसलिए उन्हे अधर्म कहा गया है।

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—आत्मा का स्वरूप क्या है? कषाय आदि आत्मा का स्वरूप है या समता आदि? समाधान मे भगवान् ने कहा—समता ही आत्मा का स्वभाव है, न कि कषाय। समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेना है।[2] श्रमण भगवान् महावीर का ही नही, आधुनिक युग के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' का भी यह मन्तव्य है—"चेत्त-जीवन और स्नायु-जीवन का स्वभाव यह है कि वह विक्षोभ और तनाव को नष्ट कर समत्व की संस्थापना करता है।" विक्षोभ, तनाव और मानसिक द्वन्द्व से ऊपर उठ कर शान्त निर्द्वन्द्व मन स्थिति को प्राप्त करना ही वस्तुतः धर्म है। भगवान् महावीर

---

१. धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
   रयणत्तयं च धम्मो, जीवाण रक्खणं धम्मो॥

२. आया सामाइए।

ने भी आचाराग में स्पष्ट शब्दो मे कहा—"समियाए धम्मे आरियेहि पवेइए[3]"—आर्यों ने समत्व भाव को धर्म कहा है ।

भापाशास्त्र की दृष्टि से धर्म शब्द 'धृ' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है—धारण करना । आत्मा का धर्म है सद्‌गुणो को धारण करना । ये सद्‌गुण वाहर से लाये नही जाते, वे विभाव के हटते ही स्वत प्रकट हो जाते है । उदाहरण के रूप मे अग्नि के संयोग के हटते ही पानी स्वत शीतल हो जाता है । धर्म के लिए अधर्म को छोडना होता है, विभाव को दूर करना होता है । जैसे—वादल के हटने पर सूर्य का चमचमाता हुआ प्रकाश प्रकट हो जाता है, वैसे ही अधर्म के वादल छटते ही धर्म का दिव्य आलोक जगमगा पडता है । धर्म ऊपर से आरोपित नही होता और जो आरोपित है, वह अधर्म है । उस अधर्म ने ही मानव मे धर्म के प्रति घृणा पैदा की । धर्म का दम्भ अधार्मिकता से भी अधिक भयावह है । क्योकि इसमें अधर्म को छिपाने के लिए ढोंग किया जाता है । यह धर्म के नाम पर आत्म-प्रवञ्चना है । धर्म से आकुलता-व्याकुलता नष्ट होकर निर्मलता प्राप्त होती है ।

धर्म के दो प्रकार : श्रुतधर्म और चारित्रधर्म—

धर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए स्थानाग मे धर्म के दो भेद वताये है[४]—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म । ये दोनो धर्म मोक्ष रूपी रथ के चक्र है । श्रुतधर्म से धर्म का सही स्वरूप समझा जाता है, इसलिए चारित्रधर्म से पूर्व उसका उल्लेख किया गया है । यहाँ हम चारित्रधर्म का विश्लेपण न कर श्रुतधर्म पर चिन्तन करेगे । श्रुतधर्म पर चिन्तन करने से पूर्व श्रुत शब्द को जानना आवश्यक है । सामान्यत· श्रुत का अर्थ है—सुनना । क्योकि 'श्रु' धातु से श्रुत शब्द निष्पन्न हुआ है । पूज्यपाद[५] ने लिखा है—'श्रुत-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर निरूप्यमान पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है, वह श्रुत है' । आचार्य अकलक[६] ने भी यही अर्थ 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' मे प्रस्तुत किया है । पूज्यपाद ने यह स्पष्ट किया है कि 'श्रुत शब्द' शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्य रूप से प्रतिपादक होने पर भी वह ज्ञानविशेष में ही रूढ है ।[७] केवलमात्र कानो से सुना गया शब्द ही श्रुत नही है ।[८] जैन दार्शनिको को मुख्य रूप से श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है, पर उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उन्हे ग्राह्य है । विस्तार में न जाकर संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से अपने में नियत अर्थ को प्रतिपादन करने मे

---

३ आचाराग—१।८।२

४ दुविहे धम्मे पन्नत्ते, तंजहा—सुयधम्मे चेव, चरित्तधम्मे चेव । —स्थानाग स्थान २, उ १

५ तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते अनेन श्रृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम् ।
—सर्वा. सि (१।९), पृ-६६

६ श्रुतशब्द कर्मसाधनश्च । २ । किंच पूर्वोक्तविपयसाधनश्चेति वर्त्तते । श्रुतावरणक्षयोपशमाद्यन्तरंग-वहिरंग हेतुसन्निधाने सति श्रूयतेस्मेति श्रुतम् । कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव श्रृणोतीति श्रुतम् । भेदविवक्षाया श्रूयतेऽनेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्रं वा । —(त. वा [१।९।२])

७ श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेपे वर्तते ।
—सर्वा. सि. (१/२०), पृष्ठ-८३

८. ···· ·· ··· ······ ····ज्ञानमित्यनुवर्तनात् ।
श्रवणं हि श्रुतज्ञानं न पुनः शव्दमात्रकम् ॥ —त. श्लो. वा. व (३२।०।२०), पृष्ठ-५९८

समर्थ ज्ञान श्रुतज्ञान है ।[९]

प्राकृत 'सुय' शब्द के संस्कृत मे चार रूप होते है—श्रुत, सूत्र, सूक्त (सुत्त) और स्यूत । आचार्यो ने इन रूपो के अनुसार इनकी व्याख्या की है । आचार्य अभयदेव ने श्रुत का अर्थ किया है—'द्वादश अगशास्त्र अथवा जीवादि तत्त्वो का परिज्ञान' ।[१०]

जैसे सूत्र मे माला के मनके पिरोये हुए होते है उसी प्रकार जिसमे अनेक प्रकार के अर्थ ओत-प्रोत होते है, वह सूत्र है । जिसके द्वारा अर्थ सूचित होता है वह सूत्र है । जैसे—प्रसुप्त मानव के पास यदि कोई वार्तालाप करता है पर निद्राधीन होने के कारण वह वार्तालाप के भाव से अपरिचित रहता है, वैसे ही विना व्याख्या पढे जिसका वोध न हो सके, वह सूत्र है । अपर शब्दो मे यो कह सकते है—जिसके द्वारा अर्थ जाना जाय अथवा जिसके आश्रय से अर्थ का स्मरण किया जाय या अर्थ जिसके साथ अनुस्यूत हो, वह सूत्र है ।[११]

इस प्रकार श्रुत या सूत्र का स्वाध्याय करना, श्रुत के द्वारा जीवादि तत्त्वा और पदार्थो का यथार्थ स्वरूप जानना श्रुतधर्म है ।

श्रुतधर्म के भेद—

श्रुतधर्म के भी दो प्रकार है—सूत्ररूप श्रुतधर्म और अर्थरूप श्रुतधर्म ।[१२] अनुयोगद्वार सूत्र मे श्रुत के द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दो प्रकार वताये है । जो पत्र या पुस्तक पर लिखा हुआ है वह 'द्रव्यश्रुत' है और जिसे पढने पर साधक उपयोगयुक्त होता है वह 'भावश्रुत' है ।

श्रुतज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—जैसे सूत्र—धागा पिरोई हुई सूई गुम हो जाने पर भी पुन: मिल जाती है, क्योकि धागा उसके साथ है । वैसे ही सूत्रज्ञान रूप धागे से जुडा हुआ व्यक्ति आत्मज्ञान से वचित नही होता । आत्मज्ञान युक्त होने से वह ससार मे परिभ्रमण नही करता ।

नन्दीसूत्र मे श्रुत के दो प्रकार वताये है—सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत । वहाँ पर सम्यक्श्रुत और मिथ्याश्रुत की सूची भी दी है और अन्त मे स्पष्ट रूप से लिखा है—"सम्यक्श्रुत कहलाने वाले शास्त्र भी मिथ्यादृष्टि के हाथो मे पडकर मिथ्यात्व वुद्धि से परिगृहीत होने के कारण मिथ्याश्रुत वन जाते है । इसके विपरीत मिथ्याश्रुत कहलाने वाले शास्त्र सम्यग्दृष्टि के हाथो मे पडकर सम्यक्त्व से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्-श्रुत वन जाते है ।"[१३]

---

९ इदियमणोणिमित्त ज विण्णाण सुताणुसारेणं । णिअयत्थुत्ति समत्थ त भावसुत मती सेस ।

—विशे आ. भा. (भा. ५), गा. ९९

१०. दुर्गतौ प्रपततो जीवान् रुणद्धि, सुगतौ च तान् धारयतीति धर्म । श्रुत द्वादशाग तदेव धर्म श्रुतधर्म· ।

—स्थानागवृत्ति

११. सूत्र्यन्ते सूच्यन्ते वाऽर्था अनेनेति सूत्रम् । सुस्थिततत्वेन व्यापित्वेन च सुष्ठूक्तत्वाद् वा सूक्त, सुप्तमिव वा सुप्तम् । सिचति क्षरति यस्मादर्थ तस्मात् सूत्र निरुक्तविधिना वा सूचयति श्रवति श्रूयते, स्मर्यते वा येनार्थ । —स्थानागवृत्ति

१२ सुयधम्मे दुविहे पण्णत्ते तजहा—सुत्तसुयधम्मे चेव अत्थसुयधम्मे चेव । —स्थानाग, स्था २

१३ एआइ मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं ।
एआइ चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुय ।। —नन्दीसूत्र-श्रुतज्ञान प्रकरण

श्रुत के अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत, सञ्ज्ञीश्रुत और असञ्ज्ञीश्रुत आदि चौदह भेद किये गये है। उनमे सयक्श्रुत वह है जो वीतरागप्ररूपित है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने अपने आपको देखा एव समूचे लोक को भी हस्तामलकवत् देखा। भगवान् ने सत्य का प्रतिपादन किया। उन्होंने वन्ध, वन्धहेतु, मोक्ष, और मोक्ष-हेतु का स्वरूप प्रकट किया। भगवान् की वह पावन वाणी आगम वन गई। इन्द्रभूति गौतम आदि प्रमुख शिष्यो ने उस वाणी को सूत्र रूप मे गूथा, जिससे आगम के सूत्रागम और अर्थागम ये दो विभाग हुए। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को 'अर्थागम' और उसके आधार पर की गई सूत्ररचना 'सूत्रागम' कहा गया। यह आगम-साहित्य आचार्यो के लिए महान् निधि थी। इसलिए वह 'गणिपिटक' कहलाया। उस गुम्फन के १. आचार २. सूत्रकृत ३ स्थान ४. समवाय ५. भगवती ६. ज्ञाताधर्मकथा ७ उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौप-पातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक १२ दृष्टिवाद, ये मौलिक वारह भाग हुए, इसलिए उसका दूसरा नाम 'द्वादशागी' है। इस तरह प्रणेता की दृष्टि से आगम-साहित्य 'अगप्रविष्ट' और 'अनगप्रविष्ट' इन दो भागो मे विभक्त हुआ। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधरो ने जिस साहित्य की रचना की, वह 'अगप्रविष्ट' है। स्थविरो ने भगवान् महावीर की वाणी के आधार से जिस साहित्य की सरचना की वह 'अनगप्रविष्ट' है। वारह अगो के अतिरिक्त सारा आगमसाहित्य अनगप्रविष्ट के अन्तर्गत आता है। द्वादशागी का आगम-साहित्य मे प्रमुखतम स्थान रहा है। वह स्वत प्रमाण है। द्वादशागी के अतिरिक्त जो आगम है, वे परत प्रमाण है, अर्थात् जो द्वादशागी से अविरुद्ध है वे प्रमाण है, शेप अप्रमाण है।

राजप्रश्नीयः नामकरण

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनो का आधारभूत प्राचीनतम साहित्य आगम हैं और वह श्रुत भी है। राजप्रश्नीयसूत्र की परिगणना अंगवाह्य आगमो में की गई है। वह द्वितीय उपांग है। आचार्य देववाचक ने इसका नाम 'रायपसेणिय' दिया है।[१४] आचार्य मलयगिरि ने 'रायपसेणीअ' लिखा है। वे इसका संस्कृत रूप 'राज-प्रश्नीयम्' करते है। सिद्धसेनगणी ने तत्त्वार्थवृत्ति मे 'राजप्रसेनकीय' लिखा है। तो मुनिचन्द्र सूरि ने 'राजप्रसेनजित' लिखा है।

अक्रियावादः एक चिन्तन

आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय को सूत्रकृताग का उपाग माना है। उनका मन्तव्य है कि सूत्रकृताग मे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी प्रभृति पाखण्डियो के तीन सौ तिरेसठ मत प्रतिपादित है, उनमे से अक्रियावादी मत को आधार वनाकर राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण से प्रश्नोत्तर किये। सूत्रकृताग[१५] और भगवती[१६] में चार समवसरणो मे एक अक्रियावादी वताया है। वहाँ पर अक्रियावादी का अर्थ अनात्मवादी—क्रिया के अभाव को मानने वाला, केवल चित्तशुद्धि को आवश्यक और क्रिया को अनावश्यक मानने वाला—किया है। स्थानांग सूत्र मे[१७] अक्रियावादी शब्द का प्रयोग अनात्मवादी और एकान्तवादी दोनो अर्थो में मिलता है। वहाँ अक्रियावादी के एकवादी, अनेकवादी, मितवादी, निर्मितवादी, सातवादी, समुच्छेदवादी, नित्यवादी, असत्

---

१४. नन्दीसूत्र, सूत्र-८३

१५. सूत्रकृताग—१।१२।१

१६. भगवती—३०।१

१७. अट्ठ अकिरियावाई पण्णत्ता तजहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, णिम्मितवाई, सायवाई, समुच्छेदवाई, णित्तावाई, णसंतपरलोगवाई। —स्थानांग-८।२२

परलोकवादी ये आठ प्रकार बताये है। उनमे से छह वाद एकान्त दृष्टि वाले हैं। समुच्छेदवाद और नास्ति-मोक्ष-परलोकवाद ये दो अनात्मवाद है। नयोपदेश ग्रन्थ मे उपाध्याय यशोविजयजी ने धर्म्यंश की दृष्टि से जैसे—चार्वाक को नास्तिक अक्रियावादी कहा है वैसे ही धर्मांश की दृष्टि से सभी एकान्तवादियों को नास्तिक कहा है।[१८]

सूत्रकृतांगनिर्युक्ति मे अक्रियावादियो के चौरासी प्रकार बताये हैं। वह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस समय जिन वादों का उल्लेख किया गया है उनकी कौनसी दार्शनिक धारायें थीं? पर वर्तमान मे उन धाराओ के संवाहक दार्शनिक इस प्रकार है—

१. एकवादी—

१. ब्रह्माद्वैतवादी—वेदान्त।

२. विज्ञानाद्वैतवादी—बौद्ध।

३. शब्दाद्वैतवादी—वैयाकरण।

ब्रह्माद्वैतवादी की दृष्टि से ब्रह्म, विज्ञानाद्वैतवादी की दृष्टि से विज्ञान और शब्दाद्वैतवादी की दृष्टि से शब्द पारमार्थिक तत्त्व है। शेष तत्त्व अपारमार्थिक हैं। अतः ये सारे दर्शन एकवादी हैं। अनेकान्त दृष्टि के आलोक में सभी पदार्थ संग्रहनय की दृष्टि से एक हैं और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेक हैं।

२. अनेकवादी—

वैशेषिक दर्शन अनेकवादी है। उनके अभिमतानुसार धर्म-धर्मी, अवयव-अवयवी पृथक्-पृथक् हैं।[१९]

३. मितवादी—

१. जीवों की संख्या परिमित मानने वाले—इनके मन्तव्य पर स्याद्वादमञ्जरी टीका में चिन्तन किया गया है।[२०]

२. आत्मा को अंगुष्ठपर्व या श्यामाक तंदुल जितना मानने वाले—इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद्,[२१] छान्दोग्योपनिषद्,[२२] कौपीनकी उपनिषद्,[२३] मुण्डक उपनिषद्,[२४] आदि विविध उपनिषदों का मत है।

३. लोक को केवल सात द्वीप समुद्र का मानने वाले—इस विचारधारा का उल्लेख भगवती आदि में हुआ है।

---

१८. 'धर्म्यंशे नास्तिको ह्येको, बार्हस्पत्यः प्रकीर्तितः।
धर्मांशे नास्तिका ज्ञेयाः, सर्वेऽपि परतीर्थिकाः ॥' —नयोपदेश, श्लोक-१२६

१९. स्वतोऽनुवृत्ति-व्यतिवृत्तिभाजो, भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादतथात्मतत्त्वाद्, द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक-४

२०. मुक्तोऽपि वाभ्येतु भवं भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ ! यथा न दोषः ॥ —अन्ययोग० श्लोक-२९

२१. [illegible] ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वना[illegible]
[illegible]अप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्। यथा व्रीहिर्वा यवो वा ! —बृहदारण्यक उपनिषद्-[illegible]

२२. प्रादेशमात्रम् । —छान्दोग्य उपनिषद्—५।१८।१

२३. एष प्रज्ञात्मा इद—शरीरमनुप्रविष्टः। —कौषीतकी उपनिषद्—[illegible]

२४. [illegible]। मुण्डक-उपनिषद्—१।१।६

४. निर्मितवादी—

नैयायिक, वैशेषिक आदि—जो लोक को ईश्वरकृत मानते है।[२५]

५. सातवादी—

आचार्य अभयदेव के[२६] अनुसार 'सातवाद' बौद्धो का मत है। सूत्रकृतांग से भी इस कथन की पुष्टि होती है।[२७] चार्वाकदर्शन का साध्य सुख है। तथापि वह सातवादी नही है। क्योकि "सात सातेण विज्जति" सुख का कारण सुख ही है। प्रस्तुत कार्य-कारण का सिद्धान्त चार्वाकदर्शन का नही है। बौद्धदर्शन पुनर्जन्म मे निष्ठा रखता है। उसकी मध्यम प्रतिपदा भी कठिनाइयो से बचकर चलने की है, इसलिये वह सातवादी माना गया है। चूर्णिकार ने भी सातवाद को बौद्ध माना है। "सातं सातेण विज्जति"—इस पर चिन्तन करते हुए चूर्णिकार ने लिखा है—'इदानीम् शाक्याः परामृश्यन्ते' अर्थात् अब बौद्धो के सम्बन्ध मे हम चिन्तन कर रहे है। भगवान् महावीर ने कायक्लेश पर बल दिया। "अत्तहिय खु दुहेण लब्भई"—आत्महित कष्ट से सिद्ध होता है। जैनदर्शन ने बौद्धो के सामने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया। बौद्धो का मन्तव्य है—शारीरिक कष्ट की अपेक्षा मानसिक समाधि का होना आवश्यक है। कार्य-कारण के सिद्धान्तानुसार दु:ख, सुख का कारण नही हो सकता। इसलिए सुख, सुख से ही प्राप्त होता है। आचार्य शीलाक ने बौद्धो का सातवाद सिद्धान्त माना ही है साथ ही जो परिषह को सहन करने मे असमर्थ है, ऐसे जैन मुनियो का भी अभिमत माना है।[२८]

६. समुच्छेदवादी—

प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। उत्पत्ति-अनन्तर दूसरे ही क्षण मे उसका उच्छेद हो जाता है, ऐसा बौद्ध मन्तव्य है। इसलिये बौद्धदर्शन समुच्छेदवादी माना गया है।

७. नित्यवादी—

साख्यदर्शन के सत्कार्यवाद के अनुसार पदार्थ कूटस्थ नित्य है कारण रूप मे प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व रहता है। कोई भी पदार्थ नूतन रूप से पैदा नही होता और न वह विनष्ट ही होता है। पदार्थ का आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है।[२९]

७. असत् परलोकवादी—

चार्वाकदर्शन न मोक्ष को मानता है और न परलोक आदि को स्वीकार करता है।

राजा प्रदेशी : एक परिचय—

राजा प्रदेशी अक्रियावादी था और उसी दृष्टि से उसने अपनी जिज्ञासाये केशीश्रमण के सामने प्रस्तुत की थी। डा. विन्टरनीत्ज का मन्तव्य है कि प्रस्तुत आगम मे पहले राजा प्रसेनजित की कथा थी। उसके पश्चात्

---

२५. ईश्वर कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः॥
तत्कारितत्वादहेतुः। —न्यायसूत्र, ४।१।१९-२१

२६. स्थानांगवृत्ति, पत्र ४०४।

२७. सूत्रकृतांग—३।४।६।

२८. सूत्रकृतागवृत्ति, पत्र ९६ : एके शाक्यादय · स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ताः।

२९. साख्यकारिका—९

प्रसेनजित के स्थान पर 'पएस' लगाकर प्रदेशी के साथ इस कथा का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। पर प्रबल प्रमाण नही दिया है, अत हमारी दृष्टि से वह कल्पना ही है। प्रसेनजित महावीर और बुद्ध के समसामयिक राजाओ मे एक राजा था। सयुक्तनिकाय[३०] के अनुसार उसने एक यज्ञ के लिए ५०० बैल, ५०० बछड़े, ५०० बछड़िया, ५०० बकरिया, ५०० भेड आदि एकत्रित किये थे। बुद्ध के उपदेश से बिना मारे ही उसने यज्ञ का विसर्जन किया।[३१] उसने बुद्ध से छोटे-बड़े अनेक प्रश्न पूछे, उसका सकलन सयुक्तनिकाय के 'कौशलसंयुक्त' मे हुआ है। दीघनिकाय के अनुसार[३२] राजा प्रदेशी प्रसेनजित के अधीन था और राजप्रश्नीयसूत्र के अनुसार जितशत्रु प्रदेशी राजा का आज्ञाकारी सामन्त था। क्योकि जैन आगमसाहित्य में कही भी प्रसेनजित राजा का नाम प्राप्त नही है। श्रावस्ती के राजा का नाम उपासकदशाग[३३] तथा राजप्रश्नीय[३४] सूत्र मे 'जितशत्रु' है। यो वाणिज्यग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलम्बिया आदि अनेक नगरियो के राजा का नाम जितशत्रु मिलता है।[३५] हमारी दृष्टि से यह ऐसा गुणवाचक शब्द है, जिसका प्रयोग प्रत्येक राजा के लिए प्रयुक्त हो सकता है। यह बहुत कुछ सम्भव है कि प्रसेनजित का ही अपरनाम 'जितशत्रु जैन साहित्य मे आया हो। प्रसेनजिन पहले वैदिक परम्परा का अनुयायी था। उसके पश्चात् वह तथागत बुद्ध का अनुयायी बना। वह जैनधर्म का अनुयायी नही था, इसलिए उसका जैन साहित्य मे वर्णन न आया हो, यह भी सम्भव है। श्रावस्ती के अनुयायी निर्ग्रन्थ धर्म पर पूर्ण आस्थावान् थे। गणधर गौतम और केशीकुमार का मधुर संवाद भी वही पर हुआ था[३६] तथा अन्य अनेक प्रसंग भी भगवान् महावीर के जीवन के साथ जुडे हुए है।[३७]

प्रस्तुत आगम—

प्रस्तुत आगम दो भागो मे विभक्त है। इनमे प्रथम विभाग मे 'सूर्याभ' नामक देव श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित होता है और वह विविध प्रकार के नाटको का प्रदर्शन करता है। द्वितीय विभाग मे राजा प्रदेशी का केशी कुमारश्रमण से जीव के अस्तित्व और नास्तित्व को लेकर मधुर सवाद है।

प्रस्तुत आगम का प्रारम्भ 'आमलकप्पा' नगरी के वर्णन से होता है। यह नगरी पश्चिम विदेह मे श्वेताम्बिका के समीप थी। बौद्ध साहित्य मे बुल्लिय राज्य की राजधानी 'अल्लकप्पा' थी। सम्भव है, अल्लकप्पा ही आमलकप्पा हो। यह स्थान शाहाबाद जिले मे 'मसार' और 'वैशाली' के बीच अवस्थित था। आमलकप्पा के बाहर 'अम्बसाल' नामक चैत्य था। वह चैत्य वनखण्ड से वेष्टित था। वहाँ के राजा का नाम 'सेय' और रानी का नाम 'धारिणी' था। भगवान् महावीर का वहाँ पर शुभागमन हुआ और वे अम्बसाल चैत्य मे

---

३० सयुक्तनिकाय—कौशलसयुत्त, यञ्ञसुत्त, ३।१।९.

३१. धम्मपद-अट्ठकथा, ५-१। Buddhist Legends, Vol II, P. 104 ff

३२ दीघनिकाय—२।१०

३३. उपासकदशागसूत्र—अध्ययन-९/१०

३४ राजप्रश्नीयसूत्र

३५ उपासकदशागसूत्र—अध्ययन १/अ. २, अ. ३, अ. ५

३६ उत्तराध्ययन, अध्ययन-२३. गाथा-३

३७. (क) भगवतीसूत्र, शतक-१५वा।
(ख) भगवतीसूत्र—शतक-२, उद्देशक-१

राजे। राजा-रानी तथा अन्य नगर-निवासी प्रभु महावीर के पावन प्रवचन को श्रवण करने के लिए पहुँचे।

मे राजा 'सेय' का अन्यत्र कही भी विशेष परिचय नही आया है। स्थानागसूत्र के आठवे स्थान भगवान् महावीर ने जिन आठ राजाओ को दीक्षित किया, उन मे एक राजा का नाम 'सेय' है। आचार्य भयदेव के अनुसार यही सेय राजा था, जिसने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या अगीकार की थी।[३८] गुणचन्द्र ने लिखा है—एक बार भगवान् महावीर पोतनपुर मे पधारे, तव शख, वीर, शिव, भद्र आदि ो ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[३९] इससे विज्ञो का यह अभिमत है कि सभी राजा-गण एक ही दीक्षित हुए थे।[४०] मलयगिरि ने 'सेय' का सस्कृत रूपान्तर श्वेत किया है। इसी तरह धारिणी नाम आगमो मे अनेक स्थलो पर आया है। औपपातिक सूत्र मे राजा कूणिक की रानी का नाम भी धारिणी है था अन्यत्र भी इस नाम का प्रयोग हुआ है। सम्भव है, गर्भ को धारण करने के कारण 'धारिणी' कहलाती हो। भले ही उसका व्यक्तिगत नाम अन्य कुछ भी रहा हो।

स्तुकला का उत्कृष्ट रूप : विमान—

सौधर्म स्वर्ग के 'सूर्याभ' नामक देव ने अपने दिव्य ज्ञान से निहारा—श्रमण भगवान् महावीर आमलकप्पा के अम्बसाल चैत्य मे विराज रहे है। उसने वही से भगवान् को वन्दन किया और अपने आभियोगिक देवो को आदेश दिया कि वे शीघ्र ही प्रभु महावीर की सेवा मे पहुँचे और वहाँ की आसपास की भूमि को साफ कर सुगन्धित द्रव्यो से महका दे। तदनुसार आज्ञा का पालन किया गया। सूर्याभ देव ने अपने सेनापति को बुलाकर अत्यन्त कलात्मक विमान की रचना करने की आज्ञा दी। विमान का वर्णन वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ही नही, अपूर्व एव अद्भुत है। विमान के तीन ओर सोपान वनाये गये थे। तीनो सोपानो के सामने मणि-मुक्ताओ और तारिकाओ से रचित तोरण लगाये गये। उन तोरणो पर आठ-मगल स्थापित किये गये। रंग-बिरंगी ध्वजाये, छत्र, घण्टे और सुन्दर कमलो के गुच्छे लगाये गये। विमान का केवल बाह्य भाग ही सुन्दर नही था अपितु अन्दर के भाग में इस प्रकार कलात्मक मणियां जड़ी गई थी कि दर्शक देखते ही मत्रमुग्ध हो जाये। तथा इस प्रकार के चित्र उट्टंकित किये गये थे कि अवलोकन करने वाला ठगा-सा रह जाय। विमान के मध्य में प्रेक्षागृह का निर्माण किया गया, जिसमे अनेक खम्भे वनाये गये। ऊँची वेदिकाये, तोरण, शाल-भजिकाये स्थापित की गई। ईहामृग, वृषभ, हाथी, घोडे, वनलता प्रभृति के सुन्दर चित्र अकित किये गये। स्वर्णमय और रत्नमय स्तूप स्थापित किये गये। सुगन्धित द्रव्यो से उसे महकाया गया। मण्डल के चारो ओर वाद्यो की सुरीली स्वर-लहरिया झनझनाने लगी। मण्डप के मध्यभाग मे प्रेक्षको के बैठने का स्थान निर्मित किया गया। उनमे एक पीठिका स्थापित की। उस पर सिहासन रखा, जो कलात्मक था। सिंहासन के आगे मुलायम पादपीठ रखा। सिहासन श्वेत वर्ण के विजयदूष्य से सुशोभित था। उसके मध्य में अंकुश के आकार की एक खूटी थी, जिस पर मोतियो की मालाये लटक रही थी। अनेक प्रकार के रत्नो के हार दमक रहे थे। इस विमान मे सूर्याभ देव की मुख्य देवियो तथा अन्य आभ्यन्तर परिषद्, सेनापति आदि के वैठने के लिए भद्रासन विछे हुए थे। सूर्याभ देव अपने स्थान पर आसीन हुआ और अन्य देवगण भी अपने-अपने आसनो पर अवस्थित हुए। विमान अत्यन्त द्रुत गति से चला। असंख्यात द्वीप, समुद्रो को लाघता हुआ

---

३८. स्थानाङ्ग वृत्ति, पत्र-४०८

३९. "पत्तो पोयणपुर, तहिं च सखवीरसिवभद्दपमुहा नरिंदा दिक्खा गाहिया"।

—श्री गुणचन्द महावीरचरित्त, प्रस्ताव ८, पत्र ३३७

४०. ठाणं—जैन विश्वभारती, लाडनूं, पृष्ठ-८३७

जहाँ भगवान् महावीर विराज रहे थे, वहाँ उतरा। सूर्याभदेव अपने परिवार सहित भगवान् के श्री-चरणो में पहुँचा।

भगवान् महावीर के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को श्रवण कर आमलकप्पा के नागरिक यथास्थान लौट गये। सूर्याभ देव ने अपने अन्तर्हृदय की जिज्ञासाएं प्रस्तुत की। भगवान् से समाधान पाकर वह परम सतुष्ट हुआ। प्रेक्षामण्डप की संरचना की। विविध प्रकार के चमचमाते हुए वस्त्राभूषणो से सुसज्जित एक सौ आठ देवकुमार तथा एक सौ आठ देवकुमारिया आविर्भूत हुई।

वाद्य : विश्लेषण

उसके पश्चात् सूर्याभ देव ने निम्न प्रकार के वाद्यो की विक्रियाशक्ति से रचना की—शंख, शृंग, शृंगिका, खरमुही [काहाला], पेया [महतीकाला], पिरिपिरिका [कोलिक मुखावनद्ध मुखवाद्य], पणव [लघुपटह], पटह, भभा [ढक्का], होरभा [महाढक्का], भेरी [ढक्काकृति वाद्य], झल्लरी[४१] [चर्मविनद्धा विस्तीर्णवलयाकारा], दुन्दुभि [भेर्याकारा संकटमुखी देवातोद्य[४२]], मुरज [महाप्रमाण मदल], मृदग [लघु मर्दल], नदीमृदग [एकत: सकीर्ण: अन्यत्र विस्तृतो मुरजविशेष], आलिग [मुरज वाद्यविशेष[४३]] कुस्तुंव [चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेष] गोमुखी, मर्दल [उभयत. सम[४४]], वीणा, विपची [त्रितंत्री वीणा], वल्लकी [सामान्यतो वीणा, महती, कच्छभी [भारती वीणा], चित्रवीणा, वद्धीस, सुघोपा, नदिघोपा, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, वरवादनी [सप्ततत्री वीणा], तूणा, तुम्ववीणा [तुंवयुक्त वीणा], आमोट, झझा, नकुल, मुकुन्द [मुरज वाद्यविशेष], हुडुक्का[४५], विचिक्की, करटा[४६], डिडिम, किणित, कडंव, दर्दर, दर्दरिका [यस्य चतुर्भिश्चरणैखस्थानं भुवि स गोधाचर्मावनद्धो, जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१], कलशिका, महुया, तल, ताल कास्यताल, रिगिसिका [रिगिसिगिका, जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति[, लत्तिया, मगरिका, शिशुमारिका, वश, वेणु, वाली [तूणविशेप., स हि मुखे दत्वा वाद्यते], परिलि और वद्धक [पिरलीवद्धकौ तूणरूप वाद्यविशेषौ, जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति, पृष्ठ—१०१][४७], (५९)।

वाद्यो की सख्या के सम्वन्ध मे पाठभेद है। मूलपाठ मे वाद्यो की सख्या ४९ है और पाठानुसार इनकी सख्या ५९ है। इस पर चिन्तन करते हुए टीकाकार ने इस भिन्नता का समन्वय किया है।[४८] उन्होने कुछ वाद्यो को एक दूसरे मे मिलाकर उनकी सख्या का स्पष्टीकरण किया है। यो आगमसाहित्य में अनेक स्थलो पर वाद्यो का उल्लेख है। आचाराग[४९] मे 'किरिकिरिया' वाद्य का वर्णन है, जो वास आदि की लकडी से बना हुआ

---

४१. यह वाये हाथ मे पकड़कर दाये हाथ से वजाई जाती है —शार्गधर, संगीतरत्नाकर—६, १२३७

४२. मंगल और विजय सूचक होती है तथा देवालयो मे वजाई जाती है, —शार्गधर, संगीतरत्नाकर—६,११४६

४३. गोपुच्छाकृति मृदग जो एक सिरे पर चौड़ा और दूसरे पर सकडा होता है—वासुदेवशरण अग्रवाल हर्पचरित, पृष्ठ ६७

४४. सगीतरत्नाकर, १०३४ आदि

४५. इसे आवज अथवा स्कधावज भी कहा जाता है—सगीतरत्नाकर १०७५

४६. सगीतरत्नाकर १०७६ आदि

४७. जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति—सूत्र ६४.

४८ मूलभेदापेक्षया आतोद्यभेदा एकोनपञ्चाशत्, शेपास्तु एतेपु एव अन्तर्भवन्ति, यथा वंशातोद्यविधाने वालीवेणु-पिरिलिवद्धगा: इति—राजप्रश्नीय सटीक, पृष्ठ १२८

४९. आचाराग -२, ११, ३९१, पृष्ठ ३७९

होता था। सूत्रकृतांग में 'कुक्कयय' और 'वेणुपलाशिय' बासुरियो का वर्णन है, जो दांतो में वाये हाथ से पकड कर वीणा की भाति दाहिने हाथ से बजाई जाती थी।[५०] भगवतीसूत्र की टीका मे[५१], जीवाभिगम[५२], जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति[५३], निशीथसूत्र[५४], आदि मे भी अनेक वाद्यो का उल्लेख है। वृहत्कल्पभाष्य[५५] में भभा, मुकुन्द, मद्दल, कडम्ब, झल्लरी, हुडुक्क, कास्यताल, काहल, तलिमा, वश, पणव, शंख इन बारह वाद्यो का उल्लेख है। रामायण[५६] व महाभारत[५७] मे मड्डूक, पटह, वश, विपञ्ची, मृदग, पणव, डिंडिम, आडंवर और कलशी का उल्लेख है।

भारत के नाट्यशास्त्र मे, ततवाद्यो मे, विपञ्ची और चित्रा को मुख्य और कच्छपी एव घोपका को उनका अंगभूत माना है।[५८] चित्रवीणा सात तन्त्रियो वाली होती थी और वे तंत्रिया अगुलियो से बजाई जाती थी। विपञ्ची में नौ तन्त्रिया होती थी, जिसका वादन 'कोण' अर्थात् वीणावादन के दण्ड के द्वारा किया जाता था।[५९] यद्यपि भारत के कच्छपी और घोषका के स्वरूप के सम्वन्ध मे कुछ भी प्रकाश नही डाला है, किन्तु संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ के अनुसार घोषणा एकतंत्री वाली वीणा थी[६०] और कच्छपी सम्भव है, सात तंत्रियो से कम वाली वीणा हो।

'संगीतदामोदर' मे तत के २९ प्रकार बताये है—अलावणी, ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपञ्ची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवली, जपा, हस्तिका, कुनजिका, कूर्मी, सारंगी, पटिवादिनी, त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलौष्ठी, ढसवी, ऊदंबरी, पिनाकी, नि:शक, शुष्फल, गदावारणहस्त, रुद्र, स्वरमणमल, कपिलास, मधुस्यंदी और घोपा।[६१] आयारचूला[६२] और निशीथ[६३] मे तत के अन्तर्गत वीणा, विपञ्ची, वद्धिसग, तुणय, पवण, तुम्बविणिया, ढंकुण, और जोडय ये आठ वाद्य लिये है।

वितत—चर्म से आबद्ध वाद्य वितत है। गीत और वाद्य के साथ ताल एवं लय के प्रदर्शन करने हेतु इन वाद्यो का प्रयोग होता था। इनमे मृदग, पवण [तन्त्रीयुक्त अवनद्य वाद्य], दर्दुर [कलश के आकार वाला चर्म

---

५०. सूत्रकृताग—४ २. ७.
५१. भगवतीसूत्र टीका—५. ४. पृष्ठ-२१६ अ
५२. जीवाभिगम—३, पृष्ठ-१४५-अ
५३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—२, पृष्ठ-१००-अ आदि
५४. निशीथसूत्र—१७. १३५-१३८
५५. वृहत्कल्पभाष्यपीठिका—२४ वृत्ति
५६. रामायण—५.१०.३८ आदि
५७. महाभारत—७.८२.४
५८. विपंची चैव चित्रा च दारवीष्वंगसंज्ञिते।
कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यंगानि तथैव च॥ —भरतनाट्य-३३। १५
५९. सप्ततन्त्री भवेत् चित्रा विवंची नवतन्त्रिका।
विपंची कोणवाद्या स्याञ्चित्रा चांगुलिवादना॥ —भरतनाटय-२९। ११४
६०. घोषकश्चैकतन्त्रिका। —संगीतरत्नाकर, वाद्याध्याय, पृष्ठ २४८
६१. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र—कल्याण (हिन्दुसंस्कृति अङ्क) पृष्ठ ७२१-७२२ से उद्धृत
६२. आयारचूला—११। २
६३. निसीहज्झयणं—१७। १३८

से मढा हुआ वाद्य], भेरी, डिंडिम, मृदंग आदि है। ये वाद्य मानव की कोमल भावनाओं को उद्दीपित करते है और वीरोचित उत्साह वढ़ाते है। इसलिए धार्मिक उत्सव और युद्ध के प्रसगो पर इनका उपयोग होता था।[८३]

विज्ञो का यह भी मानना है कि मुरज, पटह, ढक्का, विश्वक, दर्पवाद्य, घण, पणव, सरुहा, लाव, जाहव, त्रिवली, करट, कमठ, भेरी, कुडुक्का, हुडुक्का, झनसमुरली, झल्ली, ढुक्कली, दौडी, शान, डमरू, ढमुकी, मड्डू, कुंडली, स्तुंग, दुंदुभी, अग, मर्दल, अणीकस्थ आदि वाद्य भी वितत के अन्तर्गत आते है।[६४]

घन—कास्य आदि धातुओ से वने हुए वाद्य 'घन' कहलाते है। करताल, कास्यवन, नयभटा शुक्तिका, कण्ठिका, पटवाद्य, पट्टाघोष, घर्घर, झंझताल, मंजिर, कर्त्तरी, उष्णकूक, आदि घन के अनेक प्रकार है। निशीथ मे[६५] घन शब्द के अन्तर्गत ताल, कंसताल, लत्तिय, गोहिय, मक्करीय, कच्छभी, महत्ती, सणालिया और वालिया आदि वाद्य घन मे सम्मिलित किए गये है।

सुषिर—फूंक से वजाये जाने वाले वाद्य 'शुषिर' है। भरतमुनि ने शुषिर के अन्तर्गत वंश को अगभूत तथा शख, डिक्किणी आदि वाद्यो को प्रत्यग माना है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्य मे वाद्यो के सम्वन्ध मे विविध रूप से चर्चाये है। हमने संक्षेप मे ही यहाँ कुछ उल्लेख किया है।

नाटक : एक चिन्तन—

सूर्याभ देव ने देव कुमारो और देव कुमारियो को आदेश दिया कि वे नाट्यविधि का प्रदर्शन करें। वे सभी एक साथ नीचे झुके और एक साथ मस्तक ऊपर उठाकर उन्होने अपना नृत्य और गीत प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् वत्तीस प्रकार की नाट्यविधिया प्रदर्शित की—

१ स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानस, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण के दिव्य अभिनय—आचार्य मलयगिरि[६६] के अनुसार इन नाट्यविधियो का उल्लेख चतुर्दश पूर्वो के अन्तर्गत नाट्यविधि नामक प्राभृत मे था, पर वह प्राभृत वर्तमान मे विच्छिन्न हो गया है। महाभारत मे[६७] स्वस्तिक, वर्धमान और नन्द्यावर्त का उल्लेख है। अगुत्तरनिकाय मे नन्द्यावर्त का अर्थ मछली किया है।[६८] भरत के नाट्यशास्त्र मे स्वस्तिक को चतुर्थ और वर्धमानक को तेरहवा नाट्य वताया है। प्रस्तुत अभिनय मे भरत के नाट्शास्त्र मे उल्लिखित आगिक अभिनय के द्वारा नाटक करने वाले, स्वस्तिक आदि आठ मगलो का आकार वनाकर खड़े हो जाते और फिर हाथ आदि के द्वारा उस आकार का प्रदर्शन करते तथा वाचिक अभिनय के द्वारा मंगल शव्द का उच्चारण करते। जिससे दर्शकों के अन्तर्हृदय मे उस मगल के प्रति रतिभाव समुत्पन्न होता।[६९]

२ आवर्त,[७०] प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्यमानव, वर्धमानक, [कधे पर वैठे

---

६४. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र—कल्याण (हिन्दुसंस्कृति अक) पृष्ठ ७२१-७२२

६५ निसीहज्झयण—१७। १३९

६६. राजप्रश्नीय टीका, पृष्ठ १३६

६७. महाभारत—७, ८२, २०

६८. डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, भाग-२, पृष्ठ २९ —मलालसेकर

६९ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७० भ्रमद्भ्रमरिकादानैर्नर्तनम् आवर्तः, तद्विपरीतः प्रत्यावर्तः। —जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१६.

हुए पुरुप का अभिनय] मत्स्याण्डक, मकराण्डक[७१], जार, मार[७२], पुष्पावली, पद्मपत्र, सागरतरंग, वसन्तलता, पद्मलता[७३] के चित्रों का अभिनय ।

३. ईहामृग, वृषभ, घोड़ा, नर, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु, शरभ, चमर, कुंजर,[७४] वनलता, पद्मलता के चित्रो का अभिनय ।

४ एकतोवक्र[७५], द्विधावक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विधाचक्रवाल, चक्रार्ध, चक्रवाल का अभिनय ।

५ चन्द्रवलिका-प्रविभक्ति[७६], सूर्यावलिका-प्रविभक्ति, वलयावलिका-प्रविभक्ति, हंसावलिका-प्रविभक्ति[७७], एकावलिका-प्रविभक्ति, तारावलिका-प्रविभक्ति, मुक्तावलिका-प्रविभक्ति, कनकावलिका-प्रविभक्ति, और रत्नावलिका-प्रविभक्ति का अभिनय ।

६. चन्द्रोद्गमनदर्शन और सूर्योद्गमनदर्शन का अभिनय ।

७. चन्द्रागमदर्शन, सूर्यागमदर्शन का अभिनय ।

८. चन्द्रावरणदर्शन, सूर्यावरणदर्शन का अभिनय ।

९. चन्द्रास्तदर्शन, सूर्यास्तदर्शन का अभिनय ।

१०. चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, गन्धर्वमण्डल[७८] के भावो का अभिनय ।

११. द्रुतविलम्बित अभिनय—इसमे वृषभ और सिह तथा घोड़े और हाथी की ललित गतियो का अभिनय ।

१२. सागर और नगर के आकारो का अभिनय ।

१३ नन्दा और चम्पा का अभिनय ।

१४. मत्स्याड, मकराड, जार और मार की आकृतियो का अभिनय ।

१५. क, ख, ग, घ, ङ की आकृतियो का अभिनय ।

१६. च-वर्ग की आकृतियो का अभिनय ।

१७. ट-वर्ग की आकृतियो का अभिनय ।

---

७१. भरत के नाट्यशास्त्र में मकर का वर्णन है ।

७२. सम्यग्मणिलक्षणवेदिनौ लोकाद्वेदितव्यौ । —जीवाजीवाभिगम टीका, पृष्ठ १८९

७३. भारत के नाट्यशास्त्र मे पद्म ।

७४. भरत के नाट्यशास्त्र में गजदंत ।

७५. एकतो वक्त्रं—नटानां एकस्या दिशि धनुराकारश्रेण्या नर्तनं । द्विधातो वक्रं—द्वयोः परस्पराभिमुखदिशोः धनुराकारश्रेण्या नर्तन । एकतश्चक्रवाल एकस्यां दिशि नटानां मण्डलाकारेण नर्तनं ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७६. चन्द्राणां आवलि श्रेणि. तस्याः प्रविभक्ति.—विच्छित्तिरचनाविशेषस्तदभिनयात्मकं ।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति टीका ५, पृष्ठ ४१४

७७. भरत के नाट्यशास्त्र मे हंसवक्त्र और हसपक्ष ।

७८. नाट्यशास्त्र में २० प्रकार के मण्डल वताये गये है । यहां गन्धर्वनाट्य का उल्लेख है ।

१८. त-वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
१९. प-वर्ग की आकृतियों का अभिनय।
२०. अशोक, आम्र, जंबू, कोशम्ब के पल्लवों का अभिनय।
२१. पद्म, नाग, अशोक, चम्पक, आम्र, वन, वासन्ती, कुन्द, अतिमुक्तक और श्याम लता का अभिनय।
२२. द्रुतनाट्य[79]।
२३. विलंबित नाट्य।
२४. द्रुतविलंबित नाट्य।
२५. अंचित[80]।
२६. रिभित।
२७. अचितरिभित।
२८. आरभट[81]।
२९. भसोल (अथवा भसल)[82]।
३०. आरभटभसोल।
३१. उत्पात, निपात, सकुचित, प्रसारित, रयारइय[83], भ्रांत और संभ्रांत क्रियाओं से सम्वन्धित अभिनय।
३२ महावीर के च्यवन, गर्भसंहरण, जन्म, अभिषेक, वालक्रीडा, यौवनदशा, कामभोगलीला,[84] निष्क्रमण, तपश्चरण, ज्ञानप्राप्ति, तीर्थप्रवर्तन और परिनिर्वाण सम्बन्धी घटनाओं का अभिनय [५५-८४]।

अन्य आगमो मे अनेक स्थलो पर नाट्यविधियों का उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययन की वृत्ति के अनुसार जव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पद पर आसीन हुआ तो उसके सामने एक नट 'मधुकरीगीत' नामक नाट्यविधि प्रदर्शित करता है।[85] सौधर्म इन्द्र के सामने सुधर्मा सभा में 'सौदामिनी' नाटक करने का भी उल्लेख है।[86]

स्थानागसूत्र मे चार प्रकार के नाट्यो का वर्णन है—अंचित, रिभित, आरभट, भसोल।[87] भरत-नाट्यशास्त्र मे सक सौ आठ कर्ण माने हे। कर्ण का अर्थ है—अग और प्रत्यंग की क्रियाओं को एक साथ करना।

---

७९. नाट्यशास्त्र मे द्रुत नामक लय का वर्णन है।
८०. नाट्यशास्त्र मे उल्लेख हे।
८१. नाट्यशास्त्र मे 'आरभटी' एक वृत्ति का नाम वताया गया है।
८२. नाट्यशास्त्र मे भ्रमर।
८३. नाट्यशास्त्र मे रेचित। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे रेचकरेचित पाठ है। आरभटी शैली में नाचने वाले नट मंडलाकार रूप मे रेचक अर्थात् कमर, हाथ, ग्रीवा को मटकाते हुए रास नृत्य करते थे।
वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित, पृष्ठ-३३
८४. इससे महावीर की गृहस्थावस्था का सूचन होता है।
८५. उत्तराध्ययन टीका-१३, पृष्ठ-१९६
८६. उत्तराध्ययन टीका-१८ पृष्ठ-२४० अ.
८७. चउव्विहे णट्टे पण्णत्ते, तं जहा—अंचिए, रिभिए, आरभडे, भसोले — स्थानांग ४। ३४१

अंचित को तेईसवां कर्ण माना है। प्रस्तुत अभिनय मे पैरो को स्वस्तिक के आकार मे रखा जाता है। दाहिने हाथ को कटिहस्त [नृत हस्त की एक मुद्रा] और बाये हाथ को व्यावृत तथा परिवृत कर नाक के पास अचित करने से यह मुद्रा बनती है।[८८] चिन्तातुर व्यक्ति हाथ पर ठोडी टिका कर सिर को नीचा रखता है, वह मुद्रा 'अंचित' है। राजप्रश्नीय में यह पच्चीसवा नाट्यभेद माना गया है। 'रिभित' के सम्वन्ध मे विशेप जानकारी ग्रन्थो मे नही है। "आरभट"— माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उद्भ्रात प्रभृति चेष्टाओ से युक्त तथा वध, बन्धन आदि से उद्धत नाटक 'आरभटी' है।[८९] 'साहित्यदर्पण'[९०] मे इसके चार प्रकार वताये गये है। आरभट को राजप्रश्नीय मे नाट्यभेद का अठारहवॉ प्रकार माना है। "भसोल"—स्थानाग वृत्ति मे इस सम्वन्ध मे कोई विशेष विवरण नही दिया है।[९१] राजप्रश्नीय में इसे उनतीसवाँ प्रकार माना है।

सूर्याभदेव विविध प्रकार के गीत और नाट्य प्रदर्शित करने के पश्चात् भगवान् महावीर को नमस्कार कर स्वस्थान को प्रस्थित हो गया। गणधर गौतम ने सूर्याभदेव के विमान के सम्बन्ध मे जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान् ने विस्तार से विमान का वर्णन सुनाया। साथ ही गौतम ने पुनः यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि यह दिव्य देवऋद्धि सूर्याभदेव को किन शुभ कर्मो के कारण प्राप्त हुई है? प्रभु महावीर ने समाधान करते हुए उसका पूर्वभव सुनाया, जो प्रस्तुत आगम का द्वितीय विभाग है।

केकयार्ध : जनपद

'केकय अर्ध' जनपद था। जैन साहित्य मे साढे पच्चीस आर्य क्षेत्रो की परिगणना की गई है। उन देशों और राजधानियो का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति[९२] प्रज्ञापना[९३] और प्रवचनसारोद्धार[९४] में हुआ है। इन देशो मे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव पैदा हुए। इसलिए इन्हे आर्य जनपद कहा है।[९५] जिन देशो मे तीर्थंकर, प्रभृति महापुरुष पैदा होते है, वह आर्य है।[९६] आर्य और अनार्य जनपदो की व्यवस्था के सम्बन्ध में आवश्यक-चूर्णि[९७], तत्त्वार्थभाष्य[९८], तत्त्वार्थराजवार्तिक[९९] आदि में चर्चाएँ है। हम यहाँ विस्तार से चर्चा मे न जाकर यह बताना चाहेगे कि 'केकयार्ध' की परिगणना अर्धजनपद में की गई थी। यो केकय नाम के दो प्रदेश थे। एक की

---

८८. भारतीय संगीत का इतिहास, पृष्ठ-४२५

८९ आप्टे डिक्शनरी में आरभट शब्द के अन्तर्गत उद्धृत—
मायेन्द्रजालसग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।
सयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता॥

९०. साहित्यदर्पण-४२०।

९१ नाट्यगेयाभिनयसूत्राणि सम्प्रदायाभावान्न विवृतानि। —स्थानांगवृत्ति, पत्र-२७२

९२. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति—१. ३२६३;

९३. प्रज्ञापनासूत्र—१.६६ पृष्ठ १७३;

९४. प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ ४४६

९५. 'इत्थुप्पत्ति जिणाणं, चक्कीण रामकण्हाण।' —प्रज्ञापना-१

९६. 'यत्र तीर्थंकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं, शेषमनार्यम्!' —प्रवचनसारोद्धार, पृष्ठ-४४६

९७. आवश्यकचूर्णि

९८. तत्त्वार्थभाष्य—३।१५

९९. तत्त्वार्थराजवार्तिक—३।३६, पृष्ठ-२००

अवस्थिति खिवाड़ा—नमक की पहाड़ी अथवा शाहपुर झेलम-गुजरात में थी। दूसरे की अवस्थिति श्रावस्ती के उत्तरपूर्व मे नेपाल की तराई मे थी। सम्भवतः यही केकय साढे पच्चीस देशो में अभिहित है। उसकी राजधानी श्वेताम्बिका थी। यह श्रावस्ती और कपिलवस्तु के मध्य मे नेपालगंज के पास मे होनी चाहिए। इस देश के आधे भाग को आर्य देश स्वीकार किया है और आधे भाग को अनार्य देश। आधे भाग में आदिमवासी जाति निवास करती होगी। बौद्ध साहित्य में सेयविया [श्वेताम्बिका] को 'सेतव्या' लिखा है। भगवान् महावीर का भी वहाँ पर विचरण हुआ था। यह स्थान श्रावस्ती [सहेट-महेट] से १७ मील और बलरामपुर से ६ मील की दूरी पर अवस्थित था। इसके उत्तरपूर्व मे 'मृगवन' नामक उद्यान था। इस नगरी का अधिपति राजा प्रदेशी था। दीघ-निकाय में राजा का नाम 'पायासि' दिया गया है। वह राजा अत्यन्त अधार्मिक, प्रचण्ड क्रोधी और महान् तार्किक था। गुरुजनों का सन्मान करना उसने सीखा ही नही था और न वह श्रमणो और ब्राह्मणो पर निष्ठा ही रखता था। उसकी पत्नी का नाम 'सूर्यकान्ता' था और पुत्र का नाम 'सूर्यकान्त' था; जो राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोश, कोष्ठागार और अन्त पुर की पूर्ण निगरानी रखता था।

राजा प्रदेशी के चित्त नामक एक सारथी था। दीघनिकाय मे चित्त के स्थान पर 'खत्ते' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'खत्ते' का पर्यायवाची संस्कृत मे क्षत-क्षता है, जिसका अर्थ सारथी है। वह सारथी साम, दाम, दण्ड, भेद, प्रभृति नीतियों में बहुत ही कुशल था। प्रबल प्रतिभा का धनी होने के कारण समय-समय पर राजा प्रदेशी उससे परामर्श किया करता था।

कुणाला जनपद मे श्रावस्ती नगरी का अधिपति 'जितशत्रु' था। जितशत्रु के सम्बन्ध मे हम पूर्व में लिख चुके है—वह राजा प्रदेशी का आज्ञाकारी सामन्त था। राजा प्रदेशी के आदेश को स्वीकार कर चित्त सारथी उपहार लेकर श्रावस्ती पहुँचता है और वहाँ रहकर शासन की देखभाल भी करता है।

केशी श्रमण : एक चर्चा

उस समय चतुर्दशपूर्वधारी पार्श्वापत्य केशी कुमारश्रमण वहाँ पधारते है। ऐतिहासिक विज्ञो का अभिमत है कि सम्राट् प्रदेशीप्रतिबोधक केशी कुमारश्रमण भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्थ पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त थे, जो प्रथम गणधर थे। उनकी जन्मस्थली 'क्षेमपुरी' थी। उन्होंने 'सम्भूत' मुनि के पास श्रावक-धर्म ग्रहण किया था। माता-पिता के परलोकवासी होने पर उन्हे संसार से विरक्ति हुई। भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम उपदेश को सुनकर दीक्षा ली और पहले गणधर बने। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्तसूरि हुए, जिन्होंने वेदान्त दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' को शास्त्रार्थ मे पराजित कर प्रतिबोध दिया और लोहिय को ५०० शिष्यो के साथ दीक्षित किया। उन नवदीक्षित श्रमणो ने सौराष्ट्र, तैलंग, प्रभृति प्रान्तो मे विचरण कर जैन शासन की प्रबल प्रभावना की। तृतीय पट्टधर आचार्य 'समुद्रसूरि' थे। उन्ही के समय 'विदेशी' नामक महान् प्रभावशाली आचार्य ने उज्जयिनी नगरी के अधिपति महाराज 'जयसेन', महारानी 'अनगसुन्दरी' और राजकुमार 'केशी' को दीक्षित किया।[100]

आगमसाहित्य मे केशीश्रमण का राजप्रश्नीय और उत्तराध्ययन, इन दो आगमो में उल्लेख हुआ। राजप्रश्नीय और उत्तराध्ययन मे उल्लिखित केशी एक ही व्यक्ति रहे हैं या पृथक्-पृथक्? प्रज्ञाचक्षु प. सुखलालजी

---

१००. केशिनामा तद्विनेयः यः प्रदेशीनरेश्वरम्।
प्रबोध्य नास्तिकाद् धर्माद् जैनधर्मेऽध्यरोपयत्॥ —नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध-१३६

सघवी[१०१], डा. जगदीशचन्द्र जैन[१०२], डा० मोहनलाल मेहता[१०३], पं. मुनि नथमलजी[१०४], [युवाचार्य महाप्रज्ञ] आदि अनेक विज्ञो ने राजा प्रदेशी के प्रतिबोधक केशी कुमारश्रमण को और गणधर गौतम के साथ संवाद करने वाले केशी कुमारश्रमण को एक माना है, पर हमारी दृष्टि से दोनो पृथक्-पृथक् व्यक्ति है। क्योकि सम्राट् प्रदेशी को प्रतिबोध देने वाले चतुर्दशपूर्वी और चार ज्ञान के धारक थे।[१०५] गणधर गौतम के साथ चर्चा करने वाले केशीकुमार तीन ज्ञान के धारक थे।[१०६] यदि हम यह मान ले कि जिस समय केशीकुमार ने गणधर गौतम के साथ चर्चा की थी, उस समय वे तीन ज्ञान के धारक थे और बाद में चार ज्ञान के धारक हो गये होगे। पर यह तर्क भी उचित नही है, क्योंकि यदि वे चार ज्ञान के धारक बाद मे बने तो श्रावस्ती मे चित्त सारथी को चातुर्याम का उपदेश किस प्रकार देते ? उनके नाम के साथ 'पार्श्वापत्यीय' विशेषण किस प्रकार लगता ? इसलिए स्पष्ट है कि दोनो पृथक्-पृथक् व्यक्ति है। किन्तु नामसाम्य होने से अनेक मनीषियो को भ्रम हो गया है और उन्होने दोनों को एक माना है।

विविध, उत्सव

केशीकुमार के आगमन के समाचारों ने जन-जन के अन्तर्मानस मे एक अपूर्व उल्लास का संचार किया। वे नदी के प्रवाह की तरह धर्मदेशना श्रवण करने के लिए प्रस्थित हुए। उनके तीव्र कोलाहल को सुनकर चित्त सारथी सोचने लगा—क्या आज इस नगर में कोई इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, गिरि, गुफा, कूप, नदी, सागर, और सरोवर का उत्सव मनाया जा रहा है ? जिससे सभी लोग उत्साह के साथ जा रहे है। यहाँ पर जिन इन्द्र, स्कन्द आदि के उत्सवो का वर्णन है, उसका उल्लेख ज्ञाताधर्म कथा[१०७] व्याख्याप्रज्ञप्ति[१०८] भगवती[१०९] निशीथ[११०] आदि अन्य आगमों में भी आया है। इन्द्र वैदिक साहित्य का बहुत ही लब्धप्रतिष्ठ देव रहा है। वह समस्त देवो में अग्रणी था। प्राचीन युग में 'इन्द्रमह' उत्सव सभी

---

१०१. 'दर्शन और चिन्तन' —भ० पार्श्वनाथ का विरासत लेख, पृ. ५

१०२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग-२, पृष्ठ-५४-५५

१०३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास—भाग-२, पृष्ठ-५४-५५. —डा० मोहनलाल मेहता

१०४ उत्तरज्झयणाणि—भाग-१, पृष्ठ-२०१

१०५. 'पासावच्चिज्जे केसीणाम कुमारसमणे जाइसपण्णे ... ... चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए पंचहि अणगारसएहिं सद्धिं सपरिवुडे।' —रायपसेणइय, पृष्ठ-२८३ पं वेचरदासजी संपादित

१०६. 'तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे।
केशी कुमारसमणे विज्जाचरणपारगे॥
ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते, सावत्थि नगरिमागए॥ —उत्तराध्ययन-२३।२-३

१०७. ज्ञाताधर्मकथा ८, पृष्ठ-१००।

१०८. व्याख्याप्रज्ञप्ति-३.१।

१०९. भगवती-३.१।

११०. निशीयसूत्र-८.१४।

उत्सवों में श्रेष्ठ उत्सव माना जाता था और सभी लोग वड़े उत्साह से इसे मनाते थे।[१११] निशीथसूत्र में इन्द्र, स्कन्द, यक्ष, और भूत नामक महामहों का वर्णन है। जो क्रमश. आषाढ़, आसौज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमाओ को मनाया जाता था। इन्द्रमह आदि उत्सवो मे लोग मनपसन्द खाते-पीते, नाचते, गाते हुए आमोद-प्रमोद मे तल्लीन् रहते थे।[११२] इन उत्सवो में अत्यधिक शोरगुल होता था, जिससे श्रमणो को स्वाध्याय की मनाई की गई थी। जो खाद्य पदार्थ उत्सव के दिन तैयार किया जाता था, यदि वह अवशेप रह जाता तो प्रतिपदा के दिन् उसका उपयोग करते। अपने सम्बन्धियों को भी उस अवसर पर बुलाते।[११३] 'इन्द्रमह' के दिन धोवी से धुले हुए स्वच्छ वस्त्र लोग पहनते थे।[११४]

दूसरा उत्सव 'स्कन्दमह' का था। ब्राह्मण पौराणिक अनुश्रुतियो से अनुसार स्कन्द अथवा कार्तिकेय महादेव के पुत्र और युद्ध के देवता माने गये है। तारक, राक्षस और देवताओं के युद्ध में 'स्कन्द' देवताओ के सेनापति के रूप मे नियुक्त हुए थे। उनका वाहन 'मयूर' था। 'स्कन्दमह' उत्सव आसौज की पूर्णिमा को मनाया जाता था।[११५]

'रुद्रमह' तृतीय उत्सव था। वैदिक दृष्टि से रुद्र ग्यारह थे। वे इन्द्र के साथी शिव और उसके पुत्रो के अनुचर तथा यम के रक्षक थे। व्यवहारभाष्य के अनुसार रुद्र-आयतनो के नीचे ताजी हड्डिया गाड़ी जाती थी।[११६]

'मुकुन्दमह' चतुर्थ उत्सव था। महाभारत में मुकुन्द यानि वलदेव को लागुली-हलधर कहा है।[११७] हल उसका अस्त्र है। भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में गोशालक के साथ 'आवत्त' ग्राम में पधारे थे। वहाँ पर वे वलदेवगृह मे विराजे[११८], जहाँ पर वलदेव को अर्चना होती थी।

'शिवमह' पाचवा उत्सव था। हिन्दू साहित्य के अनुसार शिव भूतो के अधिपति, कामदेव के दहनकर्ता और स्कन्द के पिता थे। उन्होने विप का पान किया तथा आकाश से गिरती हुई गगा को धारण किया। उनके

---

१११. (क) आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ-२१३
(ख) इपिक माइथोलॉजी, स्ट्रासवर्ग १९१५। —डा. हॉपकिन्स ई, पृ १२५
(ग) भास—ए स्टडी, लाहौर-१९४०-पुलासकर ए. डी., पृ. ४४०
(घ) कथासरित्सागर, जिल्द-८, पृष्ठ-१४४-१५३
(ङ) महाभारत-१ ६४.३३
(च) रगस्वामी ऐयगर कमैमोरेशन वॉल्युम, पृष्ठ-४८०
११२. (क) निशीथ-१९।६०३५
(ख) रामायण-४।१६।३६
(ग) डा० हॉपकिन्स ई० डब्ल्यू०, पृष्ठ-१२५
११३ निशीथचूर्णि-१९. ६०६८
११४ आवश्यकचूर्णि-२, पृष्ठ-१८१
११५. आवश्यकचूर्णि पृष्ठ-३१५
११६. व्यवहारभाष्य-७।३१३, पृष्ठ-५५. अ.।
११७. महाभारत—देखिए, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजियन सिस्टम, पृष्ठ-१०२. आदि।
११८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति-४८१
(ख) आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ-२९४

सम्मान मे वैशाख मास में उत्सव मनाया जाता है। भगवान् महावीर के समय शिव की अर्चा प्रचलित थी। ढोढसिवा अचितशिव माना जाता था, उसकी भी उपासना शिव के रूप में ही होती थी।[११९]

'वैश्रमणमह' छठा उत्सव था। वैश्रमण उत्तर दिशा का लोकपाल और समस्त निधियो का अधिपति था। जीवाजीवाभिगम में वैश्रमण को यक्षों का अधिपति और उत्तर दिशा का लोकपाल कहा है।[१२०] हॉपकिन्स ने वैश्रमण को राक्षस और गुह्यको का अधिपति कहा है।[१२१]

'नागमह' सातवा उत्सव था। वैदिक पुराणो के अनुसार सर्पदेवता सामान्य रूप से पृथ्वी के अध.स्थल मे निवास करते है, जहाँ पर शेषनाग अपने सहस्र फन से पृथ्वी के अपार भार को सम्हाले हुए हैं[१२२] जैन दृष्टि से सगर चक्रवर्ती के जण्हुकुमार आदि साठ हजार पुत्र थे। उन्होने दण्डरत्न से अप्टापद पर्वत के चारो ओर एक खाई खोदी और गगा के नीर से उस खाई को भरने लगे। पर खाई का पानी नागभवनो में जाने से नागराज क्रुद्ध हुआ। उसने नयन-विष महासर्प प्रेषित किये, जिन्हे देखते ही सगरपुत्र भस्म हो गये। महाभारत में नाग तक्षक का उल्लेख है, जिसने अपने भयंकर विष से वटवृक्ष को और राजा परीक्षित के भव्य भवन को जलाकर नष्ट कर दिया था। कालियानाग ने यमुना नदी के नीर को विपयुक्त कर दिया था।[१२३] साकेत मे एक महान् नागगृह था।[१२४] ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार रानी पद्मावती ने नागदेव की अर्चा की थी।[१२५] नागकुमार धरणेन्द्र ने भगवान् पार्श्व की जल से छत्र बनाकर रक्षा की थी।[१२६] 'मुचिलिंद' नाम के सर्पराज ने तथागत बुद्ध की हवा और पानी से रक्षा की थी।[१२७] इस तरह नाग की चर्चा अनेक स्थलो पर है और उसके भय से लोग उसकी उपासना करते थे। आज भी भारत मे लोग 'नागपंचमी' का पर्व मनाते है, जो एक प्रकार से नागमह का ही रूप है।

'यक्षमह' आठवां उत्सव था। नगरो और गॉवो के बाहर यक्षायतन होते थे। लोगो की यह धारणा थी कि यक्ष की पूजा करने से कोई भी सक्रामक रोग हमारे ऊपर आक्रमण नही कर सकेगा। यक्ष इन रोगो से हमारी रक्षा करेगा।[१२८] अभिधान-राजेन्द्रकोष मे पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि तेरह यक्षो का उल्लेख हुआ है।[१२९] जो ब्रह्मचारी है, उनको यक्ष, देव, दानव और गन्धर्व नमन करते है।[१३०]

---

११९. (क) बृहत्कल्पभाष्य-५. ५९२८.
(ख) आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ-३१२.

१२०. जीवाजीवाभिगम, ३ पृष्ठ-२८१

१२१. डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.—इपिक माइथॉलौजी, स्ट्रासबर्ग १९१५

१२२. इपिक माइथॉलौजी, स्ट्रासबर्ग १९१५ —डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.

१२३. इण्डियन सर्पेण्ट लोर, लदन-१९२६, फोगल जे.

१२४. (क) अर्थशास्त्र-५.२.९०.४९. पृष्ठ-१७६
(ख) इण्डियन सर्पेण्ट लोर, लंदन-१९२६, फोगल जे.

१२५. ज्ञाताधर्मकथा-८, पृष्ठ-९५

१२६. आचारांगनिर्युक्ति-३३५. टीका, पृष्ठ-३८५.

१२७. इण्डियन सर्पेण्ट लोर, लदन, पृष्ठ-४१,—फोगेल जे०

१२८. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर आव मुंगेर, पृष्ठ-५५

१२९. अभिधानराजेन्द्र कोष—'जक्ख शब्द'

१३०. 'देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
वंभयारि नमंसंति, दुक्करं जे करेति तं'॥ —उत्तराध्ययन-अध्ययन-१६, गा. १६

महाभारत[१३१] में और संयुक्तनिकाय[१३२] में मणिभद्र यक्ष का उल्लेख है। मत्स्यपुराण मे पूर्णभद्र के पुत्र का नाम हरिकेश यक्ष बताया है।[१३३] औपपातिक मे चम्पानगरी के वाहर पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख है।[१३४] आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार भगवान् महावीर जव छद्मस्थ अवस्था में ध्यानमुद्रा में खड़े थे तव 'विभेलक' यक्ष ने उपद्रव से उनकी रक्षा की थी।[१३५] ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार शैलक यक्ष चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन लोगों की सहायता के लिए तत्पर रहता था। उसने चम्पानगरी के जिनपाल और जिनरक्षित की रत्नादेवी से रक्षा की थी।[१३६] सन्तानोत्पति के लिए हरिणैगमैषी देव की उपासना की जाती थी।[१३७] वैदिक ग्रन्थो मे 'हरिणैगमैषी' हरिण के सिर वाला और इन्द्र का सेनापति था। महाभारत में उसको अजामुख वताया है।[१३८] जैन साहित्य की दृष्टि से 'हरिणैगमैषी' सौधर्म देवलोक का देव था, न कि यक्ष। आगम के व्याख्यासाहित्य मे अनेक स्थलो पर यक्ष के उपद्रवो का उल्लेख है। यक्षों से अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए यह उत्सव होता था।[१३९]

'भूतमह' नवम उत्सव था। हिन्दू पुराणो मे भूतों को भयकर प्रकृति के धनी और मांस-भक्षी कहा है। भूतों को वलि देकर प्रसन्न किया जाता था। 'भूतमह' चैत्री पूर्णिमा को मनाया जाता था। महाभारत में तीन प्रकार के भूतों का उल्लेख है—उदासी, प्रतिकूल और दयालु।[१४०] रात्रि मे परिभ्रमण करने वाले भूत 'प्रतिकूल' माने गये है।[१४१] भूतगृह से पीड़ित मानवो की चिकित्सा भूतविद्या के द्वारा की जाती थी। कहा जाता है—'कुत्तियावण' में सभी वस्तुएँ मिलती थी। वहाँ पर भूत भी मिलते थे। राजा प्रद्योत के समय उज्जयिनी मे इस प्रकार की दुकानें थी, जहाँ पर मनोवाञ्छित वस्तुएँ मिलती थी। भृगुकच्छ का एक व्यापारी उज्जयिनी में भूत को खरीदने के लिए आया था। दुकानदार ने उसे वताया—आपको भूत तो मिल जायेगा पर आपने यदि उस भूत को कोई काम न वताया तो वह आपको समाप्त कर देगा। व्यापारी भूत को लेकर वहाँ से प्रस्थित हुआ। वह उसे जो भी कार्य वताता चुटकियो मे सम्पन्न कर देता था। अन्त मे भूत से तंग आकर उस व्यापारी ने एक खम्भा

---

१३१. (क) 'द ज्योग्रफिकल कन्टेन्ट्स ऑव महाभारत' लेखक—डा. सिल्वन लेवी
(ख) महाभारत—२।१०।१०
१३२. संयुक्तनिकाय—१.१०, पृष्ठ-२०९
१३३. मत्स्यपुराण, अध्याय-१८०
१३४. औपपातिक, चम्पावर्णन, पूर्णभद्र चैत्य—पृष्ठ ४ युवाचार्य मधुकर मुनि
१३५. आवश्यकनिर्युक्ति-४८७
१३६. (क) ज्ञातृधर्मकथा ९, पृष्ठ १२७
(ख) तुलना कीजिए—वलाहस्स जातक (१९६), २, पृष्ठ २९२
१३७. अन्तगडदशा-२, पृष्ठ-१५
१३८. द यक्षाज, वाशिंगटन, १९२८, १९३१. ले. कुमारस्वामी ए. के.
१३९. (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २४, पृष्ठ-१२०
(ख) बृहत्कल्पसूत्र-६ १२ तथा भाष्य।
१४०. (क) देखिए—एपिक माइथॉलोजी, स्ट्रासवर्ग १९१५—डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.
(ख) कथासरित्सागर, सोमदेव, सम्पादक—पेंजर, भाग. १, परि. १. १९२४-२८ प्रका. लन्दन
१४१. एपिक माइथॉलोजी, स्ट्रासवर्ग १९१५, पृष्ठ-३६—डा. हॉपकिन्स ई. डब्ल्यू.

गाड़ दिया और भूत से कहा—मैं जब तक तुम्हे नया काम नही बताऊँ जब तक तुम इस खम्भे पर चढ़ते-उतरते रहो।[१४२]

साराश यह है कि इन उत्सवो की बहुत अधिक धूमधाम होती थी, जिससे कोई भी धूमधाम को देख कर प्रायः यही समझा जाता था कि आज कोई इसी तरह का उत्सव होगा। चित्त सारथी के अन्तर्मानस में भी यही जिज्ञासा हुई थी—जनमेदिनी को जाते हुए देखकर। वस्तुतः ये उत्सव किसी धर्म और सम्प्रदायविशेष से सम्बन्धित न होकर लोकजीवन से सम्बन्धित थे। इन उत्सवो के पीछे लौकिक कामनाये थी। जनमानस मे समाया भय भी इन उत्सवों को मनाने के लिए बाध्य करता था।

श्वेताम्बिका में केशी श्रमण

चित्त सारथी को जब यह परिज्ञात हुआ कि केशी कुमारश्रमण पधारे हैं तो वह दर्शन और प्रवचन-श्रवण करने के लिए पहुँचा। प्रवचन को श्रवण कर वह इतना भावविभोर हो गया कि उसने श्रमणोपासक के द्वादश व्रत ग्रहण कर अपनी अनन्त श्रद्धा उनके चरणो मे समर्पित की। जब चित्त सारथी श्वेताम्बिका लौटने लगा तो उसने केशी कुमारश्रमण से अभ्यर्थना की—आप श्वेताम्बिका अवश्य पधारे। पुनः-पुनः निवेदन करने पर केशीश्रमण ने कहा कि वहाँ का राजा प्रदेशी अधार्मिक है, इसलिए मैं वहाँ कैसे आ सकता हूँ?

चित्त ने निवेदन किया—भगवन्! प्रदेशी के अतिरिक्त वहाँ पर अनेक भावुक आत्माएँ रहती हैं, जो अपने बीच आपको पाकर धन्यता अनुभव करेंगी। सम्भव है, आपके पावन प्रवचनों से प्रदेशी के जीवन का भी काया-कल्प हो जाये। केशी कुमारश्रमण को लगा कि चित्त सारथी के तर्क मे वजन है। वहाँ जाने से धर्म की प्रभावना हो सकती है। चित्त सारथी ने केशीकुमार की मुद्रा से समझ लिया कि मेरी प्रार्थना अवश्य ही मूर्त्त रूप लेगी। उसने श्वेताम्बिका पहुँच कर सर्वप्रथम उद्यानपाल को सूचित किया कि केशीश्रमण अपने ५०० शिष्यों के साथ यहाँ पर पधारेगे, अतः उनके ठहरने के लिए योग्य व्यवस्था का ध्यान रखना।

कुछ दिनो के पश्चात् केशीश्रमण श्वेताम्बिका नगरी में पधारे। उद्यानपालक ने उनके ठहरने की समुचित व्यवस्था की और चित्त सारथी को उनके आगमन की सूचना दी। चित्त सारथी समाचार पाकर प्रसन्नता से झूम उठा। वह दर्शन के लिए पहुँचा। उसने निवेदन किया—मैं किसी बहाने से राजा प्रदेशी को यहाँ लाऊँगा। आप डटकर उसका पथ-प्रदर्शन करना।

दूसरे दिन चित्त सारथी अभिनव शिक्षित घोडो की परीक्षा के बहाने राजा प्रदेशी को उद्यान मे ले गया, जहाँ केशी कुमारश्रमण विराज रहे थे। चित्त सारथी ने राजा को बताया—ये चार ज्ञान के धारक कुमारश्रमण केशी है। हम यह पूर्व में ही बता चुके है कि राजा प्रदेशी अक्रियावादी था। उसे आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व पर विश्वास नही था। वह आत्मा और शरीर को एक ही मानता था।

आत्मा : एक अनुचिन्तन

भारतीय दर्शन का विकास और विस्तार आत्मतत्त्व को केन्द्र मानकर ही हुआ है। आत्मवादी दर्शन हो या अनात्मवादी, सभी में आत्मा के विषय में चिन्तन किया है। किन्तु उस चिन्तन में एकरूपता नही है। आत्मा विश्व के समस्त पदार्थो से विलक्षण है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अनुभव तो करता है, किन्तु उसे अभिव्यक्त नही कर

---

१४२. बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति—३. ४२१४-२२.

पाता। यही कारण है कि किसी ने आत्मा को शरीर माना, किसी ने बुद्धि कहा, किसी ने इन्द्रिय और मन को ही आत्मा समझा तो कितनो ने इन सबसे पृथक् आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया। आत्मा के अस्तित्व की संसिद्धि स्वसंवेदन से होती है। इस संसार मे जितने भी प्राणी है, वे अपने आपको सुखी-दुःखी, धनवान्-निर्धन अनुभव करते है। यह अनुभूति चेतन आत्मा को ही होती है, जड़ को नही। आत्मा अमूर्त है। किन्तु अनात्मवादियों की धारणा है कि घट-पट आदि पदार्थ जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देते है, उसी तरह आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई नही देता और जो प्रत्यक्ष से सिद्ध नही है, उसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी नही हो सकती, क्योकि अनुमान का हेतु प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए, जैसे अग्नि का अविनाभावी हेतु धूम प्रत्यक्षगम्य है। हम भोजनशाला मे उसे प्रत्यक्ष देखते है, इसलिए दूसरे स्थान पर भी धुएँ को देखकर स्मरण के बल पर परोक्ष अग्नि को अनुमान से जान लेते है। किन्तु आत्मा का इस प्रकार का कोई अविनाभावी पदार्थ पहले नही देखा। इसीलिए आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध नही है। प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने के कारण चार्वाक दर्शन ने आत्मा को स्वतंत्र द्रव्य नही माना। भूतसमुदाय से विज्ञानघन उत्पन्न होता है और भूतो के नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। परलोक या पुनर्जन्म नही है।

किसी-किसी का यह मन्तव्य था कि शरीर ही आत्मा है। शरीर से भिन्न कोई आत्मा नामक तत्त्व नही है। यदि शरीर से भिन्न आत्मा हो तो मृत्यु के पश्चात् स्वजन और परिजनो के स्नेह से पुन. लौटकर क्यो नही आता? इसलिए इन्द्रियातीत कोई आत्मा नही है, शरीर ही आत्मा है।

इसके उत्तर मे आत्मवादियो का कथन है कि आत्मा है या नही, यह सशय जड़ को नही होता। यह चेतन तत्त्व को ही हो सकता है। यह मेरा शरीर है, इसमे जो 'मेरा' शब्द है वह सिद्ध करता है कि 'मै' शरीर से पृथक् है। जो शरीर से पृथक् है, वह आत्मा है।

जड़ पदार्थ मे किसी का विधान या निषेध करने का सामर्थ्य नही होता। यदि जड शरीर से भिन्न चैतन्यमय आत्मा का अस्तित्व न हो तो आत्मा का निषेध कौन करता है? स्पष्ट है कि आत्मा का निषेध करने वाला स्वय आत्मा ही है।

आचार्य देवसेन ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व ये यह गुण बताये है।[१४३] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव को उपयोगमय, अमूर्त्तिक, कर्त्ता स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, ऊर्ध्वगमनशील कहा है।[१४४] जहाँ पर उपयोग है, वहाँ पर जीवत्व है। उपयोग के अभाव मे जीवत्व रह नही सकता। उपयोग या ज्ञान जीव का ऐसा लक्षण है जो सासारिक और मुक्त सभी मे पाया जाता है।

छान्दोग्योपनिषद् मे एक सुन्दर प्रसग है[१४५]—असुरो मे से 'विरोचन' और देवो मे से 'इन्द्र' ये दोनों आत्मा-स्वरूप को जानने के लिए प्रजापति के पास पहुँचे। प्रजापति ने एक शान्त सरोवर मे उन्हे देखने को कहा और पूछा—क्या देख रहे हो? विरोचन और इन्द्र ने कहा—हम अपना प्रतिबिम्ब देख रहे है। प्रजापति ने बताया—बस यही आत्मा है। विरोचन को समाधान हो गया और वह चल दिया। पर इन्द्र चिन्तन के महासागर मे गहराई मे डुबकी लगाने लगे। इन्द्रिय और शरीर का संचालक मन है, अतः उन्होने पहले मन को आत्मा माना, उसके बाद सोचा—मन भी जब तक प्राण है तभी तक रहता है। प्राण पखेरू उड़ने पर मन का

१४३. आलापपद्धति, प्रथम गुच्छक. पृष्ठ-१६५-६६

१४४ द्रव्यसंग्रह-१।२

१४५. छान्दोग्योपनिषद्-८-८

चिन्तन बन्द हो जाता है, अतः मन नही, प्राण आत्मा है। चिन्तन आगे बढ़ा और उन्हें यह भी मालूम हुआ कि प्राण नाशवान् है, परन्तु आत्मा तो शाश्वत है। शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राण ये भौतिक है, किन्तु आत्मा अभौतिक है।

चार्वाकदर्शन को छोड़कर भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करते है। न्याय और वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है—आत्मा अविनश्वर और नित्य है। इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान उसके विशेष गुण है। आत्मा ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा के धर्म है। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। मीमासा दर्शन का भी यही अभिमत है। वह आत्मा को नित्य और विभु मानता है। चैतन्य को आत्मा का निजगुण नही किन्तु आगन्तुक गुण मानता है। स्वप्नरहित गाढ निद्रा मे तथा मोक्ष की अवस्था मे आत्मा चैतन्य गुणो से रहित होता है। साख्य दर्शन ने पुरुप को नित्य, विभु तथा चैतन्य स्वरूप माना है। सांख्य दृष्टि से चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नही है, वह निजगुण है। पुरुप अकर्त्ता है। वह स्वयं सुख-दु.ख की अनुभूतियो से रहित है। बुद्धि कर्त्ता है और वही सुख-दु ख का अनुभव करती है। बुद्धि का उपादान कारण प्रकृति है। प्रकृति प्रतिपल-प्रतिक्षण क्रियाशील है। इसके विपरीत पुरुप विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द स्वरूप मानता है। साख्य दर्शन ने अनेक पुरुपो (आत्माओ) को माना है, पर ईश्वर को नही माना। जबकि वेदान्त दर्शन केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। बौद्ध दर्शन की दृष्टि से आत्मा ज्ञान, अनुभूति और संकल्पो की प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाली सन्तति है। इसके विपरीत जैन दर्शन का वज्र आघोप है—आत्मा नित्य, अजर और अमर है। ज्ञान आत्मा का मुख्य गुण है। आत्मा स्वभाव से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है।

राजा प्रदेशी जीव और शरीर को एक मानता था। उसकी मान्यता के पीछे अपना अनुभव था। उसने अनेको बार परीक्षण कर देखा—तस्करो और अपराधियो को सन्दूक मे वन्द कर या उनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर जीव को देखने का प्रयत्न किया कि कही आत्मा का दर्शन हो, पर आत्मा अरूपी होने के कारण उसे दिखाई कैसे दे सकता था? जब आत्मा दिखाई नही दिया तो उसे अपना मत सही ज्ञात हुआ कि जीव और शरीर अभिन्न है। किन्तु उसके सभी तर्को का केशी कुमारश्रमण ने इस प्रकार रूपको के माध्यम से निरसन किया कि राजा प्रदेशी को आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् स्वीकार करने पडे।

स्वर्ग और नरक से जीव क्यो नही आकर कहते है कि हमने प्रवल पुण्य की आराधना की जिसके फलस्वरूप मै देव बना हूँ, मैने पापकृत्य किया जिसके कारण मै नरक मे दारुण वेदनाओ को भोग रहा हूँ, इसलिए मैं तुम्हे कहता हू कि तुम पाप से बचो और पुण्य उपार्जन की ओर लगो। यदि स्वर्ग और नरक होता तो मेरे पिता, प्रपितामह वहाँ गये होगे, वे अवश्य ही आकर मुझे चेतावनी देते। प्रत्युत्तर मे केशी श्रमण ने कहा—एक कामुक व्यक्ति हो, जिसने तुम्हारी पत्नी के साथ दुराचार किया हो, और तुमने उसे प्राणदण्ड की सजा दी हो, वह अपने पारिवारिक जनो को सूचना देने के लिए जाना चाहे तो क्या तुम उसे मुक्त करोगे? नही, वैसे ही नरक से जीव मुक्त नही हो पाते, जो आकर तुम्हे सूचना दे और स्वर्ग के जीव इसलिए नही आते कि यहाँ पर गन्दगी है। कल्पना करो अपने शरीर को स्वच्छ वनाकर और सुगन्धित द्रव्यो को लेकर तुम देवालय की ओर जा रहे हो, उस समय शौचालय में वैठा हुआ कोई व्यक्ति तुम्हे वहाँ वुलाए तो क्या तुम उस गन्दे स्थान मे जाना पसन्द करोगे? नही। वैसे ही देव भी यहाँ आना पसन्द नही करते है।

राजा प्रदेशी और केशी का यह सवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। केशी श्रमण की युक्तियाँ इतनी गजव की है कि आज भी पाठको के लिए प्रेरणादायी ही नही अपितु आत्म-स्वरूप को समझने के लिए सर्चलाइट की तरह

उपयोगी है। वास्तविक रूप से देखा जाय तो यही संवाद राजप्रश्नीय की आत्मा है। जिस तरह से राजप्रश्नीय मे प्रश्नोत्तर है, उसी तरह दीघ-निकाय के 'पायासिसुत्त' मे राजा 'पायासि' के प्रश्नोत्तर है। जो इन प्रश्नो से मिलते-जुलते है। यह भी सम्भव है कि जनमानस मे आत्मा और शरीर की अभिन्नता को लेकर जो चिन्तन चल रहा था, उसका प्रतिनिधित्व राजा प्रदेशी ने किया हो और जैन दृष्टि से उसका समाधान केशी श्रमण ने किया हो।

राजा प्रदेशी का जीवन अत्यन्त उग्र रहा है। उसके हाथ रक्त से सने हुए रहते थे पर केशी श्रमण के सान्निध्य ने उसके जीवन मे आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। महारानी के द्वारा जहर देने पर भी उसके मन में किंचित् मात्र भी रोप पैदा नही हुआ। जिस जीवन मे पहले क्रोध की ज्वाला धधक रही थी, वही जीवन क्षमा-सागर के रूप मे परिवर्तित हो गया। इसलिए सत्संग की महिमा और गरिमा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है।

व्याख्या-साहित्य

राजप्रश्नीय कथाप्रधान आगम होने से इस पर न निर्युक्ति लिखी गई, न भाष्य की रचना हुई और न चूर्णि का निर्माण ही हुआ। इस पर सर्वप्रथम आचार्य मलयगिरी ने संस्कृत भाषा मे टीकानिर्माण किया। संस्कृत टीकाकारो मे आचार्य मलयगिरी का स्थान विशिष्ट है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वाचस्पति मिश्र ने षट्दर्शनो पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक भव्य आदर्श उपस्थित किया, वैसे ही जैन साहित्य पर आचार्य मलयगिरी ने प्रांजल भाषा और प्रवाहपूर्ण शैली मे भावपूर्ण टीकाएँ लिखकर एक आदर्श उपस्थित किया। वे दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनमे आगमो के गम्भीर रहस्यो को तर्कपूर्ण शैली से व्यक्त करने की अद्भुत कला और क्षमता थी। आगमप्रभावक मुनि पुण्यविजयजी महाराज के शब्दो मे कहा जाय तो 'व्याख्याकारो मे उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।'

मलयगिरि अपनी वृत्तियों मे सर्वप्रथम मूलसूत्र, गाथा या श्लोक के शब्दार्थ की व्याख्या कर उसके अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते है और उसकी विस्तृत विवेचना करते है, जिससे उसका अभीप्टार्थ पूर्णरूप से स्पप्ट हो जाता हे। विपय से सम्वन्धित अन्य प्रासगिक विपयो पर विचार करना तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत करना आचार्यश्री की अपनी विशेपता है।

टीकाकार ने सर्वप्रथम श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् राजप्रश्नीय पर विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की।[१४६] साथ ही इस वात पर भी प्रकाश डाला हे कि प्रस्तुत आगम का नाम राजप्रश्नीय क्यों रखा गया हे। इस सम्वन्ध मे लिखा है—यह आगम राजा के प्रश्नो से सम्वन्धित हे, इसीलिए इसका नाम 'राजप्रश्नीय' है। टीकाकार ने यह भी वताया हे कि यह आगम सूत्रकृताग का उपाग है। टीका मे, आगम मे आये हुए विशिष्ट शब्दो की मीमासा भी की है। मीमासा मे टीकाकार का गम्भीर पाण्डित्य उजागर हुआ है। टीका का ग्रन्थ-प्रमाण तीन हजार सात सौ श्लोक प्रमाण हे। टीका मे अनेक स्थलो पर जीवाजीवाभिगम के उद्धरण दिये है। कहीं-कही पर पाठभेद का भी निर्देश किया है। देशीनाममाला के उद्धरण भी दिये गये है।[१४७]

---

१४६ प्रणमत वीरजिनेश्वरचरणयुग परमपाटलच्छायाम् ।
अधरीकृतनतवासवमुकुटस्थितरत्नरुचिचक्रम् ॥ १ ॥
राजप्रश्नीयमहं विवृणोमि यथाऽऽगमं गुरुनियोगात् ।
तत्र च शक्तिमशक्तिं गुरवो जानन्ति का चिन्ता ॥ २ ॥

१४७ पटहगा महाला —पटह-भेरीह-भाषया इति देशीनाममालावचनात् । —राजप्रश्नीयवृत्ति, पृष्ठ ३

प्रस्तुत आगम और उसकी टीका मे जड़वाद और आत्मवाद का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। स्थापत्य, सगीत और नाटचकला के अनेक तथ्यो का इसमें समावेश है। लेखन सम्बन्धी सामग्री का भी इसमे निर्देश है। साम, दाम, दण्ड, नीति के अनेक सिद्धान्त इसमे समाविष्ट हैं। वहत्तर कलाये, चार परिपद्, कलाचार्य, शिल्पाचार्य का भी इसमे निरूपण हुआ है। भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित अनेक तथ्य इसमे आये है। राजा प्रदेशी और केशी श्रमण का जो सवाद है, साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सवाद कथा के विकास के लिए एक आदर्श लिए हुए है। इस सवाद मे जो रूपक दिये गये है, वे आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए परम उपयोगी है। इनका उपयोग वाद में अन्य साहित्यकारो ने भी किया है। जैसे—आचार्य हरिभद्र ने समराइच्चकहा मे पिगल' और 'विजयसिह' के सवाद में वन्द कमरे मे से भी स्वरलहरियाँ वाहर आती है, इस रूपक को प्रस्तुत किया है।

राजप्रश्नीयसूत्र का सर्वप्रथम सन् १८८० मे वावू धनपतसिहजी ने मलयगिरी वृत्ति के साथ प्रकाशन किया। उसके बाद सन् १९२५ मे आगमोदय समिति बम्वई और वि० स० १९९४ मे गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय—अहमदाबाद से सटीक प्रकाशित हुआ। वी० स० २४४५ में पूज्य अमोलकऋपिजी म० के द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित सस्करण निकला। सन् १९६५ मे पूज्य श्री घासीलालजी म० ने स्वनिर्मित संस्कृत व्याख्या व हिन्दी-गुजराती अनुवाद के साथ जैन शास्त्रोद्धार समिति—राजकोट से प्रकाशित किया। सन् १९३५ में प० वेचरदास जीवराज दोशी ने इसका गुजराती अनुवाद लाधाजी स्वामी पुस्तकालय—लीमड़ी से और वि० सं० १९९४ मे गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय—अहमदाबाद से प्रकाशित करवाया। इस प्रकार आज दिन तक राजप्रश्नीय के विविध संस्करण अनेक स्थलो से प्रकाशित हुए है।

प्रस्तुत-सम्पादन

राजप्रश्नीय का यह अभिनव संस्करण आगम प्रकाशन समिति ब्यावर [राज०] द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस के संयोजक और प्रधान सम्पादन है—युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म०। वे श्रमणसंघ के भावी आचार्य है। आगमो को अधुनातन भाषा मे प्रकाशित करने का उनका दृढ सकल्प प्रशसनीय है। उन्होने आगमो का कार्य हाथ में लिया पर इतने स्वल्प समय मे प्रश्नव्याकरण को छोडकर शेष दश अंग प्राय· प्रकाशित हो गये है। भगवती का भी प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। अन्य भाग भी प्रकाशन के पथ पर द्रुत गति से कदम वढा रहे है। औपपातिक और नन्दीसूत्र के बाद राजप्रश्नीय का प्रकाशन हो रहा है। अन्य आगम भी प्रेस के चक्के पर चढ चुके है। आगम प्रकाशन का यह कार्य राकेट की गति से हो रहा है। यदि यही गति रही तो एक-डेढ वर्ष मे वत्तीस आगमो का प्रकाशन समिति के द्वारा पूर्ण रूप से सम्पन्न हो जायेगा। वस्तुत यह भगीरथ कार्य युवाचार्य श्री की कीर्ति को अमर बनाने वाला है।

राजप्रश्नीय के इस संस्करण की अपनी मौलिक विशेपता है—शुद्ध मूलपाठ, भावार्थ और सक्षिप्त विवेचन। विपय गम्भीर होने पर भी प्रस्तुतीकरण सरल है। पूर्व के अन्य सस्करणो की अपेक्षा यह सस्करण अधिक आकर्पक है। इसके सम्पादक है—वाणीभूपण पं० श्री रत्नमुनिजी म०, जिन्होने निष्ठा के साथ इसका सम्पादन किया है। साथ ही पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का अथक श्रम भी इसमे जुडा हुआ है। वृद्धावस्था होने पर भी वे जो श्रम कर रहे है, वह श्रम नीव की ईंट के रूप मे आगममाला के साथ जुड़ा हुआ है। यदि वे तन, मन के साथ श्रुतसेवा के इस महायज्ञ मे जुड़े नही होते तो यह कार्य इस रूप में सम्पन्न शायद ही हो पाता।

राजप्रश्नीय पर मै वहुत विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था। आत्मवाद के गम्भीर विपय को विभिन्न दर्शनो के आलोक मे प्रस्तुत करना चाहता था पर मेरा स्वास्थ्य लम्वे समय से अस्वस्थ-सा रहा, जिसके

कारण चाहते हुए भी लिख नही पाया। तथापि संक्षेप मे मैने आगमगत विषयो पर चिन्तन किया है। तुलनात्मक ओर समन्वयात्मक चिन्तन करने की दृष्टि मुझे अपने श्रद्धेय सद्गुरुवर्य, राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी, उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म० से प्राप्त हुई, जो युवाचार्य श्री के स्नेही साथी है। उनकी अपार कृपा से ही मै प्रस्तावना लिखने में सक्षम हो सका हूँ।

वर्त्तमान युग मे मानव भौतिकता की ओर अपने कदम वढा रहा है, जिससे उसे शान्ति के स्थान पर अशान्ति प्राप्त हो रही है। ऐसी विषम स्थिति मे यह आगम अध्यात्मवाद की पवित्र प्रेरणा देगा, उसे शान्ति की सच्ची राह वतायेगा। उसकी तनावपूर्ण स्थिति को समाप्त कर जीवन मे धर्म की सुरिली स्वर-लहरियाँ झंकृत करेगा, इसी आशा के साथ विरमामि।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

धन तेरस
दि० १३ नवम्बर, '८२
जैन स्थानक,
सिंहपोल—जोधपुर (राज०)

□□

विषयानुक्रमणिका

राजप्रश्नीयसूत्रम्

राजप्रश्नीयसूत्रम्

आरम्भ

१—तेणं कालेणं तेणं समएणं आमलकप्पा नामं नयरी होत्था-रिद्ध-त्थिमिय-समिद्धा जाव [पमुइयजण-जावणया आइण्णजणमणूसा हलसयसहस्ससंकिट्ठविगिट्ठलट्ठपण्णत्तसेउसीमा कुक्कुडसंडेयगामपउरा उच्छु-जव-सालिकलिआ गो-महिस-गवेलगप्पभूया आयारवंत-चेइय-जुवइविसिट्ठसन्निविट्ठबहुला उक्कोडिय-गाय-गंठिभेद-तक्कर-खंडरक्खरहिया खेमा निरुवद्दवा सुभिक्खा वीसत्थसुहावासा अणेगकोडि-कोडुंबियाइण्णणिव्वुत्तसुहा नड-नट्ट-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख तूणइल्ल-तुंबवीणिय-अणेगतालाचराणुचरिया आराम-उज्जाण-अगड-तलाग-दीहिय-वाप्पिणगुणोववेया उव्विद्धविउलगंभीरखात-फलिहा चक्क-गय-भुसुंढि-ओरोह-सयग्घि-जमलकवाडघणदुप्पवेसा धणुकुडि-लवंक-पागारपरिक्खित्ता कविसीसयवट्टरइय-संठियविरायमाणा अट्टालय-चरिय-दार-गोपुरतोरण-उन्नय-सुविभत्तरायमग्गा छेयायरियरइयदढफलिहइंदकीला विवणि-वणिच्छित्त-सिप्पि-आइण्णनिव्वुयसुहा सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-पणियापणविविहवसुपरिमंडिया सुरम्मा नरवइ-पविइण्णमहिवइपहा अणेग-वरतुरग-मत्तकुंजर-रहपहकर-सीय-संदमाणीआइण्णजाणजोग्गा विमउलनवनलिणसोभियजला पंडुरवर-भवणपंतिमहिया उत्ताणयनयणपिच्छणिज्जा] पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा।

उस काल और उस समय मे अर्थात् वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे आरे के उत्तरवर्ती समय में आमलकप्पा [आमलकल्पा] नाम की नगरी थी।

वह आमलकल्पा नगरी भवनादि वैभव-विलास से सम्पन्न थी, स्वचक्र और परचक्र के भय से मुक्त—रहित थी। धन-धान्य आदि की समृद्धि से परिपूर्ण थी यावत् (इसके मूल निवासी और जानपद—दूसरे देशवासी जन—यहाँ आनन्द से रहते थे। जन-समूहों से सदा आकीर्ण—भरी रहती थी।

सैकड़ों-हजारो अथवा लाखों हलों से बार-बार जुतने, अच्छी तरह से जुतने के कारण वहाँ के खेतो की मिट्टी भुरभुरी—नरम और मनोज्ञ दिखती थी। उनमे प्राज्ञ-कृषि-विद्या में निपुण व्यक्तियों द्वारा जलसिंचन के लिए नालियां एवं क्यारियां और सीमाबन्दी के लिए मेड़ें बनी हुई थीं।

नगरी के चारो ओर गाव इतने पास-पास बसे हुए थे कि एक गाव के मुर्गों और सांडों की आवाज दूसरे गाव में सुनाई देती थी। वहां के खलिहानों में गन्ने, जौ और धान के ढेर लगे रहते थे, अथवा खेतों में गन्ने जौ और धान की फसलें सदा लहलहाती रहती थीं। गायों भैंसों और भेड़ों के टोले के टोले वहां पलते थे।

आकर्षक आकार-प्रकार वाले कलात्मक चैत्यों और पण्यतरुणियों (गणिकाओं) के बहुत से सुन्दर सन्निवेशों से नगरी शोभायमान थी।

लांच—रिश्वत लेने वालों-घूसखोरों, पाकेटमारों, गुंडों, गांठ काटने वालों—गिरहकटों, उठाईगीरों और जबरन अकर (राहकर, चुंगी, टैक्स) वसूल करने वालों के न होने से नगरी क्षेम

थी, अनिष्ट-उपद्रवों से रहित थी, सुभिक्ष होने से भिक्षुओं को सरलता से भिक्षा मिल जाती थी। लोग यहाँ विश्वासपूर्वक सरलता से रहते थे और दूसरे-दूसरे अनेक सैकड़ों प्रकार के[1] कुटुम्ब परिवारों के भी बसने से नगरी साताकारी समझी जाती थी।

नट—नाटक करने वालों, नर्तक—नृत्य-नाच करने वालों, जल्ल—रस्सी पर चढ़कर कलाबाजियां दिखाने वालों, मल्ल—पहलवानों, मौष्टिक—पंजा लड़ाने वालों, विदूषकों, बहुरूपियों, कथक—कथा कहानी कहने वालों, प्लवक—पानी मे तैरने वालों, उछल-कूद करने वालों, लासक—रास रचने वालों, स्वांग धरने वालों, आख्यायिक—शुभ-अशुभ शकुन बताने वालों, लंख—ऊंचे बांस पर चढ़कर कलाबाजी, खेल करने वालों, मंख—चित्र दिखाकर भीख माँगने वालों, शहनाई बजाने वालों, तम्बूरा बजाने वालों और खड़ताल बजाने वालों से नगरी अनुचरित—व्याप्त थी।

आरामो—लताकुंजों, उद्यानों—बाग बगीचों, कूपों, जलाशयों, दीर्घिकाओं—लम्बे आकार की बावड़ियों और सामान्य बावड़ियों आदि से युक्त होने के कारण वह नगरी रमणीय थी।

सुरक्षा के लिए नगरी को चारों ओर से घेरती हुई गोलाकार खात (खाई) थी, जो विस्तृत, तल न दिखे ऐसी गहरी और ऊपर चौड़ी एवं नीचे संकड़ी थी और खात के बाहर ऊपर नीचे समान रूप से खुदी हुई परिखा थी।

खाई के बाद नगरी को चारों ओर से घेरता हुआ धनुष जैसा वक्राकार परकोटा था। जो चक्र, गदा, भुसुंडि (शस्त्र विशेष) अवरोध, शतघ्नी और मजबूत, सम-युगल किवाड़ों सहित था। जिससे नगरी में शत्रुओं का प्रवेश करना कठिन था। इस परकोटे का ऊपरी भाग गोल-गोल कंगूरों से शोभायमान था और वहां पहरेदारों के लिए ऊंची-ऊंची अटारियां-मीनारे बनी हुई थीं। किले और नगरी के बीच आने-जाने का रास्ता आठ-हाथ चौड़ा था। प्रवेश-द्वार पर तोरण बंधे हुए थे।

नगरी के राजमार्ग सम, सुन्दर और आकर्षक थे और द्वारों में निपुण शिल्पियों द्वारा बनायी गई अर्गलाओं एवं इन्द्रकीलियों वाले किवाड़ लगे हुए थे।

नगरी के बाजार भांति-भांति की क्रय-विक्रय करने योग्य वस्तुओं और व्यापारियों से व्याप्त रहते थे और व्यापार के केन्द्र—मंडी थे। जिससे अलग-अलग कामों के जानकार शिल्पियों, कारीगरों, मजदूरों का वहाँ सुखपूर्वक निर्वाह होता था।

नगरी मे कितने ही मार्ग सिघाड़े जैसे त्रिकोण और कितने ही त्रिकों (तिराहों), चतुष्कों (चौराहों) और चत्वरों (चार से भी अधिक मार्ग) आदि वाले थे और दुकानें बिक्री करने योग्य अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं से भरी रहती थी।

नगरी के राजमार्ग देश-देश के राजाओं-महाराजाओं आदि के आवागमन से और साधारण

---

१. मूल मे इमके लिए 'अणेगकोडि' शब्द है। आचार्य मलयगिरि सूरि ने इसका अर्थ अनेककोटिभिः अनेक कोटिसख्याकैः अर्थात् अनेक कोटि यानि अनेक करोड़ संख्या किया है। परन्तु इस अर्थ की बजाय अनेक कोटि—अनेक प्रकार ऐसा अर्थ करना यहां विशेष उचित लगता है। क्योंकि कोटि शब्द का प्रकार अर्थ जैन [illegible]

मार्ग अनेक सुन्दर अश्वों, मदोन्मत्त हाथियों, रथो, पालखियो, और म्यानो के आने-जाने से व्याप्त रहते थे।

वहां के जलाशय, तालाब आदि विकसित कमल-कमलिनियों से सुशोभित थे और मकान, भवन आदि सफेद मिट्टी-चूने आदि से पुते हुए होने से बड़े सुन्दर दिखते थे। जिससे नगरी की शोभा अनिमेष दृष्टि से देखने लायक थी। वह मन को प्रसन्न करने वाली थी, बार-बार देखने योग्य थी, मनोहर रूप वाली थी और असाधारण सौन्दर्य वाली थी।

विवेचन—यहां औपपातिक सूत्र का आधार लेकर आमलकप्पा नगरी की समृद्धि का वर्णन किया है।

आमलकप्पा—भगवान् महावीर ने जिन नगरों मे चातुर्मास किये हैं, उनमें तथा सूत्रों में बताई गई आर्य देश की राजधानियों में इसका उल्लेख नही है। इसी प्रकार भगवान् के विहार स्थानों मे भी आमलकप्पा के नाम का सकेत नहीं है। किन्तु इस राजप्रश्नीय सूत्र के उल्लेख से इतना कहा जा सकता है कि केवलज्ञानी होने के अनन्तर भगवान् ने जिन स्थानों पर विहार किया, सम्भवतः उनमे इसका नाम हो। किन्तु वर्तमान में वह नगरी कहा है और उसका क्या नाम है ? यह अभी भी अज्ञात है।

हलसय-सहस्स-संकिट्ठ—विशेषण से यह स्पष्ट किया है कि हमारा देश कृषिप्रधान है और कृषि अहिंसक संस्कृति की आधार है। प्राचीन समय में अन्यान्य विषयो की तरह कृषि-विद्या से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य था। जिसमे कृषि से साक्षात सम्बन्ध रखने वाले—भूमिपरीक्षा, भूमि-सुधारविधि, बीजरक्षणविधि, वृक्षों के रोग और उनके निरोध के लिए औषधोपचार आदि अनेक विषयों की विस्तृत चर्चा रहती थी।

आज के कृषक को चाहे कोई मूढ-अज्ञ कह दे, परन्तु उस समय का कृषक मूढ नही किन्तु प्राज्ञ माना जाता था। जो 'पण्णत्तसेउसीमा' पद के उल्लेख से स्पष्ट है।

कुक्कुडसंडेयगामपउरा—व्याकरण महाभाष्य में ग्रामों की समीपता सूचित करने के लिए ग्रामो के विशेषण के रूप में 'कुक्कुटसंपात्याः ग्रामाः' उदाहरण रखा है। उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल के ग्राम अवश्य ही कुक्कुटसंपात्य ही थे अर्थात् एक ग्राम का मुर्गा दूसरे ग्राम में पहुँच सके ऐसा निकटवर्ती गाव। आज भी सुदूर क्षेत्र में कृषिप्रधान गांव इसी प्रकार के कुक्कुट-संपात्य हैं।

जुवइ—अर्थात् पण्य तरुणी। यद्यपि आज इस शब्द का प्रयोग वेश्या के लिये रूढ हो गया है और उसे समाज बहिष्कृत मानकर तिरस्कार, घृणा और हेयदृष्टि से देखना है। लेकिन यह शब्द तत्कालीन समाज की एक संस्थाविशेष का बोध कराता है. जो अपने कला, गुण और रूपसौन्दर्य के कारण राजा द्वारा सम्मानित की जाती थी। गुणी-जन प्रशंसा करते थे। कला के अर्थी कला सीखने के लिये उससे प्रार्थना करते और उसका आदर करते थे। सम्भवतः इसी कारण उसका यहां उल्लेख किया हो।

नगरी में रिश्वतखोर आदि कोई नही था इत्यादि कथन से उसके उज्ज्वल पक्ष का उल्लेख किया गया है। यह साहित्यकारों की प्रणाली प्राचीनकाल से चली आ रही है

मानवस्वभाव को देखते यह पूर्णतः सम्भव जैसा प्रतीत नहीं होता है। तथापि नगरी के इस वर्णन से यह विदित होता है कि इसमें रहने वाले अपेक्षाकृत सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत एवं प्रामाणिक थे।

खायफलिहा—खात और परिखा। वैसे तो ये दोनों शब्द प्रायः समानार्थक माने जाते हैं। लेकिन आचार्य मलयगिरि ने इनका अन्तर स्पष्ट किया है कि खात तो ऊपर चौड़ी और नीचे-नीचे संकड़ी होती जाती है। जबकि परिखा (खाई) ऊपर से लेकर नीचे तक एक जैसी सम—सीधी खुदी हुई होती है। प्राचीनकाल में नगर की रक्षा के लिये परकोटे से पहले खाई होती थी, जिसमें पानी भरा रहता था और खाई से पहले खात। खात में अंगारे अथवा अलसी आदि चिकना धानविशेष भर देते थे कि जिस पर पैर रखते ही मनुष्य तल में चला जाता है। इस प्रकार खात भी नगररक्षा का एक साधन था।

चैत्य-वर्णन

२—तीसे णं आमलकप्पाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए अंबसालवणे नामं चेइए होत्था—[चिरातीते पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे सद्दिए कित्तिए नाए सच्छत्ते सज्झए सघंटे सपडागे पडागाइपडागमंडिए सलोमहत्थे कयवेयड्डिए लाइय-उल्लोइयमाहिए गोसीससरसरत्तचंदणदद्दर-दिण्णपंचंगुलितले उवचियचंदणकलसे चंदणघडसुकय-तोरणपडिदुवारदेसभाए आसित्तोसित्तविउलवट्ट-वग्घारियमल्लदामकलावे पंचवण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए कालागुरु-पवरकुंदुरुक्क तुरुक्क-धूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूए णड-पट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-पवग-कहग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-भुयग-मागहपरिगए बहुजण-जाणवयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे दिव्वे सच्चे सच्चोवाए जागसहस्सभागपडिच्छए, बहुजणो अच्चेइ आगम्म अंबसालवणचेइयं अंबसाल-वणचेइयं।]

२—उस आमलकप्पा नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिक्कोण अर्थात् ईशान दिशा में आम्रशालवन नामक चैत्य था। वह चैत्य बहुत प्राचीन था। पूर्व पुरुष—पूर्वज, बड़े-बूढ़े भी उसको इसी प्रकार का कहते आ रहे थे। पुराना था। प्रसिद्ध था। अथवा अनेक परिवारों की आजीविका का साधन था। विख्यात था। दूर-दूर तक उसकी कीर्ति फैली हुई थी, उसके नाम से सभी परिचित थे। छत्र, ध्वजा, घंटा, पताकाओं से मंडित था। उसके शिखर पर अनेक छोटी बड़ी पताकायें लहराती रहती थीं। मोर पंखों की पीछियों से युक्त था। उसके बीच वेदिका बनी हुई थी। आंगन गोबर से लिपा रहता था और दीवालें सफेद मिट्टी से पुती हुई थी। दीवालों पर गोरोचन और सरस रक्त चंदन के थापे—हाथे लगे हुए थे। जगह-जगह चंदन चर्चित कलश रखे थे। द्वार-द्वार पर चंदन के बने घट रखे थे और अच्छी तरह से बनाये हुए तोरणों के द्वारा दरवाजों के ऊपरी भाग सुशोभित थे। ऊपर से लेकर नीचे तक लटकती हुई गोलाकार में गुंथी हुई मालाओं से दीवालें मडित थी। स्थान-स्थान पर रंग-विरंगे सरस, सुगधित पुष्प-पुञ्जों से अनेक प्रकार के मांडने मड़े हुए थे। धूपदानों में कृष्णागुरु—सुंगंधित काष्ठ-विशेष, श्रेष्ठ कुंदरू, तुरुष्क—लोवान और धूप आदि के जलने से महकता रहता था और उस महक के उड़ने से बड़ा सुहावना लगता था। श्रेष्ठ सुगंध से सुवासित होने के कारण गंध-

वर्तिका जैसा मालूम होता था। नट, नृत्यकार, रस्सी पर खेल दिखाने वालों, मल्ल, पंजा लड़ाने वालों, बहुरूपिया, तैरने वालों, कथा कहानी कहने वालों, रास रचने वालों, शुभ-अशुभ शकुन बताने वालों, ऊंचे बांस पर खेल दिखाने वालों, चित्र दिखाकर भीख मांगने वालों, शहनाई बजाने वालों, तंबूरा बजाने वालों, भोजक—गाने वालों, मागध—चारण, भाट आदि से वह चैत्य सदा व्याप्त—घिरा रहता था। नगरवासियों और दूर-देशवासियों में इसकी प्रसिद्धि—कीर्ति फैली हुई थी जिससे बहुत से लोग वहाँ आहुति—जात देने आते रहते थे। वे उसे दक्षिणा-पात्र—दान देने योग्य स्थान, अर्चनीय, वंदनीय, नमस्करणीय, पूजनीय, सत्कारणीय, सम्माननीय मानते थे तथा कल्याणरूप मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप मानकर विनयपूर्वक उपासना—सेवा करने योग्य मानते थे। दिव्य, सत्य और कामना सफल करने वाला समझते थे। यज्ञ में इसके नाम पर हजारों लोग दान देते थे और बहुत से लोग आकर इस आम्रशालवन चैत्य की जयजयकार करते हुए अर्चना भक्ति करते थे।

विवेचन—आम्रशालवन चैत्य के उपर्युक्त वर्णन से हमें तत्कालीन लोक-संस्कृति एवं जन मानस का ठीक-ठीक परिचय मिलता है कि चैत्य जन सामान्य के लिये मनोरंजन, क्रीड़ा आदि के स्थान होने के साथ-साथ अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु आहुति—जात देने आदि के भी केन्द्र थे।

३—असोगवर पायवे, पुढवी सिलापट्टए, वत्तव्वया उववाइयगमेणं णेया।

३—उस चैत्यवर्ती श्रेष्ठ अशोकवृक्ष और पृथ्वीशिलापट्टक का वर्णन उववाईसूत्र के अनुसार जानना चाहिये।

विवेचन—अशोक वृक्ष के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वृक्षपूजा की परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके पीछे वृक्षों की उपयोगिता, अथवा किसी पुण्य पुरुष का स्मरण अथवा वहम कारण है, यह विचारणीय और शोध का विषय है।

उववाईसूत्र में अशोक वृक्ष, पृथ्वीशिलापट्टक का विस्तार से वर्णन किया है। वही सब वर्णन यहाँ समझ लेने की सूत्र में सूचना की है। उसका सारांश इस प्रकार है—

चैत्य को चारों ओर से घेरे हुए वनखण्ड के बीचोंबीच एक विशाल, ऊंचा दर्शनीय और असाधारण रूपसौन्दर्य-सम्पन्न अशोक वृक्ष था।

वह अशोकवृक्ष भी और दूसरे लकुच, शिरीष, धव, चन्दन, अर्जुन, कदम्ब, अनार, शाल, आदि वृक्षों से घिरा हुआ था। ये सभी वृक्ष मूल, कंद, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रवाल-पत्र, पुष्प, फल और बीज से युक्त थे। इनकी शाखा-प्रशाखायें चारों ओर फैली हुई थीं और पत्र, पल्लव, फल-फूलों आदि से सुशोभित थीं। इन वृक्षों पर मोर, मैना, कोयल, कलहंस, सारस आदि पक्षी इधर उधर उड़ते और मधुर कलरव करते रहते थे। भ्रमर-समूह के गुंजारव से व्याप्त थे।

इस वृक्षघटा की शोभा में विशेष वृद्धि करने के लिये कहीं जाली झरोखों वाली चौकोर बावड़ियां, कहीं गोल बावड़ियां, कहीं पुष्करणियां, आदि बनी हुई थीं।

पद्मबेल, नागरबेल, अशोकबेल, चंपाबेल, माधवीबेल, आदि बेलें इन वृक्षराजि से लिपटी हुई थीं और ये सभी बेलें फूलों के भार से नमी रहती थीं।

उक्त वनराजि से विराजित उस उत्तम अशोकवृक्ष पर रत्नों से बने हुए, देदीप्यमान,

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य-युगल और दर्पण—ये आठ मंगल एवं वज्र रत्न की डांडी वाले, कमल जैसे सुगंधित, काले, नीले, लाल, पीले और सफेद चामर लटके हुए थे।

इस अशोक वृक्ष के नीचे एक चौकोर शिलापट्ट था, जो जामुन, नेत्रगोलक, अंजन वृक्ष, सघन मेघमाला, भ्रमरसमूह, काजल, नील गुटिका, भैंसे के सींग आदि से भी अधिक कृष्ण वर्ण का था। दर्पण की तरह इसमें देखने वालों के प्रतिबिम्ब पड़ते थे। पाट की मोटाई में चारों ओर हीरा, पन्ना, मणि, माणक, मोती आदि से चित्र बने हुए थे और उस का स्पर्श रुई, मक्खन, आक की रुई आदि से भी अधिक सुकोमल था।

इस प्रकार का रत्नमय रम्य शिला पाट उस अशोकवृक्ष के नीचे रखा था।

राजा सेय

४—[तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए।] सेओ राया [होत्था, महया-हिमवंत-महंतमलय-मंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए निरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजण-बहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवय-पुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिन्नविपुलभवण-सयण-आसण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूव-रजए आओग-पओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए पडिपुन्नजंत-कोस-कोट्ठागार-आउहधरे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते, ओहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अप्पडिकंटयं ओहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धियसत्तुं निज्जयसत्तुं पराइयसत्तुं ववगयदुब्भिक्खदोसमारि-भयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरइ।]

४—उस आमलकप्पा नगरी में सेय नामक राजा राज्य करता था। वह मनुष्यों में महा हिमवंत पर्वत, महामलय पर्वत, मंदर (मेरु) पर्वत और महेन्द्र नामक पर्वत आदि के समान श्रेष्ठ—प्रधान था। अत्यन्त विशुद्ध राजकुल एवं वंश में उत्पन्न हुआ था। उसके समस्त अंगोपांग राजचिह्नों और लक्षणों से सुशोभित थे। अनेक लोगों द्वारा वह बहुमान-संमान और सत्कार प्राप्त करता था अथवा अनेक लोगों द्वारा सम्मानपूर्वक पूजा जाता था। शौर्य आदि सर्वगुणों से समृद्ध था। क्षत्रिय था। मूर्धा-भिषिक्त राजा था। माता-पिता के सुसंस्कारों से सम्पन्न था। स्वभाव से दयालु था। कुलमर्यादा का करने वाला और पालक था। क्षेम-कुशल का कर्त्ता और रक्षक होने से मनुष्यों में इन्द्र के समान, जनपद का पिता, जनपद-देश का पालक, जनपद का पुरोहित—मार्गदर्शक, अद्‌भुत कार्यों को करने वाला और मनुष्यों में श्रेष्ठ था। पुरुषार्थों का साधक होने से पुरुषों में प्रधान, निर्भय एवं बलिष्ठ होने से पुरुषों में सिंह, शूरवीर होने से पुरुषों में व्याघ्र, सफल कोप वाला होने से पुरुषों में आशी-विष सर्प, दयालु, कोमल हृदय होने से पुरुषों में कमल, शत्रुओं का नाश करने से पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान था। समृद्ध, प्रभावशाली अथवा अभिमानियों का मानमर्दक, विख्यात-प्रख्यात था। विस्तीर्ण और विपुल भवन, शैया, आसन, यान, वाहन का स्वामी था। उसके कोष और कोठार सदा धन, स्वर्ण, चांदी, धान्य से भरे रहते थे। अर्थोपार्जन के उपायों का जानकार था। उसके

यहाँ भोजन करने के बाद शेष रहा भोजन भिखारियों, याचकों में बाँट दिया जाता था। सेवा के लिये बहुत से दास-दासी उनके पास रहते थे। उसकी गोशाला में गायों, भैंसों एवं बकरियों की प्रचुरता थी। उसके यंत्रागार, कोष, कोठार और शस्त्रागार पूरी तरह से भरे रहते थे। वह शारीरिक और मानसिक बल से बलवान् था अथवा उसकी सेना बल-विक्रमशाली थी। दुर्बलों का मित्र-हितैषी था।

प्रजा को पीड़ित करने वाले कांटे रूप चोर और डाकू आदि न होने से उसका राज्य प्रजा-कंटकों से रहित था। देश में उपद्रव, दंगा-फिसाद करने वालों को दंड देकर शांत कर दिये जाने से मर्दितकंटक था। गुंडों बदमाशों को देश-निकाला दे देने से उद्धृतकंटक था। विरोधियों का विनाश कर देने से अपहृतकंटक था। इसी प्रकार उसका राज्य अपहतशत्रु था, निहतशत्रु था, मथितशत्रु था, उद्धृतशत्रु था, निर्जितशत्रु था, पराजितशत्रु था एवं दुर्भिक्ष दुर्गुण दुर्व्यसन, महामारी से रहित था। शत्रुभय से मुक्त था। जिससे वह क्षेम-कुशल, सुभिक्ष युक्त तथा विघ्नों एव राजकुमार आदि राजपुरुषों द्वारा कृत विडम्बनाओं--राज्यविरुद्ध कार्यों से रहित था। ऐसे राज्य का प्रशासन करते हुए राजा अपना समय बिताता था।

विवेचन—राजा सेय का विशेष वृत्तान्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। स्थानांगसूत्र के आठवें ठाणा में श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षित आठ राजाओं में एक नाम 'सेय' भी है किन्तु यह निश्चित्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह 'सेय' राजप्रश्नीयसूत्र गत राजा है अथवा अन्य कोई। टीकाकार अभयदेवसूरि ने इसी सेय को आठ दीक्षित राजाओं में माना है।

सेय के संस्कृत रूपान्तर श्वेत और श्रेय दोनों होते है। आचार्य मलयगिरिसूरि ने अपनी टीका में 'श्वेत' का प्रयोग किया है।

रानी धारिणी

५—[तस्स णं सेयरण्णो] धारिणी [नामं] देवी [होत्था सुकुमालपाणिपादा अहीण-पडिपुण्ण-पंचिदियसरीरा लक्खण-वंजण-गुणोववेया माण-उम्माण-पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंग-सुंदरंगी ससि-सोमागार-कंतपियदंसणा सुरूवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलिवलियमज्झा, कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइरयणियर-विमलपडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा संगयगय-हसिय-भाणिय-चिट्ठिय-विलास-ललिय-संलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदर-थण-जघण-वयण-कर-चरण-नयण-लायण्ण-विलासकलिया सेएण रण्णा सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरइ]।

५--(उस सेय राजा की) धारिणी (नाम की) देवी--पटरानी (थी)। (वह सुकुमाल—अतिकोमल हाथ पैर वाली थी। शरीर और पांचों इन्द्रियां अहीन शुभ लक्षणों से संपन्न एवं प्रमाणयुक्त थी। वह शंख, चक्र आदि शुभ लक्षणों तथा तिल, मसा आदि व्यंजनों और सौभाग्य आदि स्त्रियोचित गुणों से युक्त थी, मान-माप उन्मान-तोल और प्रमाण-नाप से परिपूर्ण—बराबर थी, सभी अंग परिपूर्ण और सुगठित होने से सर्वांग सुन्दरी थी. चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाली, कमनीय, प्रियदर्शना और सुरूपवती थी। उसका मध्य भाग—कटि भाग मुट्ठी में आ जाये, इतना पतला और प्रशस्त था, त्रिवली से युक्त था और उसमें बल पड़े हुए थे। उसकी गंडलेखा—कपोलों पर बनाई गई पत्रलेखा

स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य-युगल और दर्पण—ये आठ मंगल एवं वज्र रत्न की डांडी वाले, कमल जैसे सुगंधित, काले, नीले, लाल, पीले और सफेद चामर लटके हुए थे।

इस अशोक वृक्ष के नीचे एक चौकोर शिलापट्ट था, जो जामुन, नेत्रगोलक, अंजन वृक्ष, सघन मेघमाला, भ्रमरसमूह, काजल, नील गुटिका, भैंसे के सींग आदि से भी अधिक कृष्ण वर्ण का था। दर्पण की तरह इसमें देखने वालों के प्रतिबिम्ब पड़ते थे। पाट की मोटाई में चारों ओर हीरा, पन्ना, मणि, माणक, मोती आदि से चित्र बने हुए थे और उस का स्पर्श रुई, मक्खन, आक की रुई आदि से भी अधिक सुकोमल था।

इस प्रकार का रत्नमय रम्य शिला पाट उस अशोकवृक्ष के नीचे रखा था।

राजा सेय

४—[तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए।] सेओ राया [होत्था, महया-हिमवंत-महंतमलय-मंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए निरंतरं रायलक्खणविराइयंगमंगे बहुजण-बहुमाणपूइए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवय-पुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिन्नविपुलभवण-सयण-आसण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूव-रजए आओग-पओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूए पडिपुन्नजंत-कोस-कोट्ठागार-आउहधरे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते, ओहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अप्पडिकंटयं ओहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धियसत्तुं निज्जयसत्तुं पराइयसत्तुं ववगयदुब्भिक्खदोसमारि-भयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरइ।]

४—उस आमलकप्पा नगरी में सेय नामक राजा राज्य करता था। वह मनुष्यों में महा हिमवंत पर्वत, महामलय पर्वत, मंदर (मेरु) पर्वत और महेन्द्र नामक पर्वत आदि के समान श्रेष्ठ—प्रधान था। अत्यन्त विशुद्ध राजकुल एवं वंश में उत्पन्न हुआ था। उसके समस्त अंगोपांग राजचिह्नों और लक्षणों से सुशोभित थे। अनेक लोगो द्वारा वह बहुमान-संमान और सत्कार प्राप्त करता था अथवा अनेक लोगों द्वारा सम्मानपूर्वक पूजा जाता था। शौर्य आदि सर्वगुणों से समृद्ध था। क्षत्रिय था। मूर्धाभिषिक्त राजा था। माता-पिता के सुसंस्कारो से सम्पन्न था। स्वभाव से दयालु था। कुलमर्यादा का करने वाला और पालक था। क्षेम-कुशल का कर्त्ता और रक्षक होने से मनुष्यों में इन्द्र के समान, जनपद का पिता, जनपद-देश का पालक, जनपद का पुरोहित—मार्गदर्शक, अद्‌भुत कार्यो को करने वाला और मनुष्यों में श्रेष्ठ था। पुरुषार्थो का साधक होने से पुरुषों में प्रधान, निर्भय एवं बलिष्ठ होने से पुरुषों में सिंह, शूरवीर होने से पुरुषों में व्याघ्र, सफल कोप वाला होने से पुरुषों में आशीविष सर्प, दयालु, कोमल हृदय होने से पुरुषो में कमल, शत्रुओं का नाश करने से पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान था। समृद्ध, प्रभावशाली अथवा अभिमानियों का मानमर्दक, विख्यात-प्रख्यात था। विस्तीर्ण और विपुल भवन, शैया, आसन, यान, वाहन का स्वामी था। उसके कोष और कोठार सदा धन, स्वर्ण, चांदी, धान्य से भरे रहते थे। अर्थोपार्जन के उपायो का जानकार था। उसके

यहाँ भोजन करने के बाद शेष रहा भोजन भिखारियों, याचकों में बाँट दिया जाता था। सेवा के लिये बहुत से दास-दासी उनके पास रहते थे। उसकी गोशाला में गायों, भैंसों एवं बकरियों की प्रचुरता थी। उसके यंत्रागार, कोष, कोठार और शस्त्रागार पूरी तरह से भरे रहते थे। वह शारीरिक और मानसिक बल से बलवान् था अथवा उसकी सेना बल-विक्रमशाली थी। दुर्बलों का मित्र-हितैषी था।

प्रजा को पीड़ित करने वाले कांटे रूप चोर और डाकू आदि न होने से उसका राज्य प्रजा-कंटकों से रहित था। देश में उपद्रव, दंगा-फिसाद करने वालों को दड देकर शांत कर दिये जाने से मर्दितकंटक था। गुंडों बदमाशों को देश-निकाला दे देने से उद्धृतकंटक था। विरोधियों का विनाश कर देने से अपहृतकंटक था। इसी प्रकार उसका राज्य अपहतशत्रु था, निहतशत्रु था, मथितशत्रु था, उद्धृतशत्रु था, निर्जितशत्रु था, पराजितशत्रु था एवं दुर्भिक्ष दुर्गुण दुर्व्यसन, महामारी से रहित था। शत्रुभय से मुक्त था। जिससे वह क्षेम-कुशल, सुभिक्ष युक्त तथा विघ्नों एवं राजकुमार आदि राजपुरुषों द्वारा कृत विडम्बनाओं--राज्यविरुद्ध कार्यो से रहित था। ऐसे राज्य का प्रशासन करते हुए राजा अपना समय बिताता था।

विवेचन—राजा सेय का विशेष वृत्तान्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। स्थानांगसूत्र के आठवे ठाणा में श्रमण भगवान् महावीर के पास दीक्षित आठ राजाओं में एक नाम 'सेय' भी है किन्तु यह निश्चित्त रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह 'सेय' राजप्रश्नीयसूत्र गत राजा है अथवा अन्य कोई। टीकाकार अभयदेवसूरि ने इसी सेय को आठ दीक्षित राजाओं में माना है।

सेय के संस्कृत रूपान्तर श्वेत और श्रेय दोनों होते है। आचार्य मलयगिरिसूरि ने अपनी टीका में 'श्वेत' का प्रयोग किया है।

रानी धारिणी

५—[तस्स णं सेयरण्णो] धारिणी [नामं] देवी [होत्था सुकुमालपाणिपादा अहीण-पडिपुण्ण-पंचिदियसरीरा लक्खण-वंजण-गुणोववेया माण-उम्माण-पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंग-सुंदरंगी ससि-सोमागार-कंतपियदंसणा सुरूवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलिवलियमज्झा, कुंडलुल्लिहियगंडलेहा कोमुइरयणियर-विमलपडिपुण्णसोमवयणा सिंगारागारचारुवेसा संगयगय-हसिय-भाणिय-चिट्ठिय-विलास-ललिय-संलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदर-थण-जघण-वयण-कर-चरण-नयण-लायण्ण-विलासकलिया सेएण रण्णा सद्धि अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरइ]।

५—(उस सेय राजा की) धारिणी (नाम की) देवी—पटरानी (थी)। (वह सुकुमाल—अतिकोमल हाथ पैर वाली थी। शरीर और पांचों इन्द्रियां अहीन शुभ लक्षणों से संपन्न एवं प्रमाणयुक्त थीं। वह शंख, चक्र आदि शुभ लक्षणों तथा तिल, मसा आदि व्यंजनों और सौभाग्य आदि स्त्रियोचित गुणों से युक्त थी, मान-माप उन्मान-तोल और प्रमाण-नाप से परिपूर्ण—बराबर थी, सभी अंग परिपूर्ण और सुगठित होने से सर्वांग सुन्दरी थी, चन्द्रमा के समान सौम्य आकृति वाली, कमनीय, प्रियदर्शना और सुरूपवती थी। उसका मध्य भाग—कटि भाग मुट्ठी में आ जाये, इतना पतला और प्रशस्त था, त्रिवली से युक्त था और उसमें बल पड़े हुए थे। उसकी गंडलेखा—कपोलों पर बनाई हुए पत्रलेखा

कुंडलों से घर्षित होती रहती थी। उसका मुखमंडल चंद्रिका के समान निर्मल और सौम्य था, अथवा कार्तिकी पूर्णिमा के चन्द्र के समान विमल परिपूर्ण और सौम्य था। उसका सुन्दर वेष मानो शृंगार रस का स्थान था। उसकी चाल, हासपरिहास, संलाप-बोलचाल, भाषण, शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत थीं। वह पारस्परिक वार्तालाप करने में निपुण थी, कुशल थी, उचित आदर, सेवा-शुश्रूषा आदि करने में कुशल थी। उसके सुन्दर जघन—कमर से नीचे का भाग, स्तन, मुख, हाथ, पैर, लावण्य-विलास से युक्त थे। और दर्शकों के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाली, दर्शनीय रूपवती और अतीव रूपवती थी। और वह सेय राजा में अनुरक्ता, अविरिक्ता होकर पाँचों इन्द्रियों के इष्ट शब्द, स्पर्श, रस, वर्ण, एवं गंध रूप मनुष्योचित काम-भोगों का अनुभव करती हुई समय व्यतीत करती थी।

विवेचन—पानी से लबालब भरे हुए कुंड में पुरुष या स्त्री के बिठाने पर एक द्रोण (प्राचीन नाप) प्रमाण पानी छलककर बाहर निकले तो वह बैठने वाली स्त्री अथवा पुरुष मान-संगत कहलाता है। तराजू पर तोलने पर यदि अर्धभार प्रमाण तुले तो वह उन्मान-संगत और अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल ऊंचाई हो तो वह प्रमाण-संगत कहलाता है।

जैन परिभाषा के अनुसार शब्द और रूप ये दो काम में और गंध, रस एव स्पर्श भोग में ग्रहण किये जाते है। दोनों का समावेश करने के लिये 'काम भोग' शब्द का उपयोग किया जाता है।

भगवान् का पदार्पण और राजा का दर्शनार्थ गमन

६—सामी समोसढे। परिसा निग्गया। राया जाव [नयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे हिययमाला-सहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे-अभिणंदिज्जमाणे, मणोरहमालासहस्सेहि विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, कंति-दिव्य-सोहग्ग-गुणेहि पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे, बहूणं नरनारीसहस्साणं दाहिणहत्थेण अंजलिमालासहस्साइं-पडिच्छमाणे-पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे-पडिबुज्झमाणे, भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छमाणे आमलकप्पाए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छिइ, निग्गच्छता जेणेव अंबसालवणचेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामंते छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ, ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता अवहट्टु पंच रायकउहाइं तंजहा—खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीयणं; जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छिता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ, तंजहा—

(१) सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणयाए,
(२) अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणयाए,
(३) एगसाडियं उत्तरासंगकरणेणं,
(४) चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं,
(५) मणसो एगत्तभावकरणेणं।

समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणयाए] पज्जुवासइ।

६—आमलकल्पा के बाहर स्थित आम्रशालवन चैत्य में स्वामी-श्रमण भगवान् महावीर पधारे। वंदना करने परिषद् निकली। राजा भी यावत् (हजारों दर्शकों की सहस्रों नेत्रमालाओं द्वारा बार-बार निरीक्षित होता हुआ, हजारों मनुष्यों के हृदयसहस्रों द्वारा पुनः पुनः अभिनंदित होता हुआ, हजारों जनों की मनोरथों रूपी मालासहस्रों द्वारा स्पर्शित-स्पृष्ट होता हुआ, सुन्दर और उदार वचनावली-सहस्रों द्वारा बारंबार स्तुत—स्तुतिगान किया जाता हुआ, शारीरिक ओज—सौन्दर्य, लावण्य-दिव्य सौभाग्य और गुणों के कारण जनपद के द्वारा प्रार्थित होता हुआ, हजारों नर-नारियों की अंजलि रूप मालासहस्रों को दाहिने हाथ से स्वीकार करता हुआ, मंजुल मधुर स्वरों द्वारा किये गये जय-जय घोषों से प्रतिबोधित-संबोधित होता हुआ एवं हजारों भवन-पंक्तियों को पार करता हुआ आमलकल्पा नगरी के बीचोंबीच से होकर निकला, निकल कर आम्रशालवन चैत्य की ओर चला और श्रमण भगवान् महावीर से न अतिदूर और न अति समीप किन्तु यथायोग्य स्थान से तीर्थंकरों के अतिशय रूप छत्र-पर-छत्र और पताकाओं-पर-पताका आदि को देखा, देखकर आभिषेक्य हस्तिरत्न को रुकवाया। रोक कर आभिषेक्य हस्तिरत्न से नीचे उतरा। उतर कर (१) खड्ग-तलवार, (२) छत्र, (३) मुकुट, (४) उपानह—जूता और (५) चामर इन पाँच राजचिह्नों का परित्याग किया, परित्याग करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आया। आकर पाँच अभिगम करके श्रमण भगवान् महावीर के सन्मुख पहुँचा। वे पाँच अभिगम इस प्रकार हैं—

(१) पुष्प माला आदि सचित्त द्रव्यों का त्याग,
(२) वस्त्र आदि अचित्त द्रव्यों का अत्याग—त्याग नहीं करना,
(३) एक शाटिका (अखंड वस्त्र—दुपट्टा) का उत्तरासंग,
(४) भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही अंजलि करना—दोनों हाथ जोड़ना,
(५) मन को एकाग्र करना।

इन पाँचों अभिगमपूर्वक सम्मुख आकर श्रमण भगवान् महावीर की आदक्षिण—दक्षिण दिशा से आरंभ करके तीन वार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदन नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार करके त्रिविध—तीन प्रकार की पर्युपासना से प्रभु की उपासना करने लगा।)

विवेचन—'तिविहाए पज्जुवासणयाए पज्जुवासइ' तीन प्रकार की पर्युपासना से उपासना करने लगा। सेवा, भक्ति करने को पर्युपासना कहते है। सेवाभक्ति श्रद्धा प्रधान है और श्रद्धा की अभिव्यक्ति के तीन साधन है—मन, वचन और काय। अतएव श्रद्धा की परम स्थिति को प्राप्त करने के लिए इन तीनों में तादात्म्य—एकरूपता होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से सूत्र में 'तिविहाए' तीनों प्रकार से उपासना करने का उल्लेख किया है। कायिक अंग प्रत्यंगो की सम्मान प्रकट करने वाली चेष्टा कायिक उपासना, वक्ता के कथन का समर्थन करना वाचिक उपासना तथा मन को केन्द्रित करके कथन को सुनना और अनुमोदन करते हुए स्वीकार करना मानसिक उपासना कहलाती है।

सूर्याभदेव द्वारा जम्बूद्वीप दर्शन

७—तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरियाभे देवे सोहम्मे कप्पे सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए सूरियाभंसि सिंहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं, चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं, तिहिं परिसाहिं, सत्तहिं अणिएहिं, सत्तहिं अणियाहिवईहिं, सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं, अन्नेहिं

बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाहय नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइंगपडुप्पवादियरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुञ्जमाणे विहरति।

इमं च णं केवलकप्पं जम्बुद्दीवं दीवं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणे-आभोएमाणे पासति।

७—उस काल में अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के विहरण काल मे और उस समय मे अर्थात् भगवान् के आमलकल्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में विराजने के समय में सूर्याभ नामक देव सौधर्म स्वर्ग में सूर्याभ नामक विमान की सुधर्मा सभा में सूर्याभ सिंहासन पर बैठकर चार हजार सामानिक देवों, सपरिवार चार अग्रमहिषियो, तीन परिषदाओं, सात अनीकों—सेनाओ, सात अनीकाधिपतियों, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा और दूसरे बहुत से सूर्याभ विमानवासी वैमानिक देव-देवियों सहित अव्याहत निरन्तर नाटच एवं निपुण पुरुषों द्वारा वादित—बजाये जा रहे तंत्री—वीणा हस्तताल, कांस्यताल और अन्यान्य वादित्रों—वाद्यों तथा घनमृदंग—मेघ के समान ध्वनि करने वाले मृदंगों की ध्वनि (आवाज) के साथ दिव्य भोगने योग्य भोगों को भोगता हुआ विचर रहा था। उस समय उसने अपने विपुल अवधिज्ञानोपयोग द्वारा निरखते हुए इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीपनामक द्वीप को देखा।

विवेचन—सूत्र में सूर्याभदेव के सभावैभव का वर्णन है। सभा में उपस्थित देव-देवियों का निर्देश इन शब्दों मे किया है—

सामानिक देव—आज्ञा और ऐश्वर्य के अतिरिक्त ये सभी देव विमानाधिपति देव के समान द्युति, वैभव आदि से संपन्न होते हैं और इनको भाई आदि के तुल्य आदर-सम्मान योग्य माना जाता है।

अग्रमहिषी—कृताभिषेका राजा की पत्नी महिषी और शेष अकृताभिषेका अन्य स्त्रियां भोगिनी कहलाती हैं (या कृताभिषेका नृपस्त्री सा महिषी, अन्या अकृताभिषेका नृपस्त्रियो भोगिन्य इत्युच्यन्ते—अमरकोश द्वितीय कांड, मनुष्यवर्ग, श्लोक ५)। अपनी परिवारभूता अन्य सभी पत्नियों मे उसकी अग्रता—प्रधानता, मुख्यता—बताने के लिये महिषी के साथ अग्र विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

तीन परिषदा—सभी विमानाधिपति देवों की—१. अभ्यन्तर, २. मध्यम और ३. बाह्य ये तीन परिषदायें होती है। जिनसे अपने अंतरंग, गुप्त गूढ़ रहस्यों के लिये विचार किया जाता है, ऐसे परमविश्वसनीय समवयस्क मित्र समुदाय को अभ्यन्तर परिषद, अभ्यन्तर परिषद में चर्चित एव निर्णीत विचारों के लिये जिससे सम्मति, राय ली जाती है, उसे मध्यमपरिषद और अभ्यन्तर तथा मध्यम परिषद द्वारा विचारित, निर्णीत एवं सम्मत कार्य को क्रियान्वित करने का दायित्व जिसे दिया जाता है, उसे बाह्यपरिषद कहते हैं।

सात सेनायें—अश्व, गज, रथ, पदाति, वृषभ (बैल), गंधर्व और नाटच ये सेनाओं के सात प्रकार है। इनमे से आदि की पांच का युद्धार्थ और अंतिम दो का आमोद-प्रमोद के लिये उपयोग किया जाता है और ये अपने अपने अधिपति के नेतृत्व में कार्य संपादित करने में सक्षम होने से इनके सात सेनापति होते हैं।

आत्मरक्षक देव—शिरस्त्राण जैसे प्राणरक्षक होता है, उसी प्रकार ये देव भी अस्त्र-शस्त्रों

इन्द्र आदि देवों को किसी का भय नहीं होता कि आत्मरक्षकों की आवश्यकता हो, मगर यह भी इन्द्र का एक वैभव है।

सूर्याभदेव द्वारा भगवान् की स्तुति

८—तत्थ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नगरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठ चित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए विकसियवरकमलणयणे पयलियवरकडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुंडलहारविरायंतरइयवच्छे, पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरियं चवलं सुरवरे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहित्ता पाउयाओ ओमुयइ, ओमुयइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेति, करित्ता तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ, अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं जाणुं धरणि-तलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निमेइ, निमित्ता ईसिं पच्चुन्नमइ पच्चुन्नमित्ता कडय-तुडियथंभियभुयाओ साहरइ साहरित्ता करयलपरिग्गहियं दसणहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

८—उस समय अर्थात् विपुल अवधि ज्ञानोपयोग द्वारा जम्बूद्वीप के दर्शन मे प्रवर्तमान होने के समय उसने जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में यथा प्रतिरूप अवग्रह ग्रहण कर—साधु के लिये उचित स्थान की याचना करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देखा। देखकर वह हर्षित और अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ, उसका चित्त आनंदित हो उठा। मन में प्रीति उत्पन्न हुई, अतीव सौमनस्य को प्राप्त हुआ, हर्षातिरेक से उसका हृदय—वक्षस्थल फूल गया, नेत्र और मुख विकसित श्रेष्ठ कमल जैसे हो गये। अपार हर्ष के कारण पहने हुए श्रेष्ठ कटक, त्रुटित, केयूर, मुकुट और कुण्डल चंचल हो उठे, वक्षस्थल हार से चमचमाने लगा, पैरों तक लटकते प्रालब—आभूषण विशेष—झूमके विशेष चचल हो उठे और उत्सुकता, तीव्र अभिलाषा से प्रेरित हो वह देवश्रेष्ठ सूर्याभ देव शीघ्र ही सिंहासन से उठा। उठकर पादपीठ पर पैर रखकर नीचे उतरा। नीचे उतर कर पादुकायें उतारी। पादुकाये उतार कर एकशाटिक उत्तरासग किया। उत्तरासग करके तीर्थंकर के अभिमुख सात-आठ डग चला, अभिमुख चलकर बांया घुटना ऊँचा रखा और दाहिने घुटने को नीचे भूमि पर टेक कर तीन बार मस्तक को पृथ्वी पर नमाया-झुकाया, फिर मस्तक कुछ ऊँचा उठाया। तत्पश्चात् कटक त्रुटित—बाजूबंद से स्तंभित दोनों भुजाओं को मिलाया। मिला कर दोनो हाथ जोड़ आवर्त्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके उसने इस प्रकार कहा—

विवेचन—आन्तरिक हर्ष का उद्रेक होने पर शरीर पर उसका जो असर—प्रभाव दिखता है, उसका इस सूत्र में सुन्दर वर्णन किया है।

९—नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आदिगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुण्डरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहिआणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं जीवदयाणं सरणदयाणं दीवो ताणं (सरणं गई पइट्ठा) बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं अप्पडिहयवरनाण दंसणधराणं वियट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं

बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवं अयलं अरुयं अणंतं अक्खयं अव्वाबाहं अपुणरावत्तियं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं।

नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थयरस्स जाव[1] संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगते, पासइ मे भगवं तत्थगते इहगतं ति कट्टु वंदति णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुव्वाभिमुहं सण्णिसण्णे।

९—अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो, श्रुत-चारित्र धर्म की आदि करने वाले, तीर्थ की स्थापना करने वाले, अन्य के उपदेश के बिना स्वयं ही बोध को प्राप्त, पुरुषों में उत्तम, कर्म-शत्रुओं का विनाश करने में पराक्रमी होने के कारण पुरुषों में सिंह के समान, सौम्य होने से पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, पुरुषों में उत्तम गंधहस्ती के समान (जैसे गंधहस्ती की गंध से अन्य हाथी भाग जाते हैं उसी प्रकार जिनके पुण्य प्रभाव से ही ईति भीति आदि का विनाश हो जाता है, ऐसे) लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक का हित करने वाले, लोक में प्रदीप के समान, लोक में विशेष उद्योत करने वाले अथवा लोक स्वरूप को प्रकाशित करने वाले—बताने वाले, अभय देने वाले, श्रद्धा-ज्ञान-रूप नेत्र के दाता, धर्म (चारित्र) मार्ग के दाता, जीवों पर दया रखने का उपदेश देने वाले, शरणदाता, बोधिदाता देशविरति, सर्वविरति रूप धर्म के दाता, धर्म के उपदेशक, धर्म के नायक, धर्म के सारथी, चतुर्गति रूप संसार का अंत करने वाले धर्म के चक्रवती, अव्याघात (प्रतिहत न होने वाले) केवल-ज्ञान-दर्शन के धारक, घाति कर्म रूपी छद्म के नाशक, रागादि आत्मशत्रुओं को जीतने वाले, कर्मशत्रुओं को जीतने के लिये अन्य जीवों को प्रेरित करने वाले, संसार-सागर से स्वयं तिरे हुए और दूसरों को तिरने का उपदेश देने वाले, बोध (केवल-ज्ञान) को प्राप्त करने वाले और उपदेश द्वारा दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, स्वयं कर्म-बंधन से मुक्त और उपदेश द्वारा दूसरों को मुक्त करनेवाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शिव—उपद्रव रहित, कल्याण रूप, अचल—अचल स्थान (सिद्धिस्थान) को प्राप्त हुए, अरुज—शारीरिक व्याधि वेदना से रहित, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरावृत्ति—जिसको प्राप्त कर लेने पर पुनः संसार में जन्म नही होता, ऐसे पुनरागमन से रहित—सिद्धि गति नामक स्थान में स्थित सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो।

धर्म की आदि करने वाले, तीर्थंकर—(साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका रूप) चतुर्विध संघ-तीर्थ की स्थापना करने वाले, यावत् सिद्धि गति नामक स्थान को प्राप्त करने की ओर अग्रसर श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो।

तत्रस्थ अर्थात् जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित आमलकल्पा नगरी के आम्रशाल-वन चैत्य में विराजमान भगवान् को अत्रस्थ—यहाँ रहा हुआ मै वंदना करता हूँ। वहाँ पर रहे हुए वे भगवान् यहाँ रहे हुए मुझे देखते हैं। इस प्रकार स्तुति करके वन्दन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया।

सूर्याभदेव की आभियोगिक देवों को आज्ञा

१०—तए णं तस्स सूरियाभस्स इमे एतारूवे अज्झत्थिते चिंतिते पत्थिते मणोगते संकप्पे समुपज्जित्था।

---

१. देखें सूत्र सख्या ९ (संबुद्धाणं··· ·······ठाणं पद तक)

१०—तत्पश्चात् उस सूर्याभ देव के मन में इस प्रकार का यह आध्यात्मिक अर्थात् आन्तरिक, चिन्तित, प्रार्थित—प्राप्त करने योग्य, इष्ट और मनोगत—मन में रहा हुआ (मानसिक) संकल्प उत्पन्न हुआ।

११—सेयं खलु मे समणे भगवं महावीरे जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए बहिया अम्बसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तं महाफलं खलु तहारूवाणं भगवन्ताणं णाम-गोयस्स वि सवणयाए किमङ्ग पुण अभिगमण-वन्दण-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए ? एगस्सवि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमङ्ग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए ? तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वन्दामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेतियं पज्जुवासामि, एयं मे पेच्चा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सति त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, एवं संपेहित्ता आभिओगे देवे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी—

११—जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में स्थित आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में यथाप्रतिरूप—साधु के योग्य—अवग्रह को लेकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं। मेरे लिये श्रेय रूप है। जब तथारूप भगवन्तों के मात्र नाम और गोत्र के श्रवण करने का ही महाफल होता है तो फिर उनके समक्ष जाने का, उनको वंदन करने का, नमस्कार करने का, उनसे प्रश्न पूछने का और उनकी उपासना करने का प्रसंग मिले तो उसके विषय में कहना ही क्या है ?

आर्य पुरुष के एक भी धार्मिक सुवचन सुनने का ही जब महाफल प्राप्त होता है तब उनके पास से विपुल अर्थ-उपदेश ग्रहण करने के महान् फल की तो बात ही क्या है !

इसलिए मैं जाऊँ और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ, उनका सत्कार-सम्मान करूँ और कल्याणकारी होने से कल्याण रूप, सब अनिष्टों का उपशमन करने वाले होने से मंगलरूप, त्रैलोक्याधिपति होने से देवरूप और सुप्रशस्त ज्ञान—केवलज्ञान वाले होने से चैत्य स्वरूप उन भगवान् की पर्युपासना करूँ।

ये (श्रमण भगवान् महावीर की पर्युपासना) मेरे लिये अनुगामी रूप से परलोक में हितकर, सुखकर, क्षेमकर—शांतिकर, निश्रेयस्कर—कल्याणकर—मोक्ष प्राप्त कराने वाली होगी, ऐसा उसने (सूर्याभदेव ने) विचार किया। विचार करके अपने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा।

विवेचन—टीकाकार खम-क्षम का अर्थ संगति बताते हैं—क्षमाय संगतत्वाय (रायपसेणइय पृ. १०२ आगमोदय समिति)। क्रोध की उपशांति को क्षमा कहते हैं और क्रोध की उपशांति सुख-शांति—कल्याण करने वाली होने से यहाँ खमाए का क्षेमकर, शान्तिकर यह अर्थ लिया है।

आभियोगिक देव—जैसे हमारे यहाँ घरेलू काम करने के लिये वेतनभोगी भृत्य—नौकर होते है, उसी प्रकार की स्थिति देवलोक में आभियोगिक देवों की है। वे अपने स्वामी देव की आज्ञा का पालन करने के लिये नियुक्त रहते हैं। अर्थात् अपने स्वामी देव की आज्ञा का पालन करने वाले भृत्य—सेवक स्थानीय देवों को आभियोगिक देव कहा जाता है।

१२—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए नगरीए बहिया अंबसालवणे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

तं गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया ! जंबुद्दीवं दीवं भारहं वासं आमलकप्पं णयरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेह, करेत्ता वंदह णमंसह, वंदित्ता णमंसित्ता साइं साइं नामगोयाइं साहेह, साहित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वओ समंता जोयणपरिमंडलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा असुइं वा अचोक्खं वा पूइअं दुब्भिगन्धं तं सव्वं आहुणिय आहुणिय एगंते एडेह, एडेत्ता—णच्चोदगं णाइमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदयवासं वासह, वासिता णिहयरयं णट्ठरयं भट्ठरयं उवसंतरयं पसंतरयं करेह, करित्ता कुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमित्तं ओहिं वासं वासह, वासित्ता जलयथलयभासुरप्पभूयस्स बिंटट्ठाइस्स दसद्धवण्णस्स कालागुरु-पवरकुन्दुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघंत-गंधुद्धयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेह, कारवेह, करित्ता य कारवेत्ता य खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह ।

१२—हे देवानुप्रियो ! बात यह है कि यथाप्रतिरूप अवग्रह को ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्रवर्ती आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में विराजमान हैं।

अतएव हे देवानुप्रियो ! तुम जाओ और जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरतक्षेत्र में स्थित आमलकल्पा नगरी के बाहर आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर की दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा करो। प्रदक्षिणा करके वन्दन, नमस्कार करो। वन्दन, नमस्कार करके तुम अपने-अपने नाम और गोत्र उन्हें कह सुनाओ। तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के विराजने के आसपास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि में घास, पत्ते, काष्ठ, कंकड़-पत्थर, अपवित्र, मलिन, सड़ी-गली दुर्गन्धित वस्तुओं को अच्छी तरह से साफ कर दूर एकान्त स्थान में ले जाकर फैंक दो। इसके अनन्तर उस भूमि को पूरी तरह से साफ स्वच्छ करके इस प्रकार से दिव्य सुरभि-सुगंधित गंधोदक की वर्षा करो कि जिसमें जल अधिक न बरसे, कीचड़ न हो। रिमझिम-रिमझिम विरल रूप में नन्ही-नन्ही बूंदें बरसे और धूल मिट्टी नष्ट हो जाये। इस प्रकार की वर्षा करके उस स्थान को निहितरज, नष्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज, प्रशांतरज वाला बना दो।

जलवर्षा करने के अनन्तर उस स्थान पर सर्वत्र एक हाथ उत्सेध—ऊँचाई प्रमाण भास्वर चमकीले जलज और स्थलज पंचरगे—रंग-बिरंगे सुगंधित पुष्पों की प्रचुर परिमाण में इस प्रकार से बरसा करो कि उनके वृन्त (उड़ियाँ) नीचे की ओर और पंखुड़ियाँ चित्त—ऊपर की ओर रहे।

पुष्पवर्षा करने के बाद उस स्थान पर अपनी सुगंध से मन को आकृष्ट करने वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरुष्क तुरुष्क (लोभान) और धूप को जलाओ कि जिसकी सुगंध से सारा वातावरण मघमघा जाये—महक जाये, श्रेष्ठ सुगंध-समूह के कारण वह स्थान गंधवट्टिका—गंध की गोली के समान बन जाये, दिव्य सुरवरों—उत्तम देवों के अभिगमन योग्य हो जाये, ऐसा तुम स्वयं करो और दूसरों से करवाओ। यह करके और करवा कर शीघ्र मेरी आज्ञा वापस मुझे लौटाओ अर्थात् आज्ञानुसार कार्य हो जाने की मुझे सूचना दो।

विवेचन—प्राचीन काल में भृत्यवर्ग का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था, यह बात जैन शास्त्रों के वर्णन से स्पष्ट है। उन्हें कौटुम्बिक पुरुष—परिवार का सदस्य समझा जाता था और सम्राट से लेकर सामान्य जन तक उन्हें 'देवानुप्रिय' जैसे शिष्टजनोचित शब्दों से संबोधित करते थे। ऐसे शब्द-प्रयोगों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय अपने स्तर से भी कम स्तर वाले व्यक्तियों के प्रति शिष्ट सभ्य, सुसंस्कृतजनोचित वचन व्यवहार की परंपरा थी।

आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन

१३—तए णं ते आभियोगिका देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ जाव (चित्त-माणंदिया, पीइमणा, परमसोमणस्सिया, हरिसवसविसप्पमाण) हियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिर-सावत्तं मत्थए अञ्जलिं कट्टु 'एवं देवो ! तहत्ति' आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, 'एवं देवो तहत्ति' आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेत्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दण्डं निस्सिरंति, तं जहा—रयणाणं वयराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलगाणं सोगंधियाणं जोईरसाणं अंजणाणं अंजणपुलगाणं रययाणं जायरूवाणं अङ्काणं फलिहाणं रिट्ठाणं अहाबायरे पुग्गले परिसाडंति, परिसाडित्ता अहासुहमे पुग्गले परियायंति, परियाइत्ता दोच्चं पि वेउव्विय-समुग्घाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जवणाए सिग्घाए उद्धूयाए दिव्वाए देवगईए तिरियं असंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीईवयमाणे जेणेव जंबुद्दीवे दीवे, जेणेव भारहे वासे, जेणेव आमलकप्पा णयरी, जेणेव अंबसालवणे चेतिए, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासि—'अम्हे णं भंते ! सूरियाभस्स देवस्स आभियोगा देवा देवाणुप्पियाणं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो।

१३—तत्पश्चात् वे आभियोगिक देव सूर्याभदेव की इस आज्ञा को सुन कर हर्षित हुए, सन्तुष्ट हुए, यावत् (आनंदित चित्त वाले हुए, उनके मन में प्रीति उत्पन्न हुई, परम प्रसन्न हुए और हर्षातिरेक से उनका) हृदय विकसित हो गया। उन्होंने दोनों हाथों को जोड़ मुकलित दस नखों के द्वारा किये गये सिरसावर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके 'हे देव-स्वामिन् ! आपकी आज्ञा प्रमाण' कहकर विनयपूर्वक आज्ञा स्वीकार की। 'हे देव ! ऐसा ही करेंगे' इस प्रकार से सविनय आज्ञा स्वीकार करके उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) में गये। ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके संख्यात योजन का रत्नमय दंड बनाया। रत्नों के नाम इस प्रकार है—(१) कर्केतन रत्न, (२) वज्र-रत्न, (३) वैडूर्यरत्न, (४) लोहिताक्ष रत्न, (५) मसारगल्ल रत्न, (६) हंसगर्भ रत्न, (७) पुलक रत्न, (८) सौगन्धिक रत्न, (९) ज्योति रत्न, (१०) अंजनरत्न (११) अंजनपुलक रत्न, (१२) रजत रत्न, (१३) जातरूप रत्न, (१४) अंक रत्न, (१५) स्फटिक रत्न, (१६) रिष्ट रत्न। इन रत्नों के यथा बादर (असार-अयोग्य) पुद्गलों को अलग किया और फिर यथासूक्ष्म (सारभूत) पुद्गलों को ग्रहण किया, ग्रहण करके पुनः दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा की।

उत्तर वैक्रिय रूपों की विकुर्वणा करके अर्थात् अपना-अपना वैक्रियलब्धिजन्य उत्तर वैक्रिय शरीर बनाकर वे उत्कृष्ट त्वरा वाली, चपल, अत्यन्त तीव्र होने के कारण चंड, जवन-वेगशील, आँधी जैसी तेज दिव्य गति से तिरछे-तिरछे स्थित असख्यात द्वीप समुद्रों को पार करते हुए जहाँ जम्बूद्वीपवर्ती भारतवर्ष की आमलकल्पा नगरी थी, आम्रशालवन चैत्य था और उसमें भी जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आये।

वहाँ आकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण—दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके प्रदक्षिणा की, उनको वंदन-नमस्कार किया और वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

हे भदन्त। हम सूर्याभदेव के आभियोगिक देव आप देवानुप्रिय को वंदन करते है, नमस्कार करते हैं, आप का सत्कार-सम्मान करते हैं एवं कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप आप देवानुप्रिय की पर्युपासना करते हैं।

विवेचन—मूल शरीर को न छोड़कर अर्थात् मूल शरीर में रहते हुए जीवप्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। वेदना आदि सात कारणों से जीव-प्रदेशों के शरीर से बाहर निकलने के कारण समुद्घात के सात भेद है। उनमें से यहाँ वैक्रिय समुद्घात का उल्लेख है। यह वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित है। वैक्रियलब्धि वाला जीव विक्रिया करते समय अपने आत्मप्रदेशों को विष्कंभ और मोटाई में शरीर परिमाण और ऊँचाई में संख्यात योजन प्रमाण दंडाकार रूप में शरीर से बाहर निकालता है।

वैक्रियलब्धि से पृथक् विक्रिया भी होती है और अपृथक् भी। आभियोगिक देवों ने पहले पृथक् विक्रया द्वारा दंड और उसके पश्चात् दूसरी बार अपने-अपने उत्तर रूप की विकुर्वणा की। इसलिए यहाँ दो बार वैक्रिय समुद्घात करने का उल्लेख किया है।

गति की तीव्रता बताने के लिए यहाँ उक्किट्ठाए आदि समान भाव वाले अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार की वाक्यपद्धति प्राचीन वैदिक व बौद्ध ग्रंथों में भी देखने को मिलती है। समानार्थक विभिन्न शब्दों का प्रयोग विवक्षित भाव पर विशेष भार डालने के लिये किया जाता है। आज भी इस पद्धति के प्रयोग देखने में आते हैं।

१४—'देवा' इ समणे भगवं महावीरे ते देवे एवं वदासी—पोराणमेयं देवा! जीयमेयं देवा! किच्चमेयं देवा! करणिज्जमेयं देवा! आचिन्नमेयं देवा! अब्भणुण्णायमेयं देवा! जं णं भवणवइ-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिया देवा अरहंते भगवंते वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तओ साइं साइं णाम-गोयाइं साहिंति, तं पोराणमेयं देवा! जाव अब्भणुण्णायमेयं देवा!

१४—'हे देवो!' इस प्रकार से सूर्याभदेव के आभियोगिक देवों को सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवों से कहा—हे देवो! यह पुरातन है अर्थात् प्राचीनकाल से देवों में परम्परा से चला आ रहा है। हे देवो! यह देवों का जीतकल्प है अर्थात् देवों की आचारपरम्परा है। हे देवो! यह देवों के लिये कृत्य—करने योग्य कार्य है। हे देवो! यह करणीय है अर्थात् देवों को करना ही चाहिये। हे देवो! यह आचीर्ण है अर्थात् देवों द्वारा पहले भी इसी प्रकार से आचरण किया जाता रहा है। हे देवो! यह अनुज्ञात है अर्थात् पूर्व के सब देवेन्द्रों ने संगत माना है कि भवनवासी,

वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव अरिहंत भगवन्तों को वन्दन-नमस्कार करते हैं। और वन्दन-नमस्कार करके अपने-अपने नाम-गोत्र कहते है, यह पुरातन है यावत् हे देवो ! यह अभ्यनुज्ञात है।

संवर्तक वायु की विकुर्वणा

१५—तए णं ते आभिओगिया देवा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव[1] हियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं दंडं निस्सिरंति। तं जहा—रयणाणं जाव[2] रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडंति, अहाबायरे पोग्गले परिसाडित्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता संवट्टयवाए विउव्वंति। से जहा नामए भइयदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पायंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपिट्ठंतरोरुपरिणए, घणनिचियवट्टवलियखंधे, चम्मेट्ठगदुघणमुट्ठिसमाहयगत्ते, उरस्स बलसमन्नागए, तलजमलजुयलबाहू लङ्घण-पवण-जवण-पमद्दणसमत्थे छेए दक्खे पट्ठे कुसले मेधावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं सलागाहत्थगं वा दंडसंपुच्छणिं वा वेणुसलागिगं वा गहाय रायङ्गणं वा रायंतेपुरं वा देवकुलं वा सभं वा पवं वा आरामं वा उज्जाणं वा अतुरियं अचवलं असंभंतं निरंतरं सुनिउणं सव्वतो समंता संपमज्जेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभिओगिया देवा संवट्टयवाए विउव्वंति, विउव्वित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वतो समंता जोयणपरिमंडलं जं किंचि तणं वा पत्तं वा तहेव सव्वं आहुणिय आहुणिय एगंते एडेति, एडित्ता खिप्पामेव उवसमंति।

१५—तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर उन आभियोगिक देवों ने हर्षित यावत् विकसितहृदय होकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे उत्तर-पूर्व दिग्भाग में गये। वहाँ जाकर उन्होने वैक्रिय समुद्घात किया और वैक्रिय समुद्घात करके सख्यात योजन का दंड बनाया जो कर्केतन यावत् रिष्टरत्नमय था और उन रत्नों के यथाबादर (असारभूत) पुद्गलों को अलग किया। यथाबादर पुद्गलों को हटाकर दुबारा वैक्रिय समुद्घात करके, जैसे—

कोई तरुण, बलवान, युगवान्-कालकृत उपद्रवों से रहित, युवा-युवावस्था वाला, जवान, रोग रहित—नीरोग, स्थिर पंजे वाला—जिसके हाथ का अग्रभाग कापता न हो, पूर्णरूप से दृढ पुष्ट हाथ पैर पृष्ठान्तर—पीठ एवं पसलियों और जंघाओं वाला, अतिशय निचित परिपुष्ट मांसल गोल कंधोंवाला, चर्मेष्टक (चमड़े से वेष्टित पत्थर से बना अस्त्र विशेष), मुद्गर और मुक्को की मार से सघन, पुष्ट सुगठित शरीर वाला, आत्मशक्ति सम्पन्न, युगपत् उत्पन्न तालवृक्षयुगल के समान सीधी लम्बी और पुष्ट भुजाओं वाला, लांघने-कूदने-वेगपूर्वक गमन एवं मर्दन करने में समर्थ, कलाविज्ञ, दक्ष, पटु, कुशल, मेधावी एवं कार्यनिपुण भृत्यदारक सीको से बनी अथवा मूठ वाली अथवा वांस की सीकों से बनी बुहारी को लेकर राजप्रांगण, अन्तःपुर, देवकुल, सभा, प्याऊ, आराम अथवा उद्यान को विना किसी घबराहट चपलता सम्भ्रम और आकुलता के निपुणतापूर्वक चारो तरफ से प्रमार्जित

१. सूत्र सख्या १३

२. सूत्र सख्या १३

करता है—बुहारता है, वैसे ही सूर्याभदेव के उन आभियोगिक देवों ने भी संवर्तक वायु की विकुर्वणा की। विकुर्वणा करके श्रमण भगवान् महावीर के आस-पास चारों ओर एक योजन—चार कोस के इर्दगिर्द भूभाग मे जो कुछ भी घास पत्ते आदि थे उन सभी को चुन-चुनकर एकान्त स्थान मे ले जाकर फैंक दिया और फैंक कर शीघ्र ही अपने कार्य से निवृत्त हुए।

अभ्र-बादलों की विकुर्वणा

१६.—दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति, समोहणित्ता अब्भवद्दलए विउव्वंति। से जहाणामए भइगदारगे सिया तरुणे जाव[1] सिप्पोवगए एगं महं दगवारगं वा, दगकुम्भगं वा, दगथालगं वा, दगकलसगं वा, गहाय आरामं वा जाव[2] पवं वा अतुरियं जाव सव्वतो समंता आवरिसेज्जा, एवामेव तेऽवि सूरियाभस्स देवस्स आभियोगिया देवा अब्भवद्दलए विउव्वंति, विउव्वित्ता खिप्पामेव पतणतणायंति, पतणतणाइत्ता खिप्पामेव विज्जुयायंति, विज्जुयाइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स सव्वओ समंता जोयणपरिमंडलं णच्चोदगं णातिमट्टियं तं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं वासं वासंति, वासेत्ता णिहयरयं, णट्ठरयं, भट्ठरयं, उवसंतरयं, पसंतरयं, करेंति, करित्ता खिप्पामेव उवसामंति।

१६—इसके पश्चात् उन आभियोगिक देवो ने दुबारा वैक्रिय समुद्घात किया। वैक्रिय समुद्घात करके जैसे कोई तरुण यावत् कार्यकुशल भृत्यदारक--सीचने वाला नौकर जल से भरे एक बड़े घड़े, वारक (मिट्टी से बने पात्र विशेष—चाड़े) अथवा जलकुंभ (मिट्टी के घड़े) अथवा जल-स्थालक (कांसे के घड़े) अथवा जल-कलश को लेकर आराम-फुलवारी यावत् परव (प्याऊ) को बिना किसी उतावली के यावत् सब तरफ से सीचता है, इसी प्रकार से सूर्याभदेव के उन आभियोगिक देवों ने आकाश में घुमड़-घुमड़कर गरजने वाले और बिजलियों की चमचमाहट से युक्त मेघों की विक्रिया की और विक्रिया करके श्रमण भगवान् महावीर के विराजने के स्थान के आस-पास चारों ओर एक योजन प्रमाण गोलाकार भूमि मे इस प्रकार से सुगन्धित गंधोदक बरसाया कि जिससे न भूमि जल-बहुल हुई, न कीचड़ हुआ किन्तु रिमझिम-रिमझिम विरल रूप से बूंदाबांदी होने से उड़ते हुए रजकण दब गए। इस प्रकार की मेघ वर्षा करके उस स्थान को निहितरज, नष्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज, प्रशांत रज वाला बना दिया। ऐसा करके वे अपने कार्य से विरत हुए।

विवेचन—देवों द्वारा की गई उक्त मेघबादलों की विकुर्वणा से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में जल वर्षा के लिए कृत्रिम मेघों की रचना होती होगी। आज के वैज्ञानिको द्वारा भी इस प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं और उनमें कुछ सफलता भी मिली है।

पुष्प-मेघों की रचना

१७—तच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति पुप्फवद्दलए विउव्वंति, से जहाणामए मालागारदारए सिया तरुणे जाव[3] सिप्पोवगए एगं महं पुप्फछज्जियं वा पुप्फपडलगं वा पुप्फचंगेरियं वा गहाय रायङ्गणं वा जाव[4] सव्वतो समंता कयग्गहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं

---

१. सूत्र सख्या १५
२. सूत्र सख्या १५
३. देखे सूत्र संख्या १५
४. देखें सूत्र सख्या १५

दसद्धवन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलितं करेज्जा, एवामेव ते सूरियाभस्स देवस्स आभि-ओगिया देवा पुप्फवद्दलए विउव्वंति खिप्पामेव पतणतणायंति जाव[1] जोयणपरिमंडलं जलयथलय-भासुरप्पभूयस्स बिंटट्ठाइस्स दसद्धवन्नकुसुमस्स जाणुस्सेहपमाणमेत्ति ओहिं वासंति वासित्ता काला-गुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं दिव्वं सुरवराभिग-मणजोग्गं करेंति य कारवेंति य, करेत्ता य कारवेत्ता य खिप्पामेव उवसामंति ।

१७—तदनन्तर उन आभियोगिक देवों ने तीसरी बार वैक्रिय समुद्घात करके जैसे कोई तरुण यावत् कार्यकुशल मालाकारपुत्र एक बड़ी पुष्पछादिका (फूलों से भरी टोकरी) पुष्पपटलक (फूलो की पोटली) अथवा पुष्पचंगेरिका (फूलों से भरी डलिया) से कचग्रहवत् (कामुकता से हाथो मे ली गई कामिनी की केश-राशि के तुल्य) फूलो को हाथ में लेकर छोड़े गए पंचरगे पुष्पपुंजों को बिखेर कर रज-प्रांगण यावत् परव (प्याऊ) को सब तरफ से समलंकृत कर देता है, उसी प्रकार से पुष्प-वर्षक बादलों की विकुर्वणा की । वे अभ्र-बादलों की तरह गरजने लगे, यावत् योजन प्रमाण गोलाकार भूभाग मे दीप्तिमान जलज और स्थलज पंचरगे पुष्पों को प्रभूत मात्रा मे इस तरह बरसाया कि सर्वत्र उनकी ऊँचाई एक हाथ प्रमाण हो गई एव डंडियाँ नीचे और पंखुड़ियां ऊपर रहीं ।

पुष्पवर्षा करने के पश्चात् मनमोहक सुगन्ध वाले काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरुष्क, तरुष्क-लोभान और धूप को जलाया । उनकी मनमोहक सुगन्ध से सारा प्रदेश महकने लगा, श्रेष्ठ सुगन्ध के कारण सुगन्ध की गुटिका जैसा बन गया । दिव्य एवं श्रेष्ठ देवों के अभिगमन योग्य हो गया । इस प्रकार से स्वयं करके और दूसरों से करवा करके उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण किया ।

आभियोगिक देवों का प्रत्यावर्तन

१८—जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव[2] वंदित्ता नमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियातो अंबसालवणातो चेइयातो पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए जाव[3] वीइवयमाणा वीइवयमाणा जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अञ्जलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति ।

१८—इसके पश्चात् वे आभियोगिक देव श्रमण भगवान् महावीर के पास आये । वहाँ आकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार यावत् वंदन नमस्कार करके श्रमण भगवान् महावीर के पास से, आम्रशालवन चैत्य से निकले, निकलकर उत्कृष्ट गति से यावत् चलते-चलते जहाँ सौधर्म स्वर्ग था, जहाँ सूर्याभ विमान था, जहाँ सुधर्मा सभा थी और उसमे भी जहाँ सूर्याभदेव था वहाँ आये और दोनों हाथ जोड़ आवर्त पूर्वक मस्तक पर अंजलि करके जय विजय घोष से सूर्याभदेव का अभिनन्दन करके आज्ञा को वापस लौटाया अर्थात् आज्ञानुसार कार्य पूरा करने की सूचना दी ।

---

१. देखे सूत्र सख्या १६

२. देखे सूत्र सख्या १३

३. देखें सूत्र सख्या १३

सूर्याभदेव की उद्घोषणा एवं आदेश

१९—तए णं सुरियाभे देवे तेसिं आभियोगियाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोचा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए पायत्ताणियाहिवइं देवं सद्दावेति, सद्दावेता एवं वदासी—

खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया ! सूरियाभे विमाणे सभाए सुहम्माए मेघोघरसियगंभीरमहुर-सद्दं जोयणपरिमंडलं सूसरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेमाणे उल्लालेमाणे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयाहि – आणवेति णं भो ! सूरियाभे देवे, गच्छति णं भो ! सूरियाभे देवे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आमलकप्पाए णयरीए अंबसालवणे चेतिते समणं भगवं महावीरं अभिवंदए, तुब्भेऽवि णं भो ! देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए जाव [सव्वज्जुईए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्व-पुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सव्व-तुडिय-सद्द-सण्णिणाएणं महया इड्ढीए, महया जुईय, महया बलेणं महया समुदएणं महया वर-तुडिय-जमगसमग-प्पवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरय-मुअंग-दुंदुहि-णिग्घोस] नाइतरवेण णियगपरिवालसद्धिं संपरिवुडा सातिं सातिं जाणविमाणाइं दुरूढा समाणा अकालपरिहीणं चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतिए पाउब्भवह।

१९—आभियोगिक देवों से इस अर्थ को सुनने के पश्चात् सूर्याभदेव ने हर्षित, सन्तुष्ट यावत् हर्षातिरेक से प्रफुल्ल-हृदय हो पदाति-अनीकाधिपति (स्थलसेनापति) को बुलाया और बुलाकर उससे कहा—

हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही सूर्याभ विमान की सुधर्मा सभा में स्थित मेघसमूह जैसी गम्भीर मधुर शब्द करने वाली एक योजन प्रमाण गोलाकार सुस्वर घंटा को तीन बार बजा-बजाकर उच्चाति-उच्च स्वर में घोषणा-उद्घोषणा करते हुए यह कहो कि—

हे सूर्याभ विमान में रहने वाले देवो और देवियो ! सूर्याभविमानाधिपति के हितकर और सुखप्रद वचनों को सुनो—सूर्याभदेव आज्ञा देता है कि देवो ! जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित आमलकल्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर की वंदना करने के लिए सूर्याभदेव जा रहा है। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप लोग समस्त ऋद्धि यावत् (आभूषण) आदि की कांति, बल (सेना) समुदय-अभ्युदय दिखावे अथवा अपने अपने आभियोगिक देवों के समुदाय, आदर-सम्मान, विभूति, विभूषा, एवं भक्तिजन्य उत्सुकतापूर्वक सर्व प्रकार के पुष्पों, वेश-भूषाओं, सुगन्धित पदार्थो, एक साथ बजाये जा रहे समस्त दिव्य वाद्यों—शंख प्रणव, (ढोलक), पटह (नगाड़ा), भेरी, झालर, खरमुखी, हुडुक्क, मुरज (तबला), मृदंग एवं दुन्दुभि आदि निर्घोष के साथ) अपने-अपने परिवार सहित अपने-अपने यान-विमानों में बैठकर बिना विलब के—अविलंव, तत्काल सूर्याभ देव के समक्ष उपस्थित हो जाओ।

२०—तए णं से पायत्ताणियाहिवती देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ जाव[2] हियए एवं देवो ! तहत्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेति, पडिसुणित्ता जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव मेघोघरसियगम्भीरमहुरसद्दा जोयणपरिमंडला सुस्सरा घंटा तेणेव

---

१. देखे सूत्र संख्या १३

२. देखें सूत्र संख्या ८

उवागच्छति, उवागच्छित्ता तं मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दं जोयणपरिमंडलं सुस्सरं घंटं तिक्खुत्तो उल्लालेति ।

तए णं तीसे मेघोघरसितगंभीरमहुरसद्दाए जोयणपरिमंडलाए सुस्सराए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालियाए समाणीए से सूरियाभे विमाणे पासायविमाणणिक्खुडावडियसद्दघंटापडिसुयासयसहस्स-संकुले जाए याऽवि होत्था ।

२०—तदनन्तर सूर्याभदेव द्वारा इस प्रकार से आज्ञापित हुआ वह पदात्यनीकाधिपति देव सूर्याभदेव की इस आज्ञा को सुनकर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्ल-हृदय हुआ और 'हे देव ! ऐसा ही होगा' कहकर विनयपूर्वक आज्ञावचनो को स्वीकार करके सूर्याभ विमान में जहाँ सुधर्मा सभा थी और उसमें भीं जहाँ मेघमालावत् गम्भीर मधुर ध्वनि करने वाली योजन प्रमाण गोल सुस्वर घंटा थी, वहाँ आकर मेघमाला जैसी गम्भीर और मधुरध्वनि करने वाली उस एक योजन प्रमाण गोल सुस्वर घंटा को तीन बार बजाया ।

तब उस मेघमालासदृश गम्भीर और मधुर ध्वनि करने वाली योजन प्रमाण गोल सुस्वर घंटा के तीन बार बजाये जाने पर उसकी ध्वनि से सूर्याभ विमान के प्रासादविमान आदि से लेकर कोने-कोने तक के एकान्तशांत स्थान लाखो प्रतिध्वनियों से गूंज उठे ।

विवेचन—अधिक से अधिक बारह योजन की दूरी से आया हुआ शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है । मगर सूर्याभ विमान तो एक लाख योजन विस्तार वाला है । ऐसी स्थिति में घण्टा का शब्द सर्वत्र कैसे सुनाई दिया ? इस प्रश्न का समाधान मूलपाठ के अनुसार ही यह है कि घंटा के ताड़न करने पर उत्पन्न हुए शब्द-पुद्गलों के इधर-उधर टकराने से तथा दैवी प्रभाव से, लाखो प्रतिध्वनियाँ उत्पन्न हो गई । उनसे समग्र सूर्याभ विमान व्याप्त हो गया और विमानवासी सब देवों-देवियों ने शब्द श्रवण कर लिया ।

२१—तए णं तेसिं सूरियाभविमाणवासिणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य दवीण य एगंतरइ-पसत्तनिच्चप्पमत्तविसयसुहमुच्छियाणं सूसरघंटारवविउलबोलतुरियचवलपडिबोहणे कए समाणे घोसण-कोउहल-दिन्नकन्नएगग्गचित्त-उवउत्तमाणसाणं से पायत्ताणीयाहिवई देवे तंसि घंटारवंसि णिसंत-पसंतंसि महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वदासी—

हंद ! सुणंतु भवंतो सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सूरियाभ-विमाणवइणो वयणं हियसुहत्थं—

आणवेइ णं भो ! सूरियाभे देवे, गच्छइ णं भो ! सूरियाभे देवे जंबुद्दीवं दीवं भारहं वासं आमलकप्पं नगरिं अंबसालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं अभिवंदए; तं तुब्भेऽवि णं देवाणुप्पिया ! सव्विड्ढीए अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवह ।

२१—तब उस सुस्वर घंटा की गम्भीर प्रतिध्वनि से एकान्त रूप से अर्थात् सदा सर्वदा रति-क्रिया (काम भोगो) में आसक्त, नित्य प्रमत्त, एवं विषयसुख में मूर्च्छित सूर्याभविमानवासी देवों और देवियों ने घंटानाद से शीघ्रातिशीघ्र प्रतिबोधित-सावधान-जाग्रत होकर घो॰ विषय में उत्पन्न कौतूहल की शांति के लिए कान और मन को केन्द्रित किया तथा घंटारव

प्रशांत (बिल्कुल शांत) हो जाने पर उस पदात्यानीकाधिपति देव ने जोर-जोर से उच्च शब्दों में उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहा—

आप सभी सूर्याभविमानवासी वैमानिक देव और देवियाँ सूर्याभ विमानाधिपति की इस हितकारी सुखप्रद घोषणा को हर्षपूर्वक सुनिये—

हे देवानुप्रियो ! सूर्याभदेव ने आप सबको आज्ञा दी है कि सूर्याभदेव जम्बूद्वीप नामक द्वीप में वर्तमान भरतक्षेत्र में स्थित आमलकल्पा नगरी के आम्रशालवन चैत्य में विराजमान श्रमण भगवान् महावीर की वन्दना करने के लिए जा रहे हैं। अतएव हे देवानुप्रियो ! आप सभी समस्त ऋद्धि से युक्त होकर अविलम्ब—तत्काल सूर्याभदेव के समक्ष उपस्थित हो जायें।

सूर्याभदेव की घोषणा की प्रतिक्रिया

२२—तए णं ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा देवीओ य पायत्ताणियाहिवइस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियया अप्पेगइया वंदणवत्तियाए, अप्पेगइया पूयणवत्तियाए, अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए अप्पेगइया संमाणवत्तियाए, अप्पेगइया कोऊहलजिणभत्तिरागेणं, अप्पेगइया सूरियाभस्स देवस्स वयणमणुयत्तेमाणा, अप्पेगइया अस्सुयाइं सुणेस्सामो, अप्पेगइया सुयाइं निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगतिया अन्नमन्नमणुयत्तमाणा, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं, अप्पेगइया 'धम्मो' त्ति, अप्पेगइया 'जीयमेयं' ति कट्टु सव्विड्ढीए जाव[1] अकालपरिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अंतियं पाउब्भवंति।

२२—तदनन्तर पदात्यनीकाधिपति देव से इस बात (सूर्याभदेव की आज्ञा) को सुनकर सूर्याभविमानवासी सभी वैमानिक देव और देवियां हर्षित, सन्तुष्ट यावत् विकसितहृदय हो, कितने ही वन्दना करने के विचार से, कितने ही पर्युपासना करने की आकांक्षा से, कितने ही सत्कार करने की भावना से, कितने ही सम्मान करने की इच्छा से, कितने ही जिनेन्द्र भगवान् के प्रति कुतूहलजनित भक्ति-अनुराग से, कितने ही सूर्याभदेव की आज्ञा पालन करने के लिए, कितने ही अश्रुतपूर्व (जिसको पहले नही सुना) को सुनने की उत्सुकता से, कितने ही सुने हुए अर्थविषयक शंकाओं का समाधान करके निःशंक होने के अभिप्राय से, कितने ही एक दूसरे का अनुसरण करते हुए, कितने ही जिन-भक्ति के अनुराग से, कितने ही अपना धर्म (कर्त्तव्य) मानकर और कितने ही अपना परम्परागत व्यवहार समझकर सर्व ऋद्धि के साथ यावत् बिना किसी विलम्ब के तत्काल सूर्याभदेव के समक्ष उपस्थित हो गये।

विवेचन—यहाँ मानवीय रुचि की विविधरूपता का चित्रण किया गया है कि कार्य के एक समान होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसमें प्रवृत्त होता है। इसीलिए लोक को विभिन्न रुचि वाला बताया गया है। जैनसिद्धान्त के अनुसार इस प्रकृति—स्वभावजन्य विविधता का कारण कर्म है—'कर्मजं लोकवैचित्र्यं तत्स्वभावानुकारणम्।'

सूर्याभदेव द्वारा विमाननिर्माण का आदेश

२३—तए णं सूरियाभे देवे ते सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य

---

१. देखें सूत्र संख्या १९

अकालपरिहीणा चेव अन्तियं पाउब्भवमाणे पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठ जाव[1] हियए आभिओगियं देवं सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

खिप्पामेव भो ! देवाणुप्पिया । अणेगखम्भसयसंनिविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं, ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किंनर-रुरु-सरभ-चमर-कुञ्जर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्तं खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तंपिव अच्चीसहस्समालणीयं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं घण्टावलिचलियमहुरमणहरसरं सुहं कन्तं दरिसणिज्जं णिउणउचियभिसिभिसिंतमणिरयणघण्टियाजालपरिक्खित्तं जोयणसयसहस्सवित्थिण्णं दिव्वं गमणसज्जं सिग्घगमणं णाम जाणविमाणं विउव्वाहि, विउव्वित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि ।

२३—इसके पश्चात् विलम्ब किये बिना उन सभी सूर्याभविमानवासी देवों और देवियों को अपने सामने उपस्थित देखकर हृष्ट-तुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हो सूर्याभदेव ने अपने आभियोगिक देव को बुलाया और बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—

हे देवानुप्रिय ! तुम शीघ्र ही अनेक सैकड़ों स्तम्भो पर संनिविष्ट— बने हुए एक यान-विमान की विकुर्वणा-रचना करो । जिसमें स्थान-स्थान पर हाव-भाव-विलास लीलायुक्त अनेक पुतलियां स्थापित हों । ईहामृग, वृषभ, तुरग, नर (मनुष्य), मगर, विहग (पक्षी), सर्प, किन्नर, रुरु (मृगों की एक जाति विशेष—बारहसिंगा अथवा कस्तूरीमृग), सरभ (अष्टापद) चमरी गाय, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि के चित्राम चित्रित हों । जो स्तम्भों पर बनी वज्र रत्नों की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखलाई दे । समश्रेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यंत्रचालित-जैसे दिखलाई दे । हजारों किरणों से व्याप्त एव हजारों रूपकों—चित्रों से युक्त होने से जो देदीप्यमान और अतीव देदीप्यमान जैसा प्रतीत हो । देखते ही दर्शकों के नयन जिसमें चिपक जायें । जिसका स्पर्श सुखप्रद और रूप शोभा-सम्पन्न हो । हिलने डुलने पर जिसमें लगी हुई घंटावलि से मधुर और मनोहर शब्द-ध्वनि हो रही हो । जो वास्तुकला से युक्त होने के कारण शुभ कान्त—कमनीय और दर्शनीय हो । निपुण शिल्पियों द्वारा निर्मित, देदीप्यमान मणियों और रत्नों के घुंघरुओं से व्याप्त हो, एक लाख योजन विस्तार वाला हो । दिव्य तीव्रगति से चलने की शक्ति-सामर्थ्य सम्पन्न एव शीघ्रगामी हो ।

इस प्रकार के यान-विमान की विकुर्वणा-रचना करके हमे शीघ्र ही इसकी सूचना दो ।

२४—तए णं से आभिओगिए देवे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ जाव[2] हियए करयल-परिग्गहियं जाव[3] पडिसुणेइ जाव[4] पडिसुणेत्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव[5] अहाबायरे पोग्गले परिसाडति परिसाडित्ता अहासुहुमे पोग्गले परियाएइ परियाइत्ता दोच्चं पि वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणित्ता अणेगखम्भसयसन्निविट्ठं जाव[6] दिव्वं जाणविमाणं विउव्विउं पवत्ते यावि होत्था ।

---

१. देखें सूत्र संख्या ८
२. देखें सूत्र संख्या १३
३. देखें सूत्र संख्या १३
४. देखें सूत्र संख्या १३
५. देखें सूत्र संख्या १३
६. देखें सूत्र संख्या २३

२४—तदनन्तर वह आभियोगिक देव सूर्याभदेव द्वारा इस प्रकार का आदेश दिये जाने पर हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ यावत् प्रफुल्ल हृदय हो दोनों हाथ जोड़ यावत् आज्ञा को सुना यावत् उसे स्वीकार करके वह उत्तर-पूर्व दिशा—ईशानकोण में आया। वहाँ आकर वैक्रिय समुद्घात किया और समुद्घात करके संख्यात योजन ऊपर-नीचे लबा दण्ड बनाया यावत् यथाबादर (स्थूल-असार) पुद्गलो को अलग हटाकर सारभूत सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण किया, ग्रहण करके दूसरी बार पुनः वैक्रिय समुद्घात करके अनेक सैकड़ो स्तम्भों पर सन्निविष्ट यावत् दिव्ययान-विमान की विकुर्वणा (रचना) करने मे प्रवृत्त हो गया।

आभियोगिक देवों द्वारा विमान रचना

२५—तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स तिदिसिं तिसोवाणपडिरुवए विउव्वति, तंजहा—पुरत्थिमेणं, दाहिणेणं, उत्तरेणं, तेसिं तिसोवाणपडिरूवगाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—

वइरामया णिम्मा, रिट्ठामया पतिट्ठाणा, वेरुलियामया खंभा, सुवण्ण-रुप्पमया फलगा लोहितक्खमइयाओ सूईओ, वयरामया संधी, णाणामणिमया अवलंबणा, अवलंबणबाहाओ य, पासादीया जाव[1] पडिरूवा।

२५—इसके अनन्तर (विमान रचना के लिए प्रवृत्त होने के अनन्तर) सर्वप्रथम आभियोगिक देवों ने उस दिव्ययान-विमान की तीन दिशाओं—पूर्व, दक्षिण और उत्तर मे विशिष्ट रूप-शोभासम्पन्न तीन सोपानों (सीढ़ियों) वाली तीन सोपान पंक्तियों की रचना की। वे रूपशोभा सम्पन्न सोपान पंक्तियां इस प्रकार की थीं—

इनकी नेम (भूमि से ऊपर निकला प्रदेश, वेदिका) वज्ररत्नों से बनी हुई थी। रिष्ट रत्नमय इनके प्रतिष्ठान (पैर रखने को स्थान) और वैडूर्य रत्नमय स्तम्भ थे। स्वर्ण-रजत मय फलक (पाटिये) थे। लोहिताक्ष रत्नमयी इनमें सूचियां—कीले लगी थी। वज्ररत्नों से इनकी संधियां (सांधे) भरी हुई थीं, चढ़ने-उतरने में अवलंबन के लिये अनेक प्रकार के मणिरत्नो से बनी इनकी अवलंबनवाहा थी तथा ये त्रिसोपान पंक्तियां मन को प्रसन्न करने वाली यावत् असाधारण सुन्दर थी।

२६—तेसि णं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं तोरणं पण्णत्तं, तेसि णं तोरणाणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा—तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमएसु थम्भेसु उवनिविट्ठसंनिविट्ठा विविहमुत्तन्तरारूवोवचिया विविहतारारूवोवचिया जाव पासाइया दरिसणिज्जा, अभिरूवा पडिरूवा।

२६—इन दर्शनीय मनमोहक प्रत्येक त्रिसोपान-पंक्तियों के आगे तोरण वंधे हुए थे। उन तोरणों का वर्णन इस प्रकार का है—

वे तोरण मणियों से बने हुए थे। गिर न सके, इस विचार से विविध प्रकार के मणिमय स्तभों के ऊपर भली-भांति निश्चल रूप से बांधे गये थे। बीच के अन्तराल विविध प्रकार के मोतियों से निर्मित रूपकों से उपशोभित थे और सलमा सितारों आदि से बने हुए तारा-रूपकों—वेल कूटों से व्याप्त यावत् (मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप-मनाकर्षक और) अतीव मनोहर थे।

---

१. देखे सूत्र सख्या १

२७—तेसि णं तोरणाणं उप्पि अट्ठट्ठ मङ्गलगा पण्णत्ता, तंजहा—सोत्थिय-सिरिवच्छ-णन्दि-यावत्त-वद्धमाणग-भद्दासण-कलस-मच्छ-दप्पणा जाव (सव्वरयणमया अच्छा, सण्हा, लण्हा, घट्ठा, मट्ठा, णीरया निम्मला, निप्पंका, निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा) पडिरूवा।

२७—उन तोरणों के ऊपरी भाग में स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्दिकावर्त, वर्द्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्ययुगल और दर्पण, इन आठ-आठ मांगलिकों की रचना की। जो (सर्वात्मना रत्नों से निर्मित अतीव स्वच्छ, चिकने, घर्षित, मृष्ट, नीरज, निर्मल निष्कलंक, दीप्त प्रकाशमान चमकीले शीतल प्रभायुक्त मनाह्लादक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप थे।

२८—तेसि च णं तोरणाणं उप्पि बहवे किण्हचामरज्झया जाव (नीलचामरज्झया, लोहियचामरज्झया, हालिद्दचामरज्झया) सुविकल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रुप्पपट्टा वइरदण्डा जलयामलगन्धिया सुरम्मा पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा विउव्वति।

२८—उन तोरणों के ऊपर स्वच्छ, निर्मल, सलौनी, रजतमय पट्ट से शोभित वज्रनिर्मित डंडियों वाली, कमलो जैसी सुरभि गंध से सुगंधित, रमणीय, आह्लादकारी, दर्शनीय मनोहर अतीव मनोहर बहुत सी कृष्ण चामर ध्वजाओं यावत् (नील चामर ध्वजाओं, लाल चामर ध्वजाओं, पीली चामर ध्वजाओं और) श्वेत चामर ध्वजाओं की रचना की।

२९—तेसि णं तोरणाणं उप्पि बहवे छत्तातिछत्ते, पडागाइपडागे, घंटाजुगले, उप्पलहत्थए, कुमुद-णलिण-सुभग-सोगंधिय-पोंडरीय-महापोंडरीय-सतपत्त-सहस्सपत्तहत्थए, सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे विउव्वति।

२९—उन तोरणो के शिरोभाग में निर्मल यावत् अत्यन्त शोभनीय रत्नों से बने हुए अनेक छत्रातिछत्रो (एक छत्र के ऊपर दूसरा छत्र) पताकातिपताकाओं घंटायुगल, उत्पल (श्वेतकमल) कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुंडरीक, महापुंडरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र कमलो के झूमकों को लटकाया।

३०—तए णं से आभिओगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वति। से जहाणामए आलिंगपुक्खरे ति वा, मुइंगपुक्खरे इ वा, परिपुण्णे सरतले इ वा, करतले इ वा, चंदमंडले इ वा, सूरमण्डले इ वा, आयंसमंडले इ वा, उरब्भचम्मे इ वा, वसहचम्मे इ वा, वराहचम्मे इ वा, वग्घचम्मे इ वा, छगलचम्मे इ वा, दीवियचम्मे इ वा, अणेग-संकुकीलगसहस्सवितते, णाणाविहपंचवन्नेहिं मणीहिं उवसोभिते आवड-पच्चावड-सेढि-पसेढि-सोत्थिय-सोवत्थिय-पूसमाणव-वद्धमाणग-मच्छंडग-मगरंडग-जार-मार-फुल्लावलि-पउमपत्त-सागर-तरंग-वसंतलय-पउमलय-भत्तिचित्तेहिं सच्छाएहिं सप्पभेहिं समरीइएहिं सउज्जोएहिं णाणाविह-पंचवण्णेहिं मणीहिं उवसोभिए तं जहा—किण्हेहिं णीलेहिं लोहिएहिं हालिद्देहिं सुविकल्लेहिं।

३०—सोपानो आदि की रचना करने के अनन्तर उस आभियोगिक देव ने उस दिव्ययान-विमान के अन्दर एकदम समतल भूमिभाग—स्थान की विक्रिया की। वह भूभाग आलिंगपुष्क

(मुरज का ऊपरी भाग) मृदंग पुष्कर, पूर्ण रूप से भरे हुए सरोवर के ऊपरी भाग, करतल (हथेली), चन्द्रमंडल, सूर्यमंडल, दर्पण मडल अथवा शंकु जैसे बडे-बड़े खीलों को ठोक और खीचकर चारों ओर से सम किये गये भेड़, बैल, सुअर, सिह, व्याघ्र, बकरी और भेड़िये के चमड़े के समान अत्यन्त रमणीय एवं सम था।

वह सम भूमिभाग अनेक प्रकार के वर्त, प्रत्यावर्त्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, पुष्यमाणव, शराबसंपुट, मत्स्यांड, मकराण्ड जार, मार आदि शुभलक्षणों और कृष्ण, नील, लाल, पीले और श्वेत इन पांच वर्णो की मणियों से उपशोभित था और उनमें कितनी ही मणियों में पुष्पलताओं, कमल-पत्रों, समुद्रतरंगों, वसंतलताओं, पद्मलताओं आदि के चित्राम बने हुए थे तथा वे सभी मणियां निर्मल, चमकदार किरणों वाली उद्योत-शीतल प्रकाश वाली थी।

मणियों का वर्ण

३१—तत्थ णं जे ते किण्हा मणी तेसिं णं मणीणं इमे एतारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहा—नामए जीमूतए इ वा, खंजणे इ वा, अंजणे इ वा, कज्जले इ वा, मसी इ वा, मसीगुलिया इ वा, गवले इ वा, गवलगुलिया इ वा, भमरे इ वा, भमरावलिया इ वा, भमरपतंगसारे ति वा, जंबूफले ति वा, अद्दारिट्ठे इ वा, परपुट्ठे इ वा, गए इ वा, गयकलभे इ वा, किण्हसप्पे इ वा, किण्हकेसरे इ वा, आगास-थिग्गले इ वा, किण्हासोए इ वा, किण्हकणवीरे इ वा, किण्हबंधुजीवे इ वा, एयारूवे सिया ?

३१—उन मणियों में की कृष्ण वर्ण वाली मणियां क्या सचमुच में सघन मेघ घटाओं, अंजन-सुरमा, खंजन (गाड़ी के पहिये की कीच) काजल, काली स्याही, काली स्याही की गोली, भैंसे के सीग की गोली, भ्रमर, भ्रमर पंक्ति, भ्रमर पंख, जामुन, कच्चे अरीठे के बीज अथवा कौए के बच्चे कोयल, हाथी, हाथी के बच्चे, कृष्ण सर्प, कृष्ण बकुल शरद ऋतु के मेघरहित आकाश, कृष्ण अशोक वृक्ष, कृष्ण कनेर, कृष्ण बंधुजीवक (दोपहर में फूलने वाला वृक्ष-विशेष) जैसी काली थी ?

३२—णो इणट्ठे समट्ठे, ओवम्मं समणाउओ ! ते ण किण्हा मणी इत्तो इट्ठतराए चेव कंततराए चेव, मणुण्णतराए चेव, मणामतराए चेव वण्णेणं पण्णत्ता।

३२—हे आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नही है—ऐसा नही है। ये सभी तो उपमायें है। वे काली मणियां तो इन सभी उपमाओ से भी अधिक इष्टतर कांततर (काति-प्रभाववाली) मनोज्ञतर और अतीव मनोहर कृष्ण वर्ण वाली थी।

३३—तत्थ णं जे ते नीला मणी तेसि णं मणीणं इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए भिंगे इ वा, भिंगपत्ते इ वा, सुए इ वा, सुयपिच्छे इ वा, चासे इ वा, चासपिच्छे इ वा, णीली इ वा, णीलीभेदे इ वा, णीलीगुलिया इ वा, सामाए इ वा, उच्चन्तगे इ वा, वणराती इ वा, हलधरवसणे इ वा, मोरग्गीवा इ वा, पारेवयग्गीवा इ वा, अयसिकुसुमे इ वा, बाणकुसुमे इ वा, अंजणकेसियाकुसुमे इ वा, नीलुप्पले इ वा, नीलासोगे इ वा, णीलकणवीरे इ वा, णीलबंधुजीवे इ वा, भवे एयारूवे सिया ?

३३—उनमे की नील वर्ण की मणियाँ क्या भृंगकीट, भृंग के पंख, शुक (तोता), शुकपंख, चाप पक्षी (चातक), चाष पंख, नील, नील के अंदर का भाग, नील गुटिका, सांवा (धान्य), उच्चन्तक

(दांतो को नीला रंगने का चूर्ण), वनराजि, बलदेव के पहनने के वस्त्र, मोर की गर्दन, कबूतर की गर्दन, अलसी के फूल, बाणपुष्प, अंजनकेशी के फूल, नीलकमल, नीले अशोक, नीले कनेर, और नीले बंधुजीवक जैसी नीली थी ?

३४—णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं णीला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव जाव[1] वण्णेणं पण्णत्ता।

३४—यह अर्थ समर्थ नही है—यह ऐसा नही है। वे नीली मणियां तो इन उपमेय पदार्थो से भी अधिक इष्टतर यावत् अतीव मनोहर नील वर्ण वाली थी।

३५—तत्थ णं जे ते लोहियगा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहाणामए ससरुहिरे इ वा, उरब्भरुहिरे इ वा, वराहरुहिरे इ वा, मणुस्सरुहिरे इ वा, महिसरुहिरे इ वा, बालिंदगोवे इ वा, बालदिवाकरे इ वा, संझब्भरागे इ वा, गुंजद्धरागे इ वा, जासुअणकुसुमे इ वा, किंसुयकुसुमे इ वा, पालियायकुसुमे इ वा, जाईहिंगुलए ति वा, सिलप्पवाले ति वा, पवालअंकुरे इ वा, लोहियक्खमणी इ वा, लक्खारसगे ति वा, किमिरागकंबले ति वा, चीणपिट्ठरासी ति वा, रत्तुप्पले इ वा, रत्तासोगे ति वा, रत्तकणवीरे ति वा, रत्तबंधुजीवे ति वा, भवे एयारूवे सिया ?

३५—उन मणियों में की लोहित (लाल) रंग की मणियों का रंग सचमुच में क्या शशक (खरगोश) के खून, भेड़ के रक्त, सुअर के रक्त, मनुष्य के रक्त, भैंस के रक्त, बाल इन्द्रगोप, प्रातः—कालीन सूर्य, संध्या राग (संध्या के समय होने वाली लालिमा), गुंजाफल (घुंघची) के आधे भाग, जपापुष्प, किशुक पुष्प (केसूडा के फूल), परिजातकुसुम, शुद्ध हिंगलुक (खनिजपदार्थ-विशेष), प्रबाल (मूंगा) प्रबाल के अंकुर, लोहिताक्ष मणि, लाख के रंग, कृमिराग (अत्यन्त गहरे लाल रंग) से रंगे कंबल, चीणा (धान्य-विशेष) के आटे, लाल कमल, लाल अशोक, लाल कनेर अथवा रक्त बंधुजीवक जैसा लाल था ?

३६—णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं लोहिया मणी इत्तो इट्ठतराए चेव जाव[2] वण्णेणं पण्णत्ता।

३६—ये पदार्थ उनकी लालिमा का बोध कराने में समर्थ नही है। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्ट यावत् अत्यन्त मनोहर रक्त (लाल) वर्ण की थी।

३७—तत्थ णं जे ते हालिद्दा मणी तेसि णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहाणामए चंपए ति वा, चंपछल्ली ति वा, चंपगभेए इ वा, हलिद्दा इ वा, हलिद्दाभेदे ति वा, हलिद्दागुलिया ति वा, हरियालिया वा हरियालभेदे ति वा, हरियालगुलिया ति वा, चिउरे इ वा, चिउरंगराते ति वा, वरकणगनिघसे इ वा, वरपुरिसवसणे ति वा, अल्लकीकुसुमे ति वा, चंपाकुसुमे इ वा, कुहंडियाकुसुमे इ वा, कोरंटकमल्लदामे ति वा, तडवडाकुसुमे इ वा, घोसेडियाकुसुमे इ वा, सुवण्णजूहियाकुसुमे इ वा, सुहिरण्णकुसुमे ति वा, बीययकुसुमे इ वा, पीयासोगे ति वा, पीयकणवीरे ति वा, पीयबंधुजीवे ति वा, भवे एयारूवे सिया ?

---

१. देखें सूत्र संख्या ३२

२. देखें सूत्र संख्या ३२

३७—उन मणियो में की पोले रंग की मणियो का पीतरंग क्या सचमुच में स्वर्ण चंपा, स्वर्ण चंपा की छाल, स्वर्ण चंपा के अंदर का भाग, हल्दी—हल्दी के अदर का भाग, हल्दी की गोली हरताल (खनिज-विशेष), हरताल के अंदर का भाग, हरताल की गोली, चिकुर (गधद्रव्य-विशेष), चिकुर के रंग से रगे वस्त्र, शुद्ध स्वर्ण की कसौटी पर खीची गई रेखा, वासुदेव के वस्त्रों, अल्लकी (वृक्ष-विशेष) के फूल, चंपाकुसुम, कूष्मांड (कद्दू—कोला) के फूल, कोरंटक पुष्प की माला, तडवडा (आंवला) के फूल, घोषातिकी पुष्प, सुवर्णयूथिका—जूही के फूल, सुहिरण्य के फूल, बीजक के फूल, पीले अशोक, पीली कनेर अथवा पीले बंधुजीवक जैसा पीला था ?

३८—णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं हालिद्दा मणी एत्तो इट्ठतराए चेव जाव[1] वण्णेणं पण्णत्ता।

३८—आयुष्मन् श्रमणो ! ये पदार्थ उनकी उपमा के लिये समर्थ नही है। वे पीली मणियां तो इन से भी इष्टतर यावत् पीले वर्ण वाली थीं।

३९—तत्थं णं जे ते सुक्किलला मणी तेसिं णं मणीणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—से जहा-नामए अंकेति वा, संखे ति वा, चंदेति वा, कुमुद-उदक-दयरय-दहि-घणक्खीर-क्खीरपूरे ति वा, कोंचावली ति वा, हारावली ति वा, हंसावली इ वा, बलागावली ति वा, सारतियबलाहए ति वा, धंतधोयरुप्पपट्टे इ वा, सालीपिट्ठरासी ति वा, कुंदपुप्फरासी ति वा, कुमुदरासी ति वा, सुक्कच्छिवाडी ति वा, पिहुणमिंजिया ति वा, भिसे ति वा, मुणालिया ति वा, गयदंते ति वा, लवङ्गदलए ति वा, पोंडरियदलए ति वा, सेयासोगे ति वा सेयकणवीरे ति वा, सेयबंधुजीवे ति वा, भवे एयारूवे सिया ?

३९—हे भगवन् ! उन मणियों में जो श्वेत वर्ण की मणियाँ थी क्या वे अंक रत्न, शंख, चन्द्रमा, कुमुद, शुद्ध जल, ओस बिन्दु, दही, दूध, दूध के फेन, क्रोंच पक्षी की पक्ति, मोतियों के हार, हंस पंक्ति, बलाका पंक्ति, चन्द्रमा की पंक्ति (जाल के मध्य मे प्रतिबिम्बित चन्द्रपंक्ति), शरद ऋतु के मेघ, अग्नि में तपाकर धोये गये चांदी के पतरे, चावल के आटे, कुन्दपुष्प-समूह, कुमुद पुष्प के समूह, सूखी सिम्बा फली (सेम की फली), मयूरपिच्छ का सफेद मध्य भाग, विस-मृणाल, मृणालिका, हाथी के दाँत, लोग के फूल, पुंडरीककमल (श्वेत कमल), श्वेत अशोक, श्वेत कनेर अथवा श्वेत बंधुजीवक जैसी श्वेत वर्ण की थी ?

४०—णो इणट्ठे समट्ठे, ते णं सुक्किला मणी एत्तो इट्ठतराए चेव जाव[2] वन्नेणं पण्णत्ता।

४०—आयुष्मन् श्रमणो ! ऐसा नही है। वे श्वेत माणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर, यावत् सरस, मनोहर आदि मनोज्ञ श्वेत वर्ण वाली थीं।

मणियों का गन्ध-वर्णन

४१—तेसि णं मणीणं इमेयारूवे गंधे पण्णत्ते, से जहानामए कोट्ठपुडाण वा, तगरपुडाण वा, एलापुडाण वा, चोयपुडाण वा, चंपापुडाण वा, दमणापुडाण वा, कुंकुमपुडाण वा, चंदणपुडाण वा,

---

१. देखें सूत्र सख्या ३२
२. देखें सूत्र सख्या ३२

उसीरपुडाण वा, मरुआपुडाण वा, जातिपुडाण वा, जूहियापुडाण वा, मल्लियापुडाण वा, ण्हाण-मल्लियापुडाण वा, केतगिपुडाण वा, पाडलिपुडाण वा, णोमालियापुडाण वा, अगुरुपुडाण वा, लवंग-पुडाण वा, वासपुडाण वा, कप्पूरपुडाण वा, अणुवायंसि वा, ओभिज्जमाणाण वा, कुट्टिज्जमाणाण वा, भंजिज्जमाणाण वा, उक्किरिज्जमाणाण वा, विक्किरिज्जमाणाण वा, परिभुज्जमाणाण वा, परि-भाइज्जमाणाण वा, भण्डाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाण वा, ओराला मणुण्णा मणहरा घाणमण-निव्वुतिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिनिस्सरंति, भवे एयारूवे सिया?

४१—उस दिव्य यान विमान के अन्तर्वर्ती सम भूभाग में खचित मणियां क्या वैसी ही सुरभिगंध वाली थी जैसी कोष्ठ (गन्धद्रव्य-विशेष) तगर, इलाइची, चोया, चंपा, दमनक, कुंकुम, चदन, उशीर (खश), मरुआ (सुगंधित पौधा विशेष) जाई पुष्प, जुही, मल्लिका, स्नान-मल्लिका, केतकी, पाटल, नवमल्लिका, अगर, लवंग, वास, कपूर और कपूर के पुड़ो को अनुकूल वायु मे खोलने पर, कूटने पर, तोड़ने पर, उत्कीर्ण करने पर, बिखेरने पर, उपभोग करने पर, दूसरों को देने पर, एक पात्र से दूसरे पात्र में रखने पर, (उडेलने पर) उदार, आकर्षक, मनोज्ञ, मनहर घ्राण और मन को शांतिदायक गंध सभी दिशाओं में मघमघाती हुई फैलती है, महकती है ?

विवेचन—हीरा, पन्ना, माणिक आदि मणिरत्नों में प्रकाश, चमचमाहट और अमुक प्रकार का रंग आदि तो दिखता है परन्तु इनके पार्थिव होने और पृथ्वी के गंधवती होने पर भी मणियों में अमुक प्रकार की उत्कट गंध नही होती है। किन्तु देव-विक्रियाजन्य होने की विशेषता बतलाने के लिए मणियों की गंध का वर्णन किया गया है।

४२—णो इणट्ठे समट्ठे, तेणं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव, [कंततराए चेव, मणुण्णतराए चेव, मणामतराए चेव] गंधेणं पन्नत्ता।

४२—हे आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नहीं हैं। ये तो मात्र उपमायें है। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर यावत् मनमोहक, मनहर, मनोज्ञ-सुरभि गध वाली थी।

मणियों का स्पर्श

४३—तेसि णं मणीणं इमेयारूवे फासे पण्णत्ते, से जहानामए आइणे ति वा, रूए ति वा बूरे इ वा णवणीए इ वा हंसगब्भतूलिया इ वा सिरीसकुसुमनिचये इ वा वालकुमुदपत्तरासी ति वा भवे एयारूवे सिया ?

४३—उन मणियों का स्पर्श क्या अजिनक (चर्म का वस्त्र अथवा मृगछाला) रुई, बूर (वनस्पति विशेष), मक्खन, हंसगर्भ नामक रुई विशेष, शिरीष पुष्पों के समूह अथवा नवजात कमल-पत्रों की राशि जैसा कोमल था ?

४४—णो इणट्ठे समट्ठे, तेणं मणी एत्तो इट्ठतराए चेव जाव[1] फासेणं पन्नत्ता।

४४—आयुष्मन् श्रमणो ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वे मणियां तो इनसे भी अधिक इष्टतर यावत् (सरस, मनोहर और मनोज्ञ कोमल) स्पर्शवाली थीं।

---

१ देखें सूत्र संख्या ४३

प्रेक्षागृह-निर्माण

४५—तए णं से आभियोगिए देवे तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं पिच्छाघरमंडवं विउव्वइ, अणेगखंभसय-संनिविट्ठं अब्भुग्गयसुकयवरवेइयातोरणवररइयसालभंजियागं सुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलियविमलखम्भं णाणामणिखचिय-उज्जलबहुसम-सुविभत्तभूमिभागं, ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किंनर-रुरु-सरभ-चमर-कुञ्जर-वणलय-पउमलय-भत्तिचित्तं, खंभुग्गयवइरवेइयापरिगयाभिरामं विज्जाहरजमलजुयलजंतजुत्तं पिव अच्चीसहस्स-मालणीयं, रूवगसहस्सकलियं, भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं सुहफासं सस्सिरीयरूवं कंचणमणिरयणथूभियागं णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडियग्गसिहरं चवलं मरीइकवयं विणिम्मुयंतं लाइय-उल्लोइयमहियं, गोसीस-सरसरत्तचंदण-दद्दरदिन्नपंचंगुलितलं, उवचियचंदण-कलसं, चंदणघड-सुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं, आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावं, पंच-वण्णसरससुरभिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं, कालागुरुपवरकुंदरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामं सुगंधवरगंधियं गंधवट्टिभूतं अच्छरगणसंघसंविकिण्णं दिव्वतुडियसद्दसंपणाइयं अच्छं जाव (सण्हं अभिरूवं) पडिरूवं।

तस्स णं पिच्छाघरमण्डवस्स अंतो बहुसमरमणिज्जभूमिभागं विउव्वति जाव[1] मणीणं फासो।

तस्स णं पेच्छाघरमण्डवस्स उल्लोयं विउव्वति पउमलयभत्ति-चित्तं जाव (अच्छं सण्हं लण्हं घट्ठं णीरयं निम्मलं निप्पंकं निक्कंकडच्छायं सप्पभं समिरीयं सउज्जोयं पासादीयं दरिसणिज्जं, अभिरूवं) पडिरूवं।

४५—तदनन्तर आभियोगिक देवों ने उस दिव्य यान विमान के अंदर बीचो-बीच एक विशाल प्रेक्षागृह मंडप की रचना की।

वह प्रेक्षागृह मंडप अनेक सैकड़ों स्तम्भों पर संनिविष्ट (स्थित) था। अभ्युन्नत—ऊची एवं सुरचित वेदिकाओं, तोरणों, तथा सुन्दर पुतलियों से सजाया गया था। सुन्दर विशिष्ट रमणीय संस्थान—आकार-वाली प्रशस्त और विमल वैडूर्य मणियों से निर्मित स्तम्भों से उपशोभित था। उसका भूमिभाग विविध प्रकार की उज्ज्वल मणियों से खचित, सुविभक्त एवं अत्यन्त सम था। उसमें ईहामृग (भेड़िया) वृषभ, तुरंग—घोड़ा, नर, मगर, विहग—पक्षी, सर्प, किंनर, रुरु (कस्तूरी मृग), सरभ (अष्टापद), चमरी गाय, कुंजर (हाथी), वनलता पद्मलता आदि के चित्राम चित्रित थे। स्तम्भो के शिरोभाग में वज्र रत्नों से बनी हुई वेदिकाओं से मनोहर दिखता था। यंत्रचालित—जैसे विद्याधर युगलों से शोभित था। सूर्य के सदृश हजारो किरणों से सुशोभित एवं हजारों सुन्दर घंटाओं से युक्त था। देदीप्यमान और अतीव देदीप्यमान होने से दर्शकों के नेत्रों को आकृष्ट करने वाला, सुखप्रद स्पर्श और रूप-शोभा से सम्पन्न था। उस पर स्वर्ण, मणि एवं रत्नमय स्तूप बने हुए थे। उसके शिखर का अग्र भाग नाना प्रकार की घंटियों और पंचरंगी पताकाओं से परिमंडित—सुशोभित था। और अपनी चमचमाहट एवं सभी ओर फैल रही किरणों के कारण चंचल-सा दिखता था। उसका प्रांगण गोबर से लिपा था और दीवारें सफेद मिट्टी से पुती थी। स्थान-स्थान पर सरस गोशीर्ष रक्तचंदन के हाथे लगे हुए थे और चंदनचर्चित कलश रखे थे। प्रत्येक द्वार तोरणों और चन्दन-कलशों से शोभित थे। दीवालों पर ऊपर से लेकर नीचे तक सुगंधित

१. देखे सूत्र सख्या ३१, ३३, ३५, ३७, ३९, ४१, ४३

गोल मालायें लटक रही थीं। सरस सुगन्धित पंचरंगे पुष्पों के मांडने बने हुए थे। उत्तम कृष्ण अगर, कुन्दरूष्क, तुरुष्क और धूप की मोहक सुगंध से महक रहा था और उस उत्तम सुरभि गंध से गंध की वर्तिका (अगरबत्ती धूपबत्ती) प्रतीत होता था। अप्सराओं के समुदायों के गमनागमन से व्याप्त था। दिव्य वाद्यों के निनाद से गूंज रहा था। वह स्वच्छ यावत् (सलौना, अभिरूप) था।

उस प्रेक्षागृह मंडप के अंदर अतीव सम रमणीय भू-भाग की रचना की। उस भूमि-भाग में खचित मणियों के रूप-रंग, गंध आदि की समस्त वक्तव्यता पूर्ववत् समझना चाहिये।

उस सम और रमणीय प्रेक्षागृह मंडप की छत में पद्मलता आदि के चित्रामों से युक्त यावत् (स्वच्छ, सलौना, चिकना, घृष्ट, नीरज, निर्मल, निष्पंक, अप्रतिहतदीप्ति, प्रभा, किरणों वाला, उद्योत वाला, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय अभिरूप) अतीव मनोहर चदेवा बांधा।

रंगमंच आदि की रचना

४६—तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगं महं वइरामयं अक्खाडगं विउव्वति।

४६—उस सम रमणीय भूमिभाग के भी मध्यभाग में वज्ररत्नों से निर्मित एक विशाल अक्षपाट (अखाड़े—क्रीड़ामंच) की रचना की।

४७—तस्स णं अक्खाडयस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महेगं मणिपेढियं विउव्वति—अट्ठ जोयणाइं आयाम-विक्खम्भेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयं अच्छं सण्हं जाव[1] पडिरूवं।

४७—उस क्रीड़ामंच के ठीक बीचोंबीच आठ योजन लंबी-चौड़ी और चार योजन मोटी पूर्णतया वज्ररत्नों से बनी हुई निर्मल, चिकनी यावत् प्रतिरूपा एक विशाल मणिपीठिका की विकुर्वणा की।

सिंहासन की रचना

४८—तीसे णं मणिपेढियाए उवरि एत्थ णं महेगं सीहासणं विउव्वइ, तस्स णं सीहासणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते—

तवणिज्जमया चक्कला, रययामया सीहा, सोवण्णिया पाया, णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं, जंबूणयमयाइं गत्ताइं, वइरामया संधी, णाणामणिमये वेच्चे, से णं सीहासणे ईहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुञ्जर-वाणलय-पउमलयभत्तिचित्तं, ससारसारोवचियमणि-रयणपायपीढे, अत्थरगमिउमसूरगणवतयकुसंतलिवकेसर-पच्चत्थुयाभिरामे, आईणग-रूय-बूर-तूलफासमउए सुविरइय-रयत्ताणे, उवचियखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुअसंवुडे सुरम्मे पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे।

४८—उस मणिपीठिका के ऊपर एक महान् सिंहासन बनाया। उस [illegible] (पायों के नीचे के गोल भाग) सोने के, सिंहाकृति वाले हत्थे रत्नों के, पाये [illegible] अनेक प्रकार की मणियों के और बीच के गाते जाम्बूनद (विशिष्ट स्वर्ण) [illegible] (सांधे) वज्ररत्नों से भरी हुई थी और मध्य भाग की बुनाई का वेंत बाण [illegible]

---

1. देखें सूत्र संख्या ४५

उस सिंहासन पर ईहामृग, बृषभ तुरग—अश्व, नर, मगर, विहग—पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु सरभ (अष्टापद), चमर अथवा चमरी गाय, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि के चित्र बने हुए थे। सिंहासन के सामने स्थापित पाद-पीठ सर्वश्रेष्ठ मूल्यवान् मणियों और रत्नों का बना हुआ था। उस पादपीठ पर पैर रखने के लिए बिछा हुआ मसूरक (गोल आसन) नवतृण कुशाग्र और केसर तंतुओं जैसे अत्यन्त सुकोमल सुन्दर आस्तारक से ढका हुआ था। उसका स्पर्श आजिनक (चर्म का वस्त्र) (मृग छाला) रुई, बूर, मक्खन और आक की रुई जैसा मृदु-कोमल था। वह सुन्दर सुरचित रजस्त्राण से आच्छादित था। उसपर कसीदा काढे क्षौम दुकूल (रुई से बने वस्त्र) का चद्दर बिछा हुआ था और अत्यन्त रमणीय लाल वस्त्र से आच्छादित था। जिससे वह सिंहासन अत्यन्त रमणीय, मन को प्रसन्न करने वाला, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप—अतीव मनोहर दिखता था।

४९—तस्स णं सीहासणस्स उवरि एत्थ णं महेगं विजयदूसं विउव्वति, संख-कुंद-दगरय-अमय-महियफेणपुंज-संनिगासं सव्वरयणामयं अच्छं सण्हं पासादीयं दरिसणिज्जं अभिरूवं पडिरूवं।

४९—उस सिंहासन के ऊपरी भाग में शंख, कुंदपुष्प, जलकण, मथे हुए क्षीरोदधि के फेनपुंज के सदृश प्रभावाले रत्नों से बने हुए, स्वच्छ, निर्मल, स्निग्ध प्रासादिक, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप एक विजयदूष्य (वस्त्र विशेष, छत्राकार जैसे चदेवे) को बांधा।

५०—तस्स णं सीहासणस्स उवरिं विजयदूसस्स य बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं एगं वयरामयं अंकुसं विउव्वति।

५०—उस सिहासन के ऊपरी भाग में बंधे हुए विजयदूष्य के बीचों-बीच वज्ररत्नमय एक अंकुश (अंकुडिया) लगाया।

५१—तंसि च णं वयरामयंसि अंकुसंमि कुंभिक्कं मुत्तादामं विउव्वति।

से णं कुंभिक्के मुत्तादामे अन्नेहिं चउहिं अद्धकुंभिक्केहिं मुत्तादामेहिं तदद्धुच्चपमाणेहिं सव्वओ संमता संपरिक्खित्ते।

ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा णाणामणिरयणविविह-हारद्धहारउवसोभियसमुदाया ईसिं अण्णमण्णमसंपत्ता वाएहिं पुव्वावरदाहिणुत्तरागएहिं मंदायं मंदायं एज्जमाणाणि एज्जमाणाणि पलंबमाणाणि पलंबमाणाणि वदमाणाणि वदमाणाणि उरालेणं मणुन्नेणं मणहरेणं कण्ण-मण-णिव्वुति-करेणं सद्देणं ते पएसे सव्वओ संमता आपूरेमाणा आपूरेमाणा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति।

५१—उस वज्र रत्नमयी अंकुश में (मगध देश में प्रसिद्ध) कुंभ परिणाम जैसे एक बड़े मुक्तादाम (मोतियों के झूमर—फानूस) को लटकाया और वह कुंभपरिमाण वाला मुक्तादाम भी चारो दिशाओं में उसके परिमाण से आधे अर्थात् अर्धकुंभ परिमाण वाले और दूसरे चार मुक्तादामो से परिवेष्टित था।

वे सभी दाम (झूमर) सोने के लंबूसकों (गेंद जैसे आकार वाले आभूषणों), विविध प्रकार की मणियों, रत्नों अथवा विविध प्रकार के मणिरत्नों से बने हुए हारों, अर्ध हारों के समुदायों से शोभित हो रहे थे और पास-पास टगे होने से लटकने से जब पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की

मन्द-मन्द हवा के झोकों से हिलते-डुलते तो एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज्ञ, मनहर, कर्ण एव मन को शाति प्रदान करने वाली रुनझुन रुनझुन शब्द-ध्वनि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को व्याप्त करते हुए अपनी श्री-शोभा से अतीव-अतीव शोभित होते थे।

सिंहासन की चतुर्दिग्वर्त्ती भद्रासन-रचना

५२—तए णं से आभिओगिए देवे तस्स सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेण उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ।

तस्स णं सीहासणस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं चत्तारि भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ।

तस्स णं सीहासणस्स दाहिणपुरत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स अब्भितरपरिसाए अट्ठण्हं देवसाहस्सीणं अट्ठ भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वइ, एवं दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसण्ह देवसाहस्सीणं दस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति, दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरपरिसाए बारसण्हं देवसाहस्सीणं बारस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति।

पच्चत्थिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवतीणं सत्त भद्दासणे विउव्वति।

तस्स णं सीहासणस्स चउदिसिं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस भद्दासणसाहस्सीओ विउव्वति, तं जहा—पुरत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ, दाहिणेणं चत्तारि साहस्सीओ, पच्चत्थिमेणं चत्तारि साहस्सीओ, उत्तरेणं चत्तारि साहस्सीओ।

५२—तदनन्तर (प्रेक्षागृह मंडप आदि की रचना करने के अनन्तर) आभियोगिक देव ने उस सिंहासन के पश्चिमोत्तर (वायव्य कोण), उत्तर और उत्तर पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) मे सूर्याभदेव के चार हजार सामानिक देवों के बैठने के लिए चार हजार भद्रासनों की रचना की।

पूर्व दिशा मे सूर्याभ देव की परिवार सहित चार अग्र महिषियों के लिए चार हजार भद्रासनों की रचना की।

दक्षिणपूर्व दिशा में सूर्याभदेव की आभ्यन्तर परिषद् के आठ हजार देवो के लिये आठ हजार भद्रासनों की रचना की। दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् के देवों के लिए दस हजार भद्रासनो की, दक्षिण-पश्चिम दिग्भाग मे बाह्य परिषदा के बारह हजार देवो के लिए बारह हजार भद्रासनों की और पश्चिम दिशा मे सप्त अनीकाधिपतियो के लिए सात भद्रासनों की रचना की।

तत्पश्चात् सूर्याभदेव के सोलह हजार आत्मरक्षक देवों के लिए क्रमश: पूर्व दिशा मे चार हजार, दक्षिण दिशा में चार हजार, पश्चिम दिशा मे चार हजार और उत्तर दिशा मे चार हजार, इस प्रकार कुल मिलाकर सोलह हजार भद्रासनों को स्थापित किया।

समग्र यान-विमान का सौन्दर्य-वर्णन

५३—तस्स दिव्वस्स जाणविमाणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, से जहानामए अइरुग्गयस्स वा, हेमंतिय-बालियसूरियस्स वा, खयरिंगालाण वा, रत्ति पज्जलियाण वा, जवाकुसुमवणस्स वा, किंसुयवणस्स वा, पारियायवणस्स वा, सव्वतो समंता संकुसुमियस्स भवे एयारूवे सिया ?

५३—उस दिव्य यान-विमान का रूप-सौन्दर्य क्या तत्काल उदित हेमन्त ऋतु के बाल सूर्य अथवा रात्रि मे प्रज्वलित खदिर (खैर की लकड़ी) के अंगारो अथवा पूरी तरह से कुसुमित—फूले हुए जपापुष्पवन अथवा पलाशवन अथवा पारिजातवन जैसा लाल था ?

५४—णो इणट्ठे समट्ठे, तस्स णं दिव्वस्स जाणविमाणस्स एत्तो इट्ठतराए चेव जाव[1] वण्णेणं पण्णत्ते। गधो य फासो य जहा मणीण[2]।

५४—यह अर्थ समर्थ नहीं है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह यान-विमान तो इन सभी उपमाओं से भी अधिक इष्टतर यावत् रक्तवर्ण वाला था। उसी प्रकार उसका गंध और स्पर्श भी पूर्व मे किये गये मणियों के वर्णन से भी अधिक इष्टतर यावत् रमणीय था।

आभियोगिक देव द्वारा आज्ञा-पूर्ति की सूचना

५५—तए णं से आभिओगिए देवे दिव्वं जाणविमाणं विउव्वइ विउव्वित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं जाव[1] पच्चप्पिणति।

५५—दिव्य यान-विमान की रचना करने के अनन्तर आभियोगिक देव सूर्याभदेव के पास आया। आकार सूर्याभदेव को दोनों हाथ जोड़ कर यावत् आज्ञा वापस लौटाई अर्थात् यान-विमान बन जाने की सूचना दी।

५६—तए णं से सूरियाभे देवे आभिओगस्स देवस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठ जाव हियए दिव्वं जिणिंदाभिगमणजोग्गं उत्तरवेउव्वियरूवं विउव्वति, विउव्वित्ता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं, दोहिं अणीएहिं, तं जहा—गंधव्वाणीएण य णट्टाणीएण य सद्धि संपरिवुडे, तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवएणं दुरुहति दुरुहित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे।

५६—आभियोगिक देव से दिव्य यान विमान के निर्माण होने समाचार सुनने के पश्चात् इस सूर्याभदेव ने हर्षित, संतुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हो, जिनेन्द्र भगवान् के सम्मुख गमन करने योग्य दिव्य उत्तरवैक्रिय रूप की विकुर्वणा की। विकुर्वणा करके उनके अपने परिवार सहित चार अग्र महिषियों एवं गंधर्व तथा नाट्य इन दो अनीकों को साथ लेकर उस दिव्य यान-विमान की अनुप्रदक्षिणा करके पूर्व दिशावर्ती अतीव मनोहर त्रिसोपानों से दिव्य यान-विमान पर आरूढ हुआ और सिंहासन के समीप आकर पूर्व की ओर मुख करके उस पर बैठ गया।

५७—तए णं तस्स सूरिआभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ तं दिव्वं जाणविमाणं अणुपयाहिणीकरेमाणा उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति दुरूहित्ता पत्तेयं पत्तेयं पुव्वण्णत्थेहिं

---

१. देखे सूत्र सख्या ३१, ३३, ३५, ३७, ३९
२. देखे सूत्र संख्या ४१, ३३
३. देखें सूत्र सख्या १८

भद्दासणेहिं णिसीयंति। अवसेसा देवा य देवीओ य तं दिव्वं जाणविमाणं जाव (अणुपयाहिणी करेमाणा) दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं दुरूहंति, दुरूहित्ता पत्तेयं पत्तेयं पुव्वण्णत्थेहिं भद्दासणेहिं निसीयंति।

५७—तत्पश्चात् सूर्याभ देव के चार हजार सामानिक देव उस यान विमान की प्रदक्षिणा करते हुए उत्तर दिग्वर्ती त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस पर चढ़े और अपने लिये पहले से ही स्थापित भद्रासनों पर बैठे तथा इनसे शेष रहे और दूसरे देव एवं देवियाँ भी प्रदक्षिणापूर्वक दक्षिण दिशा के सोपानों द्वारा उस दिव्य-यान विमान पर चढ़कर प्रत्येक अपने-अपने लिये पहले से ही निश्चित भद्रासनों पर बैठे।

५८—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स तं दिव्वं जाणविमाणं दुरूढस्स समाणस्स अट्ठ-मङ्गलगा पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिता, तं जहा—सोत्थिय-सिरिवच्छ-जाव (नन्दियावत्त-वद्धमाणग-भद्दासन-कलस-मच्छ) दप्पणा।

५८—उस दिव्य यान विमान पर सूर्याभदेव आदि देव-देवियों के आरूढ हो जाने के पश्चात् अनुक्रम से आठ मंगल-द्रव्य उसके सामने चले। वे आठ मंगल-द्रव्य इस प्रकार हैं—१. स्वस्तिक २. श्रीवत्स यावत् (३. नन्दावर्त ४. वर्धमानक—शरावसम्पुट—सिकोरे का संपुट ५. भद्रासन, ६. कलश, ७. मत्स्ययुगल और) ८. दर्पण।

५९—तयणंतरं च णं पुण्णकलसभिंगार दिव्वा य छत्तपडागा सचामरा दंसणरतिया-आलोयद-रिसणिज्जा वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागा ऊसिया गगण-तलमणुलिहंती पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया।

५९—आठ मंगल द्रव्यों के अनन्तर पूर्ण कलश, भृंगार—झारी, चामर सहित दिव्य छत्र, पताका तथा इनके साथ गगन तल का स्पर्श करती हुई अतिशय सुन्दर, आलोकदर्शनीय (प्रस्थान करते समय मांगलिक होने के कारण दर्शनीय) और वायु से फरफराती हुई एक बहुत ऊंची विजय वैजयंती पताका अनुक्रम से उसके आगे चली।

६०—तयणंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदण्डं पलम्बकोरंटमल्लदामोवसोभितं चंदमंडलनिभं समुस्सियं विमलमायवत्तं पवरसीहासणं च मणिरयणभत्तिचित्तं सपायपीढं सपाउयाजोयसमाउत्तं बहु-किंकरामरपरिग्गहियं पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थियं।

६०—विजय वैजयन्ती पताका के अनन्तर वैडूर्यरत्नों से निर्मित दीप्यमान, निर्मल दंडवाले लटकती हुई कोरंट पुष्पों की मालाओं से सुशोभित, चन्द्रमंडल के समान निर्मल, श्वेत-धवल ऊंचा आतपत्र-छत्र और अनेक किंकर देवों द्वारा वहन किया जा रहा, मणिरत्नों से बने हुए वेलबूटों से उपशोभित, पादुकाद्वय युक्त पादपीठ सहित प्रवर—उत्तम सिंहासन अनुक्रम से उसके आगे चला।

६१—तयणंतरं च णं वइरामयवट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठपरिघट्ठमट्ठसुपतिट्ठिए विसिट्ठे अणेगवरपंच-वण्ण-कुडभीसहस्सुस्सिए परिमंडियाभिरामे वाउद्धुयविजय-वेजयंती पडागच्छत्तातिच्छत्तकलिते तुंगे गगणतलमणुलिहंतसिहरे जोजणसहस्समूसिए महतिमहालए महिंद-ज्झए अहाणुपुव्वीए संपत्थिए।

६१—तत्पश्चात् वज्ररत्नों से निर्मित गोलाकार कमनीय-मनोज्ञ, (गोल) दांडे वाला, शेष ध्वजाओं मे विशिष्ट एवं और दूसरी बहुत सी मनोरम छोटी वड़ी अनेक प्रकार की रगविरंगी पचरंगी ध्वजाओं से परिमडित, वायु वेग से फहराती हुई विजयवैजयंती पताका, छत्रातिछत्र से युक्त, आकाश-मंडल को स्पर्श करने वाला हजार योजन ऊंचा एक बहुत बड़ा इन्द्रध्वज नामक ध्वज अनुक्रम से उसके आगे चला।

६२—तयणंतरं च णं सुरूवणेवत्थपरिकच्छिया सुसज्जा सव्वालंकारभूसिया महया भडचडगर-पहकारेणं पंच अणीयाहिवईओ पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया।

६२—इन्द्र ध्वज के अनन्तर सुन्दर वेष भूषा से सुसज्जित, समस्त आभूषण-अलंकारों से विभूषित और अत्यन्त प्रभावशाली सुभटों के समुदायों को साथ लेकर पांच सेनापति[1] अनुक्रम से आगे चले।

६३—तयणंतरं च णं बहवे आभिओगिया देवा देवीओ य सएहिं सएहिं रूवेहिं, सएहिं सएहिं विसेसेहिं सएहिं सएहिं विंदेहिं, सएहिं सएहिं णेज्जाएहिं, सएहिं सएहिं णेवत्थेहिं पुरतो अहाणुपुव्वीए संपत्थिया।

६३—तदनन्तर बहुत से आभियोगिक देव और देवियां अपनी-अपनी योग्य-विशिष्ट वेश-भूषाओं और विशेषतादर्शक अपने-अपने प्रतीक चिह्नों से सजधजकर अपने-अपने परिकर, अपने-अपने नेजा और अपने-अपने कार्यो के लिये कार्योपयोगी उपकरणों-साधनो को साथ लेकर अनुक्रम से आगे चले।

६४—तयणंतरं च णं सूरियाभविमाणवासिणो बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य सव्वड्ढीए जाव (सव्वजुईए, सव्वबलेणं, सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्व-पुप्फ-गंध-मल्लालंकारेणं सव्व-तुडिय-सद्द-सण्णिणाएणं महया इड्ढीए, महया जुईए, महया बलेणं, महया समुदएणं महया वर-तुडिय-जमगसमग-प्पवाइएणं संख-पणव-पटह-भेरि-झल्लरि-खरमुहि-हुडुक्क-मुरय-मुइंग-दुन्दुभिनिग्घोसनाइय) रवेणं सूरियाभं देवं पुरतो पासतो य मग्गतो य समणुगच्छंति।

६४—तत्पश्चात् सबसे अंत में उस सूर्याभ विमान में रहने वाले बहुत से वैमानिक देव और देवियां अपनी अपनी समस्त ऋद्धि से, यावत् (सर्व द्युति, बल-सेना, परिवार रूप समुदाय, आदर-संमान, शृ गार-विभूषा, विभूति-ऐश्वर्य, सम्भ्रम (भक्तिजन्य उत्सुकता) सर्वप्रकार के पुष्पो, गध, माला, अलकारों, सर्व प्रकार के वाद्यों की मधुर ध्वनि तथा अपनी विशिष्ट ऋद्धि, महान् द्युति, महान् सेना, महान् समुदाय तथा एक साथ बजते हुए अनेक वाद्यों की मधुर ध्वनि एवं शंख, पणव, पटह-ढोल, भेरी, झल्लरी, खरमुखी, हुडुक्क, मुरज-मृदंग और दुन्दुभिनिनाद की) प्रतिध्वनि से शोभित होते हुए उस सूर्याभदेव के आगे-पीछे, आजू-बाजू में साथ-साथ चले।

सूर्याभदेव का आमलकल्पा नगरी की ओर प्रस्थान

६५—तए णं से सूरियाभे देवे तेणं पंचाणीयपरिक्खित्तेणं वइरामयवट्टलट्ठसंठिएण जाव[2] जोयण-

---

१. अश्व, गज, रथ, पदाति और वृषभ सेनाओं के अधिपति।

२. देखें सूत्र संख्या ६१

सहस्समूसिएणं महतिमहालतेणं महिंदज्झएणं पुरतो कड्ढिज्जमाणेणं चउहिं सामाणियसहस्सेहिं जाव[1] सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहि सूरियाभविमाणवासिहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धि संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव[2] रवेणं सोधम्मस्स कप्पस्स मज्झंमज्झेणं तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं उवलालेमाणे उवलालेमाणे उवदंसेमाणे उवदंसेमाणे पडिजागरेमाणे पडिजागरेमाणे जेणेव सोहम्मस्स कप्पस्स उत्तरिल्ले णिज्जाणमग्गे तेणेव उवागच्छति, जोयणसयसाहस्सितेहिं विग्गहेहिं ओवयमाणे वीईवयमाणे ताए उक्किट्ठाए जाव[3] तिरियं असंखिज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीइवयमाणे वीइवयमाणे जेणेव नंदीसरवरे दीवे, जेणेव दाहिणपुरत्थिमिल्ले रतिकरपव्वते, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तं दिव्वं देविड्ढि जाव दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरेमाणे पडिसाहरेमाणे पडिसंखेवेमाणे पडिसंखेवेमाणे जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे जेणेव आमलकप्पा नयरी जेणेव अंबसालवणे चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तेणं दिव्वेणं जाणविमाणेणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता समणस्स भगवतो महावीरस्स उत्तरपुरित्थिमे दिसिभागे तं दिव्वं जाणविमाणं ईसि चउरंगुलमसंपत्तं धरणितलंसि ठवेइ, ठवित्ता चउहिं अग्गमहिसीहिं सपरिवाराहिं, दोहिं अणीयाहिं, तं जहा—गंधव्वाणिएण य णट्टाणिएण य-सद्धि संपरिवुडे ताओ दिव्वाओ, जाणविमाणाओ पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति ।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ उत्तरिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति अवसेसा देवा य देवीओ य ताओ दिव्वाओ जाणविमाणाओ दाहिणिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहंति ।

६५—तत्पश्चात् पांच अनीकाधिपतियों द्वारा परिरक्षित वज्ररत्नमयी गोल मनोज्ञ संस्थान—आकारवाले यावत् एक हजार योजन लम्बे अत्यंत ऊंचे महेन्द्रध्वज को आगे करके वह सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देवों एवं सूर्याभविमानवासी और दूसरे वैमानिक देव-देवियों के साथ समस्त ऋद्धि यावत् वाद्यनिनादों सहित दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव-प्रभाव का अनुभव, प्रदर्शन और अवलोकन करते हुए सौधर्मकल्प के मध्य भाग में से निकलकर सौधर्मकल्प के उत्तरदिग्वर्ती निर्याण मार्ग—निकलने के मार्ग के पास आया और एक लाख योजन प्रमाण वेग वाली यावत् उत्कृष्ट दिव्य देवगति से नीचे उतर कर गमन करते हुए तिर्छे, असंख्यातद्वीप समुद्रों के बीचोबीच से होता हुआ नन्दीश्वरद्वीप और उसकी दक्षिणपूर्व दिशा (आग्नेय कोण) में स्थित रतिकर पर्वत पर आया । वहां आकर उस दिव्य देव ऋद्धि यावत् दिव्य देवानुभाव को धीरे धीरे संकुचित और संक्षिप्त करके जहां जम्बूद्वीप नामक द्वीप और उसका भरत क्षेत्र था एवं उस भरत क्षेत्र में भी जहां आमलकल्पा नगरी तथा आम्रशालवन चैत्य था और उस चैत्य में भी जहां श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहां आया, वहां आकर उस दिव्य-यान—विमान के साथ श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा करके श्रमण भगवान् महावीर की अपेक्षा उत्तरपूर्व—दिग्भाग-ईशानकोण—में ले जाकर भूमि से चार अंगुल ऊपर अधर रखकर उस दिव्य-यान विमान को खड़ा किया ।

---

१. देखें सूत्र संख्या ७
२. देखें सूत्र संख्या ६४
३. देखें सूत्र संख्या १३

उस दिव्य यानविमान को खड़ा करके वह सपरिवार चारों अग्रमहिषियों, गंधर्व और नाट्य इन दोनो अनीकों—सेनाओं को साथ लेकर पूर्व दिशावर्ती त्रिसोपान-प्रतिरूपक द्वारा उस दिव्ययान विमान से नीचे उतरा।

तत्पश्चात् सूर्याभदेव के चार सामानिक देव उत्तरदिग्वर्ती त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस दिव्य-यान—विमान से नीचे उतरे। तथा इनके अतिरिक्त शेष दूसरे देव और देवियाँ दक्षिण दिशा के त्रिसोपान प्रतिरूपक द्वारा उस दिव्य-यान—विमान से उतरे।

सूर्याभदेव का समवसरण में आगमन

६६—तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं अग्गमहिसीहिं जाव[1] सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अण्णेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहि य सद्धि संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव[2] णादितरवेणं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करित्ता वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

'अहं णं भंते ! सूरियाभे देवे देवाणुप्पियाणं वंदामि नमंसामि जाव (सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं) पज्जुवासामि'।

६६—तदनन्तर वह सूर्याभदेव सपरिवार चार अग्रमहिषियों यावत् सोलह हजार आत्म-रक्षक देवों तथा अन्यान्य बहुत से सूर्याभविमानवासी देव-देवियों के साथ समस्त ऋद्धि-वैभव यावत् वाद्य निनादों सहित चलता हुआ श्रमण भगवान् महावीर के समीप आया। आकर श्रमण भगवान् की दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और वन्दन-नमस्कार करके—सविनय नम्र होकर बोला—

'हे भदन्त ! मै सूर्याभदेव आप देवानुप्रिय को वन्दन करता हूं, नमन करता हूं यावत् आपका (सत्कार-सन्मान करता हूं और कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप एवं चैत्यरूप आपकी) पर्युपासना करता हूं।

६७—'सूरियाभा' इ समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी—

पोराणमेयं सूरियाभा ! जीयमेयं सूरियाभा ! किच्चमेयं सूरियाभा ! करणिज्जमेयं सूरियाभा! आइण्णमेयं सूरियाभा ! अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा ! जं णं भवणवइ-वाणमंतर-जोइस-वेमाणिया देवा अरहंते भगवंते वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तओ पच्छा साइं साइं नाम-गोत्ताइं साहिंति, तं पोराणमेयं सूरियाभा ! जाव[3] अब्भणुण्णायमेयं सूरियाभा !'

६७—'हे सूर्याभ !' इस प्रकार से सूर्याभदेव को संबोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने उस सूर्याभदेव से इस प्रकार कहा—'हे सूर्याभ ! यह पुरातन है। हे सूर्याभ ! यह जीत-परम्परागत व्यवहार है। हे सूर्याभ ! यह कृत्य है।, हे सूर्याभ ! यह करणीय है।, हे सूर्याभ ! यह पूर्व परम्परा से

---

१. देखें सूत्र सख्या ७ २. देखें सूत्र संख्या १९
३. देखें सूत्र संख्या १४

आचरित है। हे [illegible] [illegible]
वैमानिक देव [illegible]
पश्चात् वे [illegible]
प्रवृत्ति पुरातन है [illegible]

[illegible]
चित्तमाणंदिए [illegible]
नमंसति, वंदित्ता [illegible]
पज्जुवासति।

[illegible]
हुआ यावत् [illegible]
हुआ, [illegible]
करके न [illegible]
करता हुआ, [illegible]
करने [illegible]।

[illegible]
जाव ([illegible]
परिवाराए) [illegible]।

[illegible]
परिषद् को [illegible]
को, अनेक [illegible]
को) [illegible]

विवेचन—[illegible]
की [illegible]
मुनिपरिषद, [illegible]
भी बहुत से [illegible]।

[illegible]
सूत्र में [illegible]—

[illegible]
कांतिरूप [illegible]
निर्दोष [illegible]
तथा मुखों में [illegible]
अंगर [illegible]
[illegible]

तथा सैकड़ों हजारों ऋषियों, मुनियों, यतिओं देवों आदि श्रोताओं के समूह वाली उस महती परिषदा को एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर से अर्धमागधी भाषा में धर्मदेशना दी।

भगवान् द्वारा उद्गीर्ण वह अर्धमागधी भाषा उन सभी आर्य-अनार्य श्रोताओ की भाषाओं में परिणत हो गई।

भगवान् द्वारा दी गई धर्मदेशना इस प्रकार है—

'लोक' का अस्तित्व है अलोक का अस्तित्व है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, अर्हंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नारक, तिर्यचयोनि, तिर्यचयोनिज जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिर्वाण-कर्मजनित आवरण से रहित जीवों का अस्तित्व है।

प्राणातिपात—हिंसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह, अभ्याख्यान पैशून्य परपरिवाद—निन्दा, रति, अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शन-शल्य आदि वैभाविक भावों का अस्तित्व है।

प्राणातिपातविरमण—हिंसाविरति, मृषवादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण, मिथ्यादर्शनशल्यविरमण आदि आत्मा की विशुद्धि करने वाले भावों का अस्तित्व है।

सभी अस्तिभाव स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप हैं और सभी नास्तिभाव परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है।

सुआचरित—शुद्धभावों से आचरण किये गये दान शील आदि कर्म-कार्य उत्तम फल देनेवाले है और दुराचरित—पापकारी कार्य दुःखकारी फल देने वाले हैं। श्रेष्ठ उत्तम कार्यो से जीव पुण्य का और पाप कार्यो से पाप का उपार्जन करता है। संसारी जीव जन्म-मरण करते रहते हैं। शुभ और अशुभ कर्म-कार्य फल युक्त हैं—निष्फल नहीं हैं।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन—वीतराग भगवन्तों द्वारा उपदिष्ट धर्म, सत्य, अनुत्तर, अद्वितीय, सर्वात्मना शुद्ध, परिपूर्ण है, प्रमाण से अबाधित है, माया, मिथ्यात्व आदि शल्यों का निवारक है। सिद्धिमार्ग-सिद्धावस्था प्राप्त करने का उपाय है, मुक्तिमार्ग-कर्मरहित अवस्था प्राप्त करने का कारण है, निर्वाणमार्ग—सकल संताप रहित आत्मदशा प्राप्त करने का हेतु है; निर्याणमार्ग—पुनः जन्म-मरण रूप संसार से पार होने का मार्ग है, अवितथ—यथार्थ, अविसन्धि-विच्छेदरहित—समस्त दुःखों को सर्वथा क्षय करनेवाला है। इसमें स्थित जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं, मुक्त होते है, परिनिर्वाण दशा को प्राप्त करते है, और समस्त सांसारिक दुःखों का अन्त करते हैं।

एकार्च्चा—जिनके एक ही मनुष्यभव धारण करना शेष रह गया है, ऐसे एक भवावतारी पूर्व-कर्मो के शेष रहने से किन्हीं महर्द्धिक देवलोकों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं और वहां महान ऋद्धि-सम्पन्न दीर्घ आयु स्थिति वाले होते हैं। उनके वक्षःस्थल हार-मालाओं से सुशोभित होते हैं, और अपनी दिव्य प्रभा से सभी दिशाओं को प्रभासित करते हैं। वे कल्पोपपन्न या कल्पातीत देवों में उत्पन्न होते हैं। वे वर्तमान में भी उत्तमगति, स्थिति को प्राप्त करते हैं और भविष्य में कल्याणप्रद स्थान को प्राप्त करनेवाले और असाधारण रूप से सम्पन्न होते हैं।

जीव महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों का वध और मांसाहार इन चार कारणों से नरकयोग्य कर्मों का उपार्जन करता है और नारक रूप में उत्पन्न होता है।

इन चार कारणों से जीव तिर्यंचगति को प्राप्त करता है और तिर्यंचयोनि में उत्पन्न होता है—१. मायाचार, २. असत्यभाषण, ३. उत्कंचनता—खुशामद या धूर्तता, ४. वंचनता—धोखा देना, ठगना।

इन कारणों से जीव मनुष्ययोनि में उत्पन्न होते हैं—१. प्रकृतिभद्रता २. प्रकृतिविनीतता ३. सानुक्रोशता—दयावृत्ति ४. अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणों से जीव देवों में उत्पन्न होते हैं—१. सरागसंयम, २. संयमासंयम, ३. अकाम-निर्जरा, ४. बालतप—अज्ञान अवस्था में तप करना।

धर्म दो प्रकार का है—१. अगारधर्म २. अनगारधर्म। अनगार धर्म का पालन वह जीव करता है जो सर्व प्रकार से मुंडित होकर गृहस्थ अवस्था—घर का त्याग कर श्रमण-प्रव्रज्या को अंगीकार कर अनगार बनता है। सर्वप्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण और रात्रिभोजनविरमण व्रत को स्वीकार करता है। इस धर्म के पालन करने में जो निर्ग्रन्थ अथवा निर्ग्रन्थी (साधु, साध्वी) प्रयत्नशील हो अथवा पालन करता हो वह आज्ञा का आराधक होता है।

अगारधर्म बारह प्रकार का बताया है—पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत। पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं—स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसंतोष, इच्छा-परिग्रह की मर्यादा बांधना।

तीन गुणव्रत इस प्रकार है—अनर्थदंडविरमण, दिग्व्रत, उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत।

चार शिक्षाव्रत इस प्रकार है—सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास, अतिथि-संविभागव्रत और जीवनान्त के समय जो धारण किया जाता है एवं मरण निकट हो तब कषाय और काया को कृश करके प्रीतिपूर्वक जिसकी आराधना की जाती है ऐसा संलेखनाव्रत। यह बारह प्रकार का अगार-सामायिक धर्म है।

इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित श्रावक या श्राविका आज्ञा के आराधक होते है।

भगवान् की इस देशना को सुनकर उस महती सभा में उपस्थित मनुष्यों मे से अनेको ने श्रमण दीक्षा ली, अनेकों ने पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार का गृहीधर्म अंगीकार किया।

शेष परिषदा ने अपने प्रमोदभाव को प्रकट करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, और फिर कहा—हे भदन्त! आप द्वारा सुआख्यात, सुप्रज्ञप्त, सुभाषित, सुविनीत, सुभावित निर्ग्रन्थप्रवचन अनुत्तर है। धर्म की व्याख्या करते हुए आपने उपशम—क्रोधादि की शांति का उपदेश दिया है, उपशम के उपदेश के प्रसंग मे आपने विवेक का व्याख्यान किया है, विवेक की व्याख्या करते हुए आपने प्राणातिपात आदि से विरत होने का निरूपण किया है, विरमण का उपदेश

देने के प्रसंग में आपने पापकर्म नही करने का विवेचन किया है। आपसे भिन्न दूसरा कोई श्रमण या ब्राह्मण इस प्रकार का उपदेश नही कर सकता है, तो फिर इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की बात कहाँ ?

इस प्रकार से कह कर वह परिषदा जिस दिशा से आई थी, वापस उसी ओर लौट गई।

सूर्याभदेव की जिज्ञासा का समाधान

७०—तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेति उट्ठित्ता समणं भगवंतं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

'अहं णं भंते ! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धिते, अभवसिद्धिते ? सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी ? परित्तसंसारिते, अणंतसंसारिते ? सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए ? आराहए, विराहए ? चरिमे, अचरिमे ?

७०—तदनन्तर वह सूर्याभदेव श्रमण भगवान् महावीर प्रभु से धर्मश्रवण कर और हृदय में अवधारित कर हर्षित एवं संतुष्ट यावत् आह्लादितहृदय हुआ। अपने आसन से खड़े होकर उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार प्रश्न किया—

'भगवन् ! मैं सूर्याभदेव क्या भवसिद्धिक—भव्य हूँ अथवा अभवसिद्धिक—अभव्य हूँ ? सम्यग्-दृष्टि हूँ या मिथ्यादृष्टि हूँ ? परित्त संसारी—परमित काल तक संसार में भ्रमण करने वाला हूँ अथवा अनन्त संसारी—अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करने वाला हूँ ? सुलभबोधि—सरलता से सम्यग्-ज्ञानदर्शन की प्राप्ति करने वाला हूँ अथवा दुर्लभबोधि हूँ ? आराधक—बोधि की आराधना करने वाला हूँ अथवा विराधक हूँ ? चरम शरीरी हूँ अथवा अचरम शरीरी हूँ ?

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संसारी जीवों की चरम लक्ष्य प्राप्त करने की भावना का दिग्दर्शन कराया है। यद्यपि संसारी जीव अनादि काल से इस जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करते आ रहे हैं, परन्तु चाहते यही हैं कि उस आत्मरमणता स्थिति को प्राप्त कर लूं कि जिसके पश्चात् न पुनर्जन्म है और न पुनःमरण है तथा न बार-बार के जन्म-मरण के कारण सांसारिक आधि-व्याधियाँ है। यह आकांक्षा तभी सफल हो पाती है जब उस जीव में मुक्त होने की योग्यता पाई जाती है। ऐसी योग्यता उसी में पाई जाती है जो भव्य हो अर्थात् अभी न सही किन्तु कालान्तर में कभी-न-कभी जिसे मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। इसीलिये सूर्याभदेव ने सर्वप्रथम भगवान् के समक्ष यही जिज्ञासा व्यक्त की कि—हे भगवन् ! मै मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता वाला—भव्य हूँ अथवा नही हूँ ?

योग्यता होने पर मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब सम्यक् श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति, दृष्टि हो। सम्यक् श्रद्धा के न होने पर जीव चाहे भव्य (मुक्ति योग्य) हो किन्तु वह प्राप्त नहीं की जा सकती। इस तथ्य को समझने के लिए सूर्याभदेव ने दूसरा प्रश्न पूछा—मैं सम्यग्दृष्टि हूँ अथवा नही हूँ ?

सम्यग्दृष्टि हो जाने पर भी यह निश्चित नही है कि सभी जीव शीघ्र मुक्ति प्राप्त करे। ऐसे जीव भी अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले हो सकते हैं और यह भी सम्भव है कि सीमित समय में मुक्ति प्राप्त कर लें। इसी बात को जानने के लिए पूछा—भगवन् ! मैं परिमितकाल तक संसारभ्रमण करने वाला हूँ अथवा अनन्त काल तक मुझे संसार में भ्रमण करना पड़ेगा ?

संसारभ्रमण का परिमित काल होने पर भी जीव तभी मुक्त हो सकता है जब तदनुकूल और तदनुरूप सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र का सुयोग-संयोग मिले। इसीलिये सूर्याभदेव ने भगवान् से यह जानना चाहा कि मैं सम्यग्ज्ञानदर्शन-चारित्र की साधना करने में तत्पर हो सकूँगा? उनकी साधना करने का अवसर सुलभता से प्राप्त होगा अथवा नहीं?

सुलभबोधि होने पर भी सभी जीव सम्यग्ज्ञान आदि की यथाविधि आराधना करने में समर्थ नहीं हो पाते है। लोकैषणाओं, परीषह, उपसर्गों आदि के कारण आराधना से विचलित होकर लक्ष्य के निकट पहुँचने पर भी संसार में भटक जाते है। इसी स्थिति को समझने के लिए सूर्याभदेव ने भगवान् से पूछा—मैं आराधक ही रहूँगा अथवा भटक जाऊँगा? और सबसे अन्त में अपनी समस्त जिज्ञासाओं का निष्कर्ष जानने के लिये उत्सुकता से पूछा कि भव्य सुलभबोधि, आराधक आदि होने पर भी मुझे क्या मुक्ति प्राप्ति की काल-लब्धि प्राप्त हो चुकी है? संसार में रहने का मेरा इसके बाद का भव अन्तिम है अथवा और दूसरे भी भवान्तर शेष हैं?

उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि योग्यता, निमित्त और उन निमित्तों का सदुपयोग करने के लिये तदनुकूल प्रवृत्ति करने पर ही जीव मुक्ति प्राप्त करता है। अत एव सर्वदा पुरुषार्थ के प्रति समर्पित होकर जीव को प्रयत्नशील रहना चाहिए।

७१—'सूरियाभा' इ समण भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वदासी—सूरियाभा! तुमं णं भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिते जावे[1] चरिमे णो अचरिमे।

७१—'सूर्याभ!' इस प्रकार से सूर्याभदेव को सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने सूर्याभदेव को उत्तर दिया—

हे सूर्याभ! तुम भवसिद्धिक-भव्य हो, अभवसिद्धिक-अभव्य नहीं हो, यावत् चरम शरीरी हो अर्थात् इस भव के पश्चात् का तुम्हारा मनुष्यभव अन्तिम होगा, अचरम शरीरी नहीं हो अर्थात् हे सूर्याभ! तुम भव्य हो, सम्यग्दृष्टि हो, परमित संसार वाले हो, तुम्हें बोधि की प्राप्ति सुलभ है, तुम आराधक हो और चरम शरीरी हो।

सूर्याभदेव द्वारा मनोभावना का निवेदन

७२—तए णं से सूरिआभे देवे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ चित्तमाणंदिए परमसोमणस्सिए समणं भगवंतं महावीरं वंदति नमंसत्ति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—

तुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह, सव्वं पासह, सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह, सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह।

जाणंति णं देवाणुप्पिया! मम पुव्विं वा पच्छा वा मम एयारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ति। तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोयमाइयाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसतिबद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए।

१. देखें सूत्र संख्या ७०

७२—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन को सुनकर उस सूर्याभदेव ने हर्षित सन्तुष्ट चित्त से ग्रानन्दित ग्रौर परम प्रसन्न होते हुए श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया ग्रौर वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार निवेदन किया—

हे भदन्त ! ग्राप सब जानते है ग्रौर सब देखते हैं, सर्वत्र दिशा-विदिशा, लोक-ग्रलोक में विद्यमान समस्त पदार्थो को जानते हैं ग्रौर देखते है। सर्व काल—ग्रतीत-ग्रनागत-वर्तमान काल को ग्राप जानते ग्रौर देखते हैं; सर्व भावों को ग्राप जानते ग्रौर देखते हैं।

ग्रतएव हे देवानुप्रिय ! पहले ग्रथवा पश्चात् लब्ध, प्राप्त एव ग्रधिगत इस प्रकार की मेरी दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देवद्युति तथा दिव्य देवप्रभाव को भी जानते ग्रौर देखते है। इसलिये ग्राप देवानुप्रिय की भक्तिवश होकर में चाहता हूँ कि गौतम ग्रादि निर्ग्रन्थों के समक्ष इस दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति—कांति, दिव्य देवानुभाव—प्रभाव तथा बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि—नाट्यकला को प्रदर्शित करूँ।

७३—तए णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं णो ग्राढाति, णो पारियाणति, तुसिणीए संचिट्ठति।

७३—तब सूर्याभदेव के इस प्रकार निवेदन करने पर श्रमण भगवान् महावीर ने सूर्याभदेव के इस कथन का ग्रादर नहीं किया, उसकी ग्रनुमोदना नहीं की, किन्तु वे मौन रहे।

विवेचन—ग्रात्मविज्ञानी भगवान् की स्थितप्रज्ञ दशा को देखते हुए यह स्वाभाविक है कि वे सूर्याभदेव के निवेदन को ग्रादर न दें, उदासीन-मौन रहें, परन्तु सूर्याभदेव की मनोभूमिका को देखते हुए वह उनके सामने नाटक दिखाने के सिवाय ग्रौर कर भी क्या सकता था ? भक्तों की दो कोटियाँ हैं—पहली मन, वचन, काय से ग्रपने भजनीय का ग्रनुसरण करने वालों ग्रथवा ग्रनुसरण करने के लिये प्रयत्नशील रहने वालों की। ये बाह्य प्रदर्शनों के बजाय भजनीय के शुद्ध ग्रनुसरण को ही भक्ति समझते हैं। दूसरी कोटि है प्रशंसकों की, जो भजनीय का ग्रनुसरण करने योग्य पुरुषार्थशाली नहीं होने से उनके प्रशंसक होकर सन्तोष मानते हैं। ऐसे प्रशंसक बाह्य-प्रदर्शन के सिवाय ग्रांतरिक भक्ति तक पहुँच नहीं सकते हैं। ये प्रशंसक बाह्य—प्रदर्शन के प्रति भजनीय की उदासीनता को समझते हुए भी ग्रपनी प्रसन्नता के लिये बाह्य-प्रदर्शन के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ कर सकें, वैसे नहीं होते हैं। यही ग्रौपचारिक भक्ति के ग्राविर्भाव होने का कारण प्रतीत होता है जो सूर्याभदेव के निवेदन से स्पष्ट है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भगवान् के मौन रहने में **'यद् यदाचरति शिष्टः तत् तदेवेतरो जनः'** इस उक्ति का तत्त्व भी गर्भित है। टीकाकार ने सूर्याभदेव की इस नाटकविधि को स्वाध्याय ग्रादि कर्त्तव्य का विघातक बताया है—'गौतमादीनां च नाट्यविधेः स्वाध्यायादि-विघातकारित्वात्।'

७४—तए णं से सूरियाभे देवे समणं भगवन्तं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—तुब्भे णं भंते ! सव्वं जाणह जाव उवदंसित्तए त्ति कट्टु समणं भगवन्तं तिक्खुत्तो ग्रायाहिणं पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दण्डं निस्सिरति, ग्रहाबायरे०

अहासुहुमे०[1]। दोच्चं पि विउव्वियसमुग्घाएणं जाव बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं विउव्वति। से जहानामए आलिंगपुक्खरे इ वा जाव मणीणं फासो।[2]

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे पिच्छाघरमण्डवं विउव्वति अणेग-खंभसयसंनिविट्ठं वण्णओ-अन्तो बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं उल्लोयं अक्खाडगं च मणिपेढियं च विउव्वति। तीसे णं मणिपेढियाए उवरि सीहासणं सपरिवारं जाव दामा चिट्ठन्ति।[3]

७४—तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने दूसरी और तीसरी बार भी पुनः इसी प्रकार से श्रमण भगवान् महावीर से निवेदन किया—

हे भगवन्! आप सब जानते हैं आदि, यावत् नाटयविधि प्रदर्शित करना चाहता हूँ। इस प्रकार कहकर उसने दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार किया और वन्दन-नमस्कार करके उत्तर पूर्व दिशा में गया। वहाँ जाकर वैक्रियसमुद्घात करके संख्यात योजन लम्बा दण्ड निकाला। यथाबादर (असार) पुद्गलों को दूर करके यथासूक्ष्म (सारभूत) पुद्गलों का संचय किया। इसके बाद पुनः दुबारा वैक्रिय समुद्घात करके यावत् बहुसमरमणीय भूमि भाग की रचना की। जो पूर्ववर्णित आलिंग पुष्कर आदि के समान सर्वप्रकार से समतल यावत् रूप रस गंध और स्पर्श वाले मणियों से सुशोभित था।

उस अत्यन्त सम और रमणीय भूमिभाग के मध्यातिमध्य भाग में एक प्रेक्षागृहमंडप—नाटकशाला की रचना की। वह अनेक सैकड़ों स्तम्भों पर संनिविष्ट था इत्यादि वर्णन पूर्व के समान यहाँ कर लेना चाहिए।

उस प्रेक्षागृह मंडप के अन्दर अतीव समतल, रमणीय भूमिभाग, चन्देवा, रंगमंच और मणिपीठिका की विकुर्वणा की और उस मणिपीठिका के ऊपर फिर उसने पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिंहासन को रचना यावत् उसका ऊपरी भाग मुक्तादामों से शोभित हो रहा था।

७५—तए णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवतो महावीरस्स आलोए पणामं करेति, करित्ता 'अणुजाणउ मे भगवं, ति कट्टु, सीहासणवरगए तित्थयराभिमुहे संणिसण्णे।

तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए नानामणिकणगरयणविमलमहरिहनिउणओवियमिसि-मिसिंतविरइयमहाभरणकडग-तुडियवरभूसणुज्जलं पीवरं पलम्बं दाहिणं भुयं पसारेति। तओ णं सरिस-याणं सरित्तयाणं सरिव्वयाणं सरिसलावण्ण-रूवजोव्वणगुणोववेयाणं एगाभरण-वसणगहि-अणिज्जोआणं दुहतो संवेल्लियग्गणियत्थाणं उप्पीलियचित्तपट्टपरियरसफेणकावत्तरइयसंगयपलंववत्थंत-चित्तचिल्ललगनियंसणाणं एगावलिकण्ठरइयसोभंतवच्छपरिहत्थभूसणाणं अट्ठसयं णट्टसज्जाणं देवकुमाराणं णिग्गच्छति।

७५—तत्पश्चात् उस सूर्याभदेव ने श्रमण भगवान् महावीर की ओर देखकर प्रणाम किया और प्रणाम करके 'हे भगवन्! मुझे आज्ञा दीजिये' कहकर तीर्थंकर की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिंहासन—पर सुखपूर्वक बैठ गया।

---

१. देखें सूत्र संख्या १३ २. देखें सूत्र संख्या ३०-४४ ३. देखें सूत्र संख्या ४५-५१

इसके पश्चात् नाट्यविधि प्रारम्भ करने के लिये सबसे पहले उस सूर्याभदेव ने निपुण शिल्पियों द्वारा बनाये गये अनेक प्रकार की विमल मणियों, स्वर्ण और रत्नों से निर्मित भाग्यशालियों के योग्य, देदीप्यमान, कटक त्रुटित आदि श्रेष्ठ आभूषणों से विभूषित उज्ज्वल पुष्ट दीर्घ दाहिनी भुजा को फैलाया—लम्बा किया।

उस दाहिनी भुजा से एक सौ आठ देवकुमार निकले। वे समान शरीर-आकार, समान रंग-रूप, समान वय, समान लावण्य, युवोचित गुणों वाले, एक जैसे आभरणों, वस्त्रों और नाट्योपकरणों से सुसज्जित, कन्धों के दोनों ओर लटकते पल्लो वाले उत्तरीय वस्त्र (दुपट्टे) धारण किये हुए, शरीर पर रंग-विरंगे कंचुक वस्त्रो को पहने हुए, हवा का झोंका लगने पर विनिर्गत फेन जैसी प्रतीत होने वाली झालर युक्त चित्र-विचित्र देदीप्यमान, लटकते अधोवस्त्रों (चोगा) को धारण किये हुए, एकावली आदि आभूषणो से शोभायमान कण्ठ एवं वक्षस्थल वाले और नृत्य करने के लिए तत्पर थे।

७६—तयणंतरं च ण नानामणि जाव[1] पीवरं पलंबं वामं भुयं पसारेति, तओ णं सरिसयाणं, सरित्तयाणं, सरिव्वयाणं, सरिसलावण्ण-रुव-जोव्वणगुणोववेयाणं, एगाभरण-वसणगहिअणिज्जोआणं दुहतो संवेल्लियग्गणियत्थाणं आविद्धतिलयामेलाणं पिणद्धगेवेज्जकंचुईणं नानामणि-रयणभूसण विराइयंगमंगाणं चंदाणणाणं चंदद्धसमनिलाडाणं चंदाहियसोमदंसणाणं उक्का इव उज्जोवेमाणीणं सिंगारागारचारुवेसाणं संगयगय-हसियभणिय-चिट्ठिय विलास-ललिय-संलावनिउणजुत्तोवयारकुसलाणं, सुंदर-थण-जघण-वयण-कर-चरण-नयण-लायण्णविलासकलियाणं गहियाउज्जाणं अट्ठसयं नट्टसज्जाणं देवकुमारियाणं णिग्गच्छइ।

७६—तदनन्तर सूर्याभदेव ने अनेक प्रकार की मणियों आदि से निर्मित आभूषणों से विभूषित यावत् पीवर-पुष्ट एवं लम्बी बांयी भुजा को फैलाया। उस भुजा से समान शरीराकृति, समान रंग, समान वय, समान लावण्य-रूप-यौवन गुणोंवाली, एक जैसे आभूषणों, दोनों ओर लटकते पल्ले वाले उत्तरीय वस्त्रो और नाट्योपकरणों से सुसज्जित, ललाट पर तिलक, मस्तक पर आमेल (फूलों से बने मुकुट जैसे शिरोभूषण) गले में ग्रैवेयक और कंचुकी धारण किये हुए अनेक प्रकार के मणि-रत्नों के आभूषणों से विराजित अंग-प्रत्यंगों-वाली चन्द्रमुखी, चन्द्रार्ध समान ललाट वाली चन्द्रमा से भी अधिक सौम्य दिखाई देने वाली, उलका के समान चमकती, शृंगार गृह के तुल्य चारु-सुन्दर वेष से शोभित, हंसने-बोलने, आदि में पटु, नृत्य करने के लिए तत्पर एक सौ आठ देवकुमारियाँ निकली।

वाद्यों और वाद्यवादकों की रचना—

७७—तए णं से सूरियाभे देवे अट्ठसयं संखाणं विउव्वति, अट्ठसयं संखवायाणं विउव्वइ अ०[2] सिंगाणं वि०[3] अ० सिंगवायाणं वि०, अ० संखियाणं वि०, अ० संखियवायाणं वि०, अ० खरमुहीणं वि०, अ० खरमुहिवायाणं वि०, अ० पेयाणं वि०, अ० पेयावायगाणं वि, अ० पीरिपीरियाणं वि० अ० पीरिपीरियावायगाणं विउव्वति, एवमाइयाइं एगूणपण्णं आउज्जविहाणाइं विउव्वइ।

---

१. सूत्र सख्या ७५

२. अ० पद से 'अट्ठसयं' शब्द का सकेत किया है।

३. वि० पद 'विउव्वति' शब्द का बोधक है।

७७– तत्पश्चात् अर्थात् एक सौ आठ देवकुमारों और देवकुमारियों की विकुर्वणा करने के पश्चात् उस सूर्याभदेव ने एक सौ आठ शंखों की और एक सौ आठ शंखवादकों की विकुर्वणा की। इसी प्रकार से एक सौ आठ-एक सौ आठ शृंगों-रणसिंगों और उनके वादकों-बजाने वालों की, शंखिकाओं (छोटे शंखों) और उनके वादकों की, खरमुखियों और उनके वादकों की, पेयों और उनके वादकों की, पिरिपिरिकाओं और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इस तरह कुल मिलाकर उनपचास प्रकार के वाद्यों और उनके बजाने वालों की विकुर्वणा की।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पिरिपिरिका पर्यन्त वाद्यों के नामों का उल्लेख है। शेष के नाम यथास्थान आगे के सूत्र में आये हैं वे इस प्रकार हैं—

१. शंख २. शृंग (रणसिंगा) ३. शंखिका (छोटे शंख), ४. खरमुखी ५. पेया ६. पिरिपिरिका ७. पणव—ढोल, ८. पटह—नगाड़ा, ९. भंभा, १०. होरम्भ, ११. भेरी, १२. झालर, १३. दुन्दुभि, १४. मुरज, १५. मृदंग, १६. नन्दीमृदंग, १७. आलिंग, १८. कुस्तुंबा, १९. गोमुखी, २०. मादला २१. वीणा, २२. विपंची, २३. वल्लकी, २४. षट्भ्रामरी वीणा, २५. भ्रामरी वीणा, २६. बध्वीसा, २७. परिवादिनी वीणा, २८. सुघोषाघंटा, २९. नन्दीघोष घंटा, ३०. सौतार की वीणा, ३१. काछवी वीणा, ३२. चित्र वीणा, ३३. आमोट, ३४. झंझा, ३५. नकुल, ३६. तूण, ३७. तुंबवीणा—तम्बूरा, ३८. मुकुन्द—मुरज सरीखा एक वाद्य-विशेष, ३९. हुडुक्क, ४०. विचिक्की, ४१. करटी, ४२. डिंडिम, ४३. किणिक, ४४. कडंब, ४५. दर्दर, ४६. दर्दरिका, ४७. कलशिका ४८. मडक्क, ४९. तल, ५०, ताल ५१. कांस्य ताल, ५२. रिंगरिसिका ५३. लत्तिका, ५४. मकरिका, ५५. शिशुमारिका, ५६. वाली, ५७. वेणु, ५८. परिली, ५९. बद्धक।

यद्यपि मूल सूत्रपाठ के वाद्यों की संख्या उनपचास बताई है, परन्तु गणना करने पर उनकी संख्या उनसठ होती है। टीकाकार ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—**मूलभेदापेक्षया आतोद्य-भेदा एकानपञ्चाशत्, शेषास्तु एतेषु एव अन्तर्भवन्ति यथा वंशातोद्यविधाने वाली-वेणु-परिली-बद्धगा-इति**—अर्थात् वाद्यों के मूल भेद तो उनपचास ही हैं। शेष उनके अवान्तरभेद हैं, जैसे कि वंशवाद्यों में वाली, वेणु, परिली, वद्धग आदि का अन्तर्भाव हो जाता है।

ऊपर दिये गये वाद्य नामों में से कुछ एक के नाम स्पष्ट ज्ञात नहीं होते हैं कि वर्तमान में उनकी क्या संज्ञा है? टीकाकार आचार्य ने भी लोकगम्य कहकर इनकी व्याख्या नहीं की है—'अव्याख्यातास्तु भेदा लोकतः प्रत्येतव्याः।

सूर्याभदेव द्वारा नृत्य-गान-वादन का आदेश

७८—तए ण ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य सद्दावेति।

तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सूरियाभेणं देवेणं सद्दाविया समाणा हट्ठ जाव (तुट्ठ चित्तमाणंदिया) जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं जाव (सिरसावत्तं मत्थए अञ्जलिं कट्टु जएणं विजएणं बद्धावेंति) बद्धावित्ता एवं वयासी—'संदिसंतु णं देवाणुप्पिया! जं अम्हेहिं कायव्वं।'

७८—तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों तथा देवकुमारियों को बुलाया।

सूर्याभदेव द्वारा बुलाये जाने पर वे देवकुमार और देवकुमारियाँ हर्षित होकर यावत् (संतुष्ट और चित्त में आनंदित होकर) सूर्याभदेव के पास आये और दोनों हाथ जोड़कर यावत् (आवर्त पूर्वक मस्तक पर अंजलि करके जय-विजय शब्दों से बधाया और) अभिनन्दन कर सूर्याभदेव से विनयपूर्वक बोले—हे देवानुप्रिय ! हमें जो करना है, उसकी आज्ञा दीजिये।

७९—तए णं से सूरियाभे देवे ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य एवं वयासी—

गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह, करित्ता वंदह नमंसह, वंदित्ता नमंसित्ता गोयमाइयाणं समणाण निग्गंथाणं तं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं, दिव्वं बत्तीसइबद्धं णट्टविहिं उवदंसेह, उवदंसित्ता खिप्पामेव एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।

७९—तब सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों से कहा—

हे देवानुप्रियो ! तुम सभी श्रमण भगवान् महावीर के पास जाओ और दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार श्रमण भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा करो। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार करो। वन्दन-नमस्कार करके गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों के समक्ष दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव वाली बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि करके दिखलाओ। दिखलाकर शीघ्र ही मेरी इस आज्ञा को वापस मुझे लौटाओ।

८०—तए णं ते बहवे देवकुमारा देवकुमारीयो य सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव करयल जाव पडिसुणंति, पडिसुणित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवंतं महावीरं जाव नमंसित्ता जेणेव गोयमादिया समणा निग्गंथा तेणेव उवागच्छंति।

८०—तदनन्तर वे सभी देवकुमार और देवकुमारियां सूर्याभदेव की इस आज्ञा को सुनकर हर्षित हुए यावत् दोनों हाथ जोड़कर यावत् आज्ञा को स्वीकार किया। स्वीकार करके श्रमण भगवान् के पास आये। आकर श्रमण भगवान् महावीर को यावत् नमस्कार करके जहाँ गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थ विराजमान थे, वहाँ आये।

८१—तए णं ते बहवे देवकुमारा देवकुमारीओ य समामेव समसरणं करेंति, करित्ता[1] समामेव अवणमंति अवणमित्ता समामेव उन्नमंति, एवं सहितामेव ओनमंति एवं सहितामेव उन्नमंति सहियामेव उण्णमित्ता संगयामेव ओनमंति संगयामेव उन्नमंति उन्नमित्ता थिमियामेव ओणमंति थिमियामेव उन्नमंति, समामेव पसरंति पसरित्ता, समामेव आउज्जविहाणाइं गेण्हंति समामेव पवाएंसु पगाइंसु पणच्चिसु।

---

१. "समामेव पतिओ वंधंति वंधित्ता समामेव पंतिओ नमंसति नमसित्ता" यह पाठ किन्ही-किन्ही प्रतियो मे विशेप मिलता है कि एक साथ पंक्ति वनाई, पक्तिवद्ध होकर एक साथ नमस्कार किया और नमस्कार करके ··· ··· ·· ···।

८१—इसके बाद वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ पंक्तिबद्ध होकर एक साथ मिले। मिलकर सब एक साथ नीचे नमे और एक साथ ही अपना मस्तक ऊपर कर सीधे खड़े हुए। इसी क्रम से पुनः सभी एक साथ मिलकर नीचे नमे और फिर मस्तक ऊँचा कर सीधे खड़े हुए। इसी प्रकार सीधे खड़े होकर नीचे नमे और फिर सीधे खड़े हुए। खड़े होकर धीमे से कुछ नमे और फिर सीधे खड़े हुए। खड़े होकर एक साथ अलग-अलग फैल गये और फिर यथायोग्य नृत्य-गान आदि के उपकरणों-वाद्यों को लेकर एक साथ ही बजाने लगे, एक साथ ही गाने लगे और एक साथ नृत्य करने लगे।

विवेचन—मूल पाठ में 'समामेव, सहितामेव तथा संगयामेव' ये तीन शब्द प्रयुक्त किए गए है। इनका संस्कृतरूप 'समकमेव, सहितमेव और संगतमेव' होता है। सामान्यतया तीनों शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु इनके अर्थ में भिन्नता है। टीकाकार ने किसी नाट्यकुशल उपाध्याय से इनका अर्थभेद समझ लेने की सूचना की है।

नृत्य गान आदि का रूपक

८२—किं ते ? उरेणं मंदं सिरेण तारं कंठेण वितारं तिविहं तिसमयरेयगरइयं गुंजाऽवंक-कुहरोवगूढं रत्तं तिठाणकरणसुद्धं सकुहरगुंजंतवंस-तंती-तल-ताल-लय-गहसुसंपउत्तं महुरं समं सललियं मणोहरं मिउरिभियपयसंचारं सुरइ सुणइ वरचारुरूवं दिव्वं णट्टसज्जं गेयं पगीया वि होत्था।

८२—उनका संगीत इस प्रकार का था कि उर—हृदयस्थल से उद्गत होने पर आदि मे मन्द मन्द—धीमा, मूर्छा में आने पर तार—उच्च स्वर वाला और कंठ स्थान मे विशेष तार स्वर (उच्चतर ध्वनि) वाला था। इस तरह त्रिस्थान-समुद्गत वह संगीत त्रिसमय रेचक से रचित होने पर त्रिविध रूप था। संगीत की मधुर प्रतिध्वनि-गुंजारव से समस्त प्रेक्षागृह मण्डप गूंजने लगता था। गेय राग-रागनी के अनुरूप था। त्रिस्थान त्रिकरण से शुद्ध था, अर्थात् उर, शिर एवं कण्ठ मे स्वर संचार रूप क्रिया से शुद्ध था। गूंजती हुई बांसुरी और वीणा के स्वरों से एक रूप मिला हुआ था। एक-दूसरे की बजती हथेली के स्वर का अनुसरण करता था। मुरज और कंशिका आदि वाद्यों की झंकारों तथा नर्तकों के पादक्षेप—ठुमक से बराबर मेल खाता था। वीणा के लय के अनुरूप था। वीणा आदि वाद्य धुनों का अनुकरण करने वाला था। कोयल की कुहू-कुहू जैसा मधुर तथा सर्व प्रकार से सम, सललित मनोहर, मृदु, रिभित पदसंचार युक्त, श्रोताओं को रतिकर, सुखान्त ऐसा उन नर्तकों का नृत्यसज्ज विशिष्ट प्रकार का उत्तमोत्तम संगीत था।

८३—किं ते ? उद्धुमंताणं संखाणं सिगाण संखियाणं खरमुहीणं पेयाणं परिपिरियाणं, आहम्मंताणं पणवाणं पडहाणं, अप्फालिज्जमाणाणं भंभाणं होरंभाणं, तालिज्जताणं भेरीणं झल्लरीणं दुंदुहीणं, आलवंताणं मुरयाणं मुइगाणं नंदीमुइंगाणं, उत्तालिज्जंताणं आलिंगाणं कुतुंबाणं गोमुहीणं मद्दलाणं, मुच्छिज्जंताणं वीणाणं विपंचीणं वल्लकीणं कुट्टिज्जंताणं महंतीणं कच्छभीणं चित्तवीणाणं, सारिज्जंताणं बद्धीसाणं सुघोसाणं नंदिघोसाणं, फुट्टिज्जतीणं भामरीणं छब्भामरीणं परिवायणीणं, छिप्पंतीणं तूणाणं तुंबवीणाणं, आमोडिज्जंताणं आमोताणं झंझाणं नउलाणं, अच्छिज्जंतीणं मुगुंदाणं हुडुक्कीणं विचिक्कीणं, वाइज्जंताणं करडाणं डिंडिमाणं किणियाणं कडम्बाणं, ताडिज्जंताणं दद्दरिगाणं दद्दरगाणं कुतुंबाणं कलसियाणं मड्डयाणं, आताडिज्जंताणं तलाणं तालाणं कंसतालाणं, घट्टिज्जंताणं रिंगिरिसियाणं लत्तियाणं मगरियाणं सुंसुमारियाणं, फूमिज्जंताणं वंसाणं वेलूणं वालीणं परिल्लीणं बद्धगाणं।

८३—मधुर संगीत-गान के साथ-साथ नृत्य करने वाले देवकुमार और कुमारिकाओं मे से शंख, शृंग, शंखिका, खरमुखी, पेया पिरिपिरका के वादक उन्हे उद्धमानित करते—फूकते, पणव और पटह पर आघात करते, भंभा और होरंभ पर टंकार मारते, भेरी झल्लरी और दुन्दुभि को ताड़ित करते, मुरज, मृदग और नन्दीमृदंग का आलाप लेते, आलिग कुस्तुम्ब, गोमुखी और मादल पर उत्ताडन करते, वोणा विपंची और वल्लकी को मूर्च्छित करते, महती वीणा (सौ तार की वीणा) कच्छपीवीणा और चित्रवीणा को कूटते, बद्धीस, सुघोषा, नन्दीघोष का सारण करते, भ्रामरी-षड् भ्रामरी और परिवादनी वीणा का स्फोटन करते, तूण, तुम्बवीणा का स्पर्श करते, आमोट झांझ कुम्भ और नकुल को आमोटते-परस्पर टकराते-खनखनाते, मृदंग-हुडुक्क-विचिक्की को धीमे से छूते, करड़ डिंडिम किणित और कडम्ब को बजाते, दर्दरक, दर्दरिका कुस्तुंबुरु, कलशिका मड्ड को जोर-जोर से ताडित करते, तल, ताल कांस्यताल को धीरे से ताडित करते, रिंगिरिसका लत्तिका, मकरिका और शिशुमारिका का घट्टन करते तथा वंशी, वेणु वाली परिल्ली तथा बद्धकों को फूंकते थे। इस प्रकार वे सभी अपने-अपने वाद्यो को बजा रहे थे।

८४—तए णं से दिव्वे गीए, दिव्वे वाइए, दिव्वे नट्टे एवं अब्भुए सिंगारे उराले मणुन्ने मणहरे गीते मणहरे नट्टे मणहरे वातिए उप्पिंजलभूते कहकहभूते दिव्वे देवरमणे पवत्ते या वि होत्था।

८४—इस प्रकार का वह वाद्य सहचरित दिव्य संगीत दिव्य वादन और दिव्य नृत्य आश्चर्यकारी होने से अद्भुत, शृंगाररसोपेत होने से शृंगाररूप, परिपूर्ण गुण-युक्त होने से उदार, दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था कि जिससे वह मनमोहक गीत, मनोहर नृत्य और मनोहर वाद्यवादन सभी के चित्त का आक्षेपक (ईर्ष्या-स्पर्धा जनक) था। दर्शकों के कहकहो— वाह-वाह के कोलाहल से नाट्यशाला को गुंजा रहा था। इस प्रकार से वे देवकुमार और कुमारिकाये दिव्य देवक्रीड़ा मे प्रवृत्त हो रहे थे।

नाट्याभिनयों का प्रदर्शन

८५—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सोत्थिय-सिरिवच्छ-नंदियावत्त-वद्धमाणग-भद्दासण-कलस-मच्छ दप्पणमंगल्लभत्तिचित्तं णामं दिव्वं नट्टविधिं उवदंसेंति।

८५—तत्पश्चात् उस दिव्य नृत्य क्रीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और कुमारिकाओं ने श्रमण भगवान् महावीर एवं गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों के समक्ष १. स्वस्तिक २. श्रीवत्स ३. नन्दावर्त ४. वर्धमानक ५. भद्रासन ६. कलश ७. मत्स्य और ८. दर्पण, इन आठ मंगल द्रव्यों का आकार रूप दिव्य नाट्य-अभिनय करके दिखलाया।

८६—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य सयमेव समोसरणं करेंति करित्ता तं चेव भाणियव्वं जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते या वि होत्था।

८६—तत्पश्चात् अर्थात् मंगलद्रव्याकार नाट्य-अभिनय सम्पन्न करने के पश्चात् दूसरी

नाट्यविधि दिखाने के लिए वे देवकुमार और देवकुमारियां एकत्रित हुई और एकत्रित होने से लेकर दिव्य देवरमण में प्रवृत्त होने पर्यन्त की पूर्वोक्त समस्त वक्तव्यता का यहां वर्णन करना चाहिए ।

विवेचन—'तं चेव भाणियव्वं' पद से यहां पूर्व मे किये गये वर्णन की पुनरावृत्ति करने का संकेत किया है । उस वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

सूर्याभदेव द्वारा आज्ञापित वे देवकुमार और देवकुमारियाँ श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थो के समक्ष आये, उनके सामने एक साथ नीचे नमे फिर मस्तक ऊँचा कर सीधे खड़े हुए । इसी प्रकार सामूहिक रूप मे नमन आदि किया । तत्पश्चात् अपने अपने नृत्य गान के उपकरण और वाद्यों को लेकर वे सभी गाने, नाचने एवं नाट्य-अभिनय करने मे प्रवृत्त हो गये ।

८७—तए णं बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स आवड-पच्चावड-सेढिपसेढि-सोत्थिय-पूसमाणव-वद्धमाणग-मच्छण्डमगरंड-जार-मार-फुल्लावलि-पउमपत्त-सागर-तरंग-वसंतलता-पउमलयभत्तिचित्तं णाम दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ।

८७—तदनन्तर उन देवकुमारों और देवकुमारियो ने श्रमण भगवान् महावीर एव गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों के सामने आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्धमानक, मत्स्यादण्ड, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्ती-लता और पद्मलता के आकार की रचनारूप दिव्य नाट्यविधि का अभिनय करके बतलाया ।

८८—एवं च एक्किक्कियाए णट्टविहीए समोसरणादिया एसा वत्तव्वया जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते या वि होत्था ।

८८—इसी प्रकार से प्रत्येक नाट्यविधि को दिखलाने के पश्चात् दूसरी प्रारम्भ करने के अन्तराल में उन देवकुमारो और देवकुमारियों के एक साथ मिलने से लेकर दिव्य देवक्रीड़ा में प्रवृत्त होने तक की समस्त वक्तव्यता [कथन] पूर्ववत् सर्वत्र कह लेना चाहिए ।

८९—तए णं ते बहवे देवकुमारा देवकुमारियाओ य समणस्स भगवतो महावीरस्स ईहामिअ-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलयभत्तिचित्तं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ।

८९—तदनन्तर उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने श्रमण भगवान् के समक्ष ईहामृग, वृषभ, तुरग-अश्व, नर-मानव, मगर, विहग-पक्षी, व्याल-सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृति-रचना-रूप दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

९०—[1]एगतो वंकं एगओ चक्कवालं दुहओ चक्कवालं चक्कद्धचक्कवालं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसंति ।

---

१. किसी किसी प्रति मे निम्नलिखित पाठ है—
एगतो वक्कं दुहओ वक्कं एगतो खहं दुहओखहं एगओ चक्कवालं दुहओ चक्कवालं चक्कद्धचक्कवालं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसंति । अर्थात् तत्पश्चात् एकतोवक्र, द्विधातोवक्र, एक ओर गगनमंडलाकृति, दोनों ओर गगनमंडलाकृति, एकतश्चक्रवाल द्विधातश्चक्रवाल ऐसी चक्रार्ध और चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

९०—इसके बाद उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने एकतोवक्र (जिस नाटक में एक ही दिशा में धनुषाकार श्रेणि बनाई जाती है), एकतश्चक्रवाल (एक ही दिशा में चक्राकार श्रेणि बने), द्विघातश्चक्रवाल (परस्पर सम्मुख दो दिशाओं में चक्र बने) ऐसी चक्रार्ध-चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया ।

९१—चंदावलिपविभत्तिं च सूरावलिपविभत्तिं च वलयावलिपविभत्तिं च हंसावलिप०[1] च एगावलिप० च तारावलिप० मुत्तावलिप० च कणगावलिप० च रयणावलिप० च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ।

९१—इसी प्रकार अनुक्रम से उन्होने चन्द्रावलि, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कनकावलि और रत्नावलि की प्रकृष्ट-विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्यविधि का अभिनय प्रदर्शित किया ।

९२—चंदुग्गमणप० च सूरुग्गमणप० च उग्गमणुग्गमणप० च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति ।

९२—तत्पश्चात् उन देवकुमारो और देवकुमारियों ने उक्त क्रम से चन्द्रोद्गमप्रविभक्ति, सूर्योद्गमप्रविभक्ति युक्त अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य के उदय होने की रचना वाले उद्गमनोद्गमन नामक दिव्य नाट्यविधि को दिखाया ।

९३—चंदागमणप० च सूरागमणप० च आगमणागमणप० च णामं[2] उवदंसेंति ।

९३— इसके अनन्तर उन्होंने चन्द्रागमन, सूर्यागमन की रचना वाली चन्द्र सूर्य आगमन नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया ।

९४—चंदावरणप० सूरावरणप० च आवरणावरणप० णामं उवदंसेंति ।

९४—तत्पश्चात् चन्द्रावरण सूर्यावरण अर्थात् चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर जगत् और गगन मण्डल में होने वाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि को प्रदर्शित किया ।

९५—चंदत्थमणप० च सूरत्थमणप० अत्थमणऽत्थमणप० णामं उवदंसेंति ।

९५—इसके बाद चन्द्र के अस्त होने, सूर्य के अस्त होने की रचना से युक्त अर्थात् चन्द्र और सूर्य के अस्त होने के समय के दृश्य से युक्त अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया ।

९६—चंदमंडलप० च सूरमंडलप० च नागमंडलप० च जक्खमंडलप० च भूतमंडलप० च रक्खस-महोरग-गन्धव्वमंडलप० च मंडलमंडलप० नामं उवदंसेंति ।

---

१. 'पं०' अक्षर सर्वत्र 'पविभत्ति' शब्द का सूचक है ।

२. 'णम' शब्द से सर्वत्र 'णामं दिव्वं णट्टविहं' यह पद ग्रहण करना चाहिये ।

९६—तदन्तर चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गन्धर्वमण्डल की रचना से युक्त अर्थात् इन इनके मण्डलों के भावों का दर्शक मण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्य अभिनय प्रदर्शित किया।

९७—[1]उसभमंडलप० च सीहमंडलप० च हयविलंबियं गयवि०[2] हयविलसियं गयविलसियं मत्तहयविलसियं मत्तगजविलसियं मत्तहयविलंबियं मत्तगयविलंबियं दुतविलंबियं णामं णट्टविहं उवदंसेंति।

९७—तत्पश्चात् वृषभमण्डल, सिंहमण्डल की ललित गति अश्व गति, और गज की विलम्बित गति, अश्व और हस्ती की विलसित गति, मत्त अश्व और मत्त गज की विलसित गति, मत्त अश्व की विलम्बित गति, मत्त हस्ती की विलम्बित गति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बित प्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का का प्रदर्शन किया।

९८—सागरपविभत्ति च नागरप० च सागर-नागर प० च णामं उवदंसेंति।

९८—इसके बाद सागर प्रविभक्ति, नगर प्रविभक्ति अर्थात् समुद्र और नगर सम्बन्धी रचना से युक्त सागर-नागर-प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि का अभिनय दिखाया।

९९—णंदाप० च चंपाप० नन्दा-चंपाप० च णामं उवदंसेंति।

९९—तत्पश्चात् नन्दाप्रविभक्ति—नन्दा पुष्करिणी की सुरचना से युक्त, चम्पा प्रविभक्ति—चम्पक वृक्ष की रचना से युक्त नन्दा-चम्पाप्रविभक्ति नामक दिव्यनाट्य का अभिनय दिखाया।

१००—मच्छंडाप० च मयरंडाप० च जारप० च मारप० च मच्छंडा-मयरंडा-जारा-माराप० च णामं उवदंसेंति।

१००—तत्पश्चात् मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, की आकृतियों की सुरचना से युक्त मत्स्याण्ड-मकराण्ड-जार-मार प्रविभक्ति नामक दिव्यनाट्यविधि दिखलाई।

१०१—'क' त्ति ककारप० च, 'ख' त्ति खकारप० च, 'ग' त्ति [illegible] च 'घ' त्ति घकारप० च, 'ङ' त्तिङकारप० च, ककार-खकार-गकार-घकार-ङकारप० च [illegible], एवं चकारवग्गो वि टकारवग्गो वि तकारवग्गो वि पकारवग्गो वि।

---

१. किसी-किसी प्रति में निम्न प्रकार का पाठ है—

उसभललियविक्कतं सीहललियविक्कंतं हयविलसियं [illegible] मत्तगजविलसियं मत्तहयवि. मत्तगयवि. दुयविलम्बियं णाम [illegible]

इसके बाद वृषभ-बैल की ठुमकती हुई [illegible] गति, गज की विलसित गति, मत्त अश्व की [illegible] गति, मत्त गज की विलम्बित गति की दर्शक [illegible]

२. 'वि.' पद से 'विलम्बित' पद [illegible]

१०१—तदनन्तर उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने क्रमशः 'क' अक्षर की आकृति-रचना करके ककारप्रविभक्ति, 'ख' की आकार-रचना करके खकार प्रविभक्ति, 'ग' की आकृति-रचना द्वारा गकारप्रविभक्ति, 'घ' अक्षर के आकार की रचना द्वारा घप्रविभक्ति, और 'ङ' के आकार की रचना द्वारा ङकारप्रविभक्ति, इस प्रकार ककार-खकार-गकार-घकार-ङकारप्रविभक्ति नाम की दिव्य नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया।

इसी तरह से चकार-छकार-जकार-झकार-ञकार की रचना करके चकारवर्गप्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया।

चकार वर्ग के पश्चात् क्रमशः ट-ठ-ड-ढ-ण के आकार की सुरचना द्वारा टकारवर्ग-प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया।

टकारवर्ग के अनन्तर क्रम प्राप्त तकार-थकार-दकार-धकार-नकार-की रचना करके तकार-वर्गप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि को, दिखलाया।

तकारवर्ग के नाट्याभिनय के अनन्तर प, फ, ब, भ, म, के आकार की रचना करके पकारवर्ग-प्रविभक्ति नाम की दिव्य नाट्यविधि का अभिनय दिखाया।

विवेचन—यहाँ लिपि सम्बन्धी अभिनयों के उल्लेख में ककार से पकार पर्यन्त पाँच वर्गों के पच्चीस अक्षरों के अभिनयों का ही संकेत किया है, उसमें स्वरों तथा य, र, ल, व, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ अक्षरों के अभिनयों का उल्लेख नहीं है। इसका कोई ऐतिहासिक कारण है या अन्य, यह विचारणीय है। अथवा सम्भव है कि देवों की लिपि में ककार से लेकर पकार तक के अक्षर होते हों जिससे उन्हीं का अभिनय प्रदर्शित किया है।

इन लिपि सम्बन्धी अभिनयों में 'क' वगैरह की जो मूल आकृतियाँ ब्राह्मी लिपि में बताई है, आकृतियों के सदृश अभिनय यहाँ समझना चाहिए। जैसे कि ब्राह्मी लिपि में क की + ऐसी आकृति है, अतएव इस आकृति के अनुरूप स्थिर होकर अभिनय करके बताना 'क' की आकृति का अभिनय कहलायेगा। इसी प्रकार लिपि सम्बन्धी शेष दूसरे सभी अभिनयों के लिए भी समझ लेना चाहिए।

१०२—असोयपल्लवप० च, अंबपल्लवप० च, जंबूपल्लवप० च, कोसंबपल्लवप० च, पल्लवप[1] च णामं उवदंसेंति।

१०२—तत्पश्चात् अशोक पल्लव (अशोकवृक्ष का पत्ता) आम्रपल्लव, जम्बू (जामुन) पल्लव, कोशाम्रपल्लव की आकृति-जैसी रचना से युक्त पल्लवप्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित की।

१०३—पउमलयाप० जाव (नागलयाप० असोगलयाप० चंपगलयाप० चयलयाप० वण-लयाप० वासंतियलयाप० अइमुत्तयलयाप० कुंदलयाप०) सामलयाप० चलयाप०[2] च णामं उवदंसेंति।

१०३—तदनन्तर पद्मलता यावत् नागलता, अशोकलता, चंपकलता, आम्रलता, वनलता,

---

१. 'पल्लव पल्लव प.' इति पाठान्तरम्।
२. 'लया लया प.' इति पाठान्तरम्।

वासंतीलता, अतिमुक्तकलता और श्यामलता की सुरचना वाला लताप्रविभक्ति नामक नाट्याभिनय प्रदर्शित किया।

१०४—दुयणामं उवदंसेंति। विलंबियं णामं उव०। दुयविलबियं णामं उव०। अंचियं, रिभियं, अंचियरिभियं, आरभडं, भसोलं आरभडभसोलं, उप्पयनिवयपवत्तं, संकुचियं पसारियं रयारइयं भंतं संभंतं णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेति।

१०४—इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलंबित, द्रुत विलंबित, अंचित, रिभित, अचित-रिभित, आरभट, भसोल और आरभटभसोल नामक नाट्यविधियों का अभिनय प्रदर्शित किया।

तदनन्तर उत्पात—(ऊपर नीचे उछलने-कूदने) निपात, संकुचित-प्रसारित भय और हर्षवश शरीर के अंगोपांगों को सिकोड़ना और फैलाना, रयारइय (?) भ्रान्त और संभ्रान्त सम्बन्धी क्रियाओं विषयक दिव्य नाट्य-अभिनयों को दिखाया।

विवेचन—पूर्वोक्त नाट्यविधियों का स्वरूप-प्रतिपादन नाट्यविधिप्राभृत में किया गया है। परन्तु पूर्वो के विच्छिन्न होने से इन विधियों का पूर्ण रूप से जैसा का तैसा वर्णन करना सम्भव नहीं है। वर्तमान में भरत का नाट्यशास्त्र उपलब्ध है। जिसमें नाट्य, संगीत आदि से सम्बन्धित विषयों की जानकारी दी गई है। यहां देवों ने जिन नाट्यों का प्रदर्शन किया है, उनमें से कुछ एक के नाम तो इस नाट्यशास्त्र में भी आये है, यथा—संकुचित, प्रसारित, द्रुत, विलंबित, अंचित इत्यादि।

सूत्र ९२ से १०४ पर्यन्त संगीत और वाद्यों के वर्णन के साथ नाट्यविधियों के अभिनयों का वर्णन किया गया है। अनेक अभिनय तो ऐसे है जिनके भाव समझ में आ सकते हैं। इनमें से कतिपय पशुपक्षियो, वनस्पतियों, जगत् के अन्य पदार्थो, प्राकृतिक प्रसंगों और उत्पातों एवं लिपि-आकारो से सम्बन्धित है।

१०५—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समामेव समोसरणं करेंति जाव दिव्वे देवरमणे पवत्ते यावि होत्था।

१०५—तदनन्तर अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार की नाट्यविधियो का प्रदर्शन करने के अनन्तर वे देवकुमार और देवकुमारियाँ एक साथ एक स्थान पर एकत्रित हुए यावत् दिव्य देवरमत मे प्रवृत्त हो गये।

भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंगों का अभिनय

१०६—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स पुव्व-भवचरियणिबद्धं च, चवणचरियणिबद्धं च, संहरणचरियनिबद्धं च, जम्मणचरियनिबद्धं च, अभि-सेअचरियनिबद्धं च, बालभावचरियनिबद्धं च, जोव्वण-चरियनिबद्धं च, कामभोगचरियनिबद्धं च, निक्खमण-चरियनिबद्धं च, तवचरणचरियनिबद्धं च, णाणुप्पायचरिय-निबद्धं च तित्थपवत्तण-चरिय-परिनिव्वाणचरियनिबद्धं च, चरिमचरियनिबद्धं च णामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति।

१०६—तत्पश्चात् उन सब देवकुमारो एवं देवकुमारियों ने श्रमण भगवान् महावीर के पूर्व भवों संबंधी चरित्र से निबद्ध एवं वर्तमान जीवन संबंधी, च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्र-

निबद्ध, जन्मचरित्रनिबद्ध, जन्माभिषेक, बालक्रीड़ानिबद्ध, यौवन-चरित्रनिवद्ध (गृहस्थावस्था से संबंधित) अभिनिष्क्रमण-चरित्रनिबद्ध (दीक्षामहोत्सव से संबन्धित), तपश्चरण-चरित्र निबद्ध (साधनाकालीन दृश्य) ज्ञानोत्पाद चरित्र-निबद्ध (कैवल्य प्राप्त होने की परिस्थिति का चित्रण), तीर्थ-प्रवर्तन चरित्र से सम्बन्धित, परिनिर्वाण चरित्रनिबद्ध (मोक्ष प्राप्त होने के समय का दृश्य) तथा चरम चरित्र निबद्ध (निर्वाण प्राप्त हो जाने के पश्चात् देवों आदि द्वारा किये जाने वाले महोत्सव से संबंधित) नामक अंतिम दिव्य नाट्य-अभिनय का प्रदर्शन किया।

विवेचन—देवों द्वारा श्रमण भगवान् महावीर एवं गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों के समक्ष प्रदर्शित बत्तीस प्रकार के नाट्य-अभिनयों में से अंतिम (बत्तीसवां अभिनय) श्रमण भगवान् महावीर की जीवन-घटनाओं के मुख्य-मुख्य प्रसंगों से संबंधित है। यह सब देखकर तत्कालीन अभिनयकला की परम प्रकर्षता का दृश्य उपस्थित हो जाता है और उस-उस अभिनय की उपयोगिता भी परिज्ञात हो जाती है।

नाट्याभिनय का उपसंहार

१०७—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारीओ य चउव्विहं वाइत्तं वाएंत्ति तं जहा—ततं-विततं-घणं-झुसिरं।

१०७—तत्पश्चात् (दिव्य नाट्यविधियों को प्रदर्शित करने के पश्चात्) उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने ढोल-नगाड़े आदि तत, वीणा आदि वितत, झांझ आदि घन और शंख, बांसुरी आदि शुषिर इन चतुर्विध वादित्रों—बाजों को बजाया।

१०८—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य चउव्विहं गेयं गायंति तं जहा—उक्खित्तं-पायंतं-मंदायं-रोइयावसाणं च।

१०८—वादित्रों को बजाने के अनन्तर उन सब देवकुमारो और देवकुमारियों ने उत्क्षिप्त, पादान्त, (पादवृद्ध) मंदक और रोचितावसान रूप चार प्रकार का सगीत (गाना) गाया।

१०९—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य चउव्विहं णट्टविहिं उवदंसंति, तंजहा-अंचियंरिभियं-आरभडं-भसोलं च।

१०९—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने अंचित रिभित, आरभट एवं भसोल इन चार प्रकार की नृत्यविधियों को दिखाया।

११०—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ च चउव्विहं अभिणयं अभिणएंति, तंजहा—दिट्ठंतियं—पाडितियं (पाडियंतियं)-सामान्नाविणिवाइयं—अंतो-मज्झावसाणियं च।

११०—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियों ने चार प्रकार के अभिनय प्रदर्शित किये, यथा—दार्ष्टान्तिक, प्रात्यंतिक, सामान्यतोविनिपातनिक और अन्तर्मध्यावसानिक, (लोकमध्यावसानिक)।

विवेचन—सूत्र सख्या १०७-११० पर्यन्त नाटको का प्रदर्शन करने के पश्चात् उपसंहार रूप चार प्रकार के वाद्यों को बजाने, संगीतों को गाने एवं नृत्यों और अभिनयों को करने का उल्लेख किया है।

वाद्यादि अभिनय पर्यन्त चार-चार प्रकारों को बतलाने का कारण यह है कि ये उन-उनके मूल है। अर्थात् वाद्यो, राग-रागनियों आदि के अलग-अलग नाम होने पर भी वे सभी मुख्य-गौण भाव से इन चार प्रकारो के ही विविध रूप है।

प्रस्तुत मे तत आदि शब्दों के वाद्यों के उत्क्षिप्त आदि शब्दों से संगीत के और अंचित आदि शब्दो से नृत्य के चार-चार भेद और उनके सामान्य अर्थ तो समझ लिये जा सकते हैं तथा इसी प्रकार अभिनय के जो चार प्रकार बतलाये है उनमें से दृष्टान्तिक अभिनय—किसी प्रकार के दृष्टान्त का अभिनय। प्रत्यन्त का अर्थ म्लेच्छदेश है ('प्रत्यन्तो म्लेच्छमण्डल:'—अभिधान चिन्तामणि कोश ४ श्लोक १८)। भोट (भूटान) आदि देशो की म्लेच्छ देशो मे गणना है। इन देशो के निवासियों और उनके आचरण अथवा किसी प्रसंग आदि का अभिनय प्रात्यतिक अभिनय है। सामान्य प्रकार के अभिनय को सामान्यतोपनिपातनिक और लोक के मध्य या अन्य सम्बन्धी अभिनय को अन्तर्मध्याव-सानिक अभिनय कहते हैं। यह अभिनय के प्रकारसूचक शब्दों का शब्दार्थमात्र है। परन्तु उन सभी के विशेप अर्थ को समझने के लिए संगीत तथा अभिनय विशारदों एवं नाट्यशास्त्र से जानकारी प्राप्त करना चाहिये।

१११—तए णं ते बहवे देवकुमारा य देवकुमारियाओ य गोयमादियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइबद्धं नाडयं उवदंसित्ता समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, करित्ता वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावित्ता एवं आणत्तियं पच्चप्पिणंति।

१११—तत्पश्चात् उन सभी देवकुमारों और देवकुमारियो ने गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों को दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव प्रदर्शक बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधियो को दिखाकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वन्दन-नमस्कार करने के पश्चात् जहां अपना अधिपति सूर्याभदेव था वहां आये। वहां आकर दोनों हाथ जोड़कर सिर पर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अजलि करके सूर्याभदेव को 'जय विजय हो' शब्दोच्चारणो से वधाया और वधाकर आज्ञा वापस सौंपी, अर्थात् निवेदन किया कि आपकी आज्ञा के अनुसार हम श्रमण भगवन् महावीर आदि के पास जाकर बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि दिखा आये हैं।

११२—तए णं से सूरियाभे देवे तं दिव्वं देविड्ढि, दिव्वं देवजुइं, दिव्वं देवाणुभावं पडिसाहरइ, पडिसाहरेत्ता खणेणं जाते एगे एगभूए।

तए णं से सूरियाभे देवे समणं भगवंतं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता नियगपरियालसद्धि संपरिवुडे तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहति दुरूहित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

११२—तत्पश्चात् उस सूर्याभदेव ने अपनी सब दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव-प्रभाव को समेट लिया—अपने शरीर में प्रविष्ट कर लिया और शरीर में प्रविष्ट करके क्षणभर मे अनेक होने से पूर्व जैसा अकेला था वैसा ही एकाकी बन गया।

इसके बाद सूर्याभ देव ने श्रमण भगवान् महावीर को दक्षिण दिशा से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके अपने पूर्वोक्त परिवार सहित जिस यान-विमान से आया था उसी दिव्य-यान-विमान पर आरुढ़ हुआ। आरूढ़ होकर जिस दिशा से—जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया।

गौतमस्वामी की जिज्ञासा : भगवान का समाधान्

११३—'भंते' त्ति भयवं गोयमे समणं भगवंतं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी[1]—सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स एसा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते ? कहिं अणुप्पविट्ठे ?

---

१. कही कही यह पाठान्तर देखने में आता है—

'तेण कालेणं तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जिट्ठे अन्तेवासी इदभूई नाम अणगारे गोयमसगोत्ते सत्तुस्सेहे समचउरससंठाणसठिए वज्जरिसहनारायसघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबभचेरवासी उच्छूढसरीरे सखित्तविपुलतेयलेस्से चउदस-पुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामत उड्ढंजाणू अहोसिरे झाण-कोट्ठोवगए सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ।

तए ण से भगव गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नससए उप्पन्नकोउहल्ले सजायसड्ढे संजायससए संजायकोउहल्ले समुप्पण्णसड्ढे समुप्पण्णससए समुप्पण्णकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठाए उट्ठित्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता समण भगवंतं महावीर तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेति, तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिण करेत्ता वदति नमसति वदित्ता नमसित्ता एव वयासी—'

'उस काल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी—शिष्य गौतम गोत्रीय, सात हाथ ऊचे, समचौरस सस्थान एव वज्र ऋषभनाराच सहनन वाले, कसौटी पर खींची गई स्वर्ण रेखा तथा कमल की केशर के समान गौरवर्ण वाले, उग्रतपस्वी, कर्मवन को दग्ध करने के लिये अग्निवत् जाज्वल्यमान तप वाले, तप्त तपस्वी—आत्मा को तपानेवाले, महातपस्वी—दीर्घतप करनेवाले, उदार-प्रधान, घोर—कषायादि के उन्मू-लन मे कठोर, घोरगुण—दूसरो के द्वारा दुरनुचर मूलोत्तर गुणो से सम्पन्न घोरतपस्वी—बड़ी बड़ी तपस्यायें करने वाले, घोर ब्रह्मचर्यवासी—अन्यो के लिये कठिन ब्रह्मचर्य मे लीन, शारीरिक सस्कारो और ममत्व का त्याग करने वाले, विपुल तेजोलेश्या को सक्षिप्त करके शरीर में समाहित करने वाले, चौदह पूर्वो के ज्ञाता, मति आदि मनपर्याय पर्यन्त चार ज्ञानों से समन्वित, सर्व अक्षरो और उनके सयोगजन्य रूपो को जानने वाले गौतम नामक अनगार श्रमण भगवान् महावीर से न अतिदूर और न अति समीप अर्थात् उचित स्थान मे स्थित होकर ऊपर घुटने और नीचा मस्तक रखकर—मस्तक नमाकर ध्यान रूपी कोष्ठ मे विराजमान होकर संयम तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

तत्पश्चात् भगवान् गौतम को तत्त्वविपयक श्रद्धा—जिज्ञासा हुई, सशय हुआ, कुतूहल हुआ, श्रद्धा उत्पन्न हुई, सशय उत्पन्न हुआ, कुतूहल उत्पन्न हुआ, विशेषरूप से श्रद्धा उत्पन्न हुई, विशेषरूप से सशय उत्पन्न हुआ विशेप रूप से कुतूहल उत्पन्न हुआ, विशेप रूप से श्रद्धा उत्पन्न हुई, विशेप रूप से सशय उत्पन्न हुआ और विशेप रूप से कुतूहल उत्पन्न हुआ। तव अपने स्थान से उठ खडे हुए, और उठकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराज रहे थे, वहा आये, वहा आकर दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर श्रमण भगवान् महावीर की प्रदक्षिणा की। तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा करके वन्दन और नमस्कार किया, वन्दन नमस्कार करके इस प्रकार कहा—निवदेन किया—।'

११३—तदनन्तर—सूर्याभदेव के वापस जाने के अनन्तर—'हे भदन्त' इस प्रकार से संबोधित कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके विनयपूर्वक इस प्रकार पूछा—

प्रश्न—हे भगवन्! सूर्याभदेव की वह सब पूर्वोक्त दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव-प्रभाव कहां चला गया? कहाँ प्रविष्ट हो गया—समा गया?

११४—गोयमा! सरीरं गते सरीरं अणुप्पविट्ठे।

११४—उत्तर—हे गौतम! सूर्याभदेव द्वारा रचित वह सब दिव्य देव ऋद्धि आदि उसके शरीर में चली गई, शरीर मे प्रविष्ट हो गई—समा गई, अन्तर्लीन हो गई।

११५—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सरीरं गते, सरीरं अणुप्पविट्ठे?

११५—प्रश्न—हे भदन्त! ऐसा आप किस कारण से कहते है कि शरीर मे चली गई, शरीर में अनुप्रविष्ट—अन्तर्लीन हो गई?

११६—गोयमा! से जहानामए कूडागारसाला सिया-दुहतो लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा, तीसे णं कूडागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महेगे जणसमूहे चिट्ठति, तए णं से जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा एज्जमाणं वा पासति, पासित्ता तं कूडागारसालं अंतो अणुप्पविसित्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति—'सरीरं अणुप्पविट्ठे'।

११६—हे गौतम! जैसे कोई एक भीतर-बाहर गोबर आदि से लिपी-पुती, बाह्य प्राकार—परकोटे—से घिरी हुई, मजबूत किवाड़ो से युक्त गुप्त द्वार वाली निर्वात—वायु का प्रवेश भी जिसमें दुष्कर है, ऐसी गहरी, विशाल कूटाकार—पर्वत के शिखर के आकार वाली—शाला हो। उस कूटाकार शाला के निकट एक विशाल जनसमूह बैठा हो। उस समय वह जनसमूह आकाश मे एक बहुत बड़े मेघपटल को अथवा जलवृष्टि करने योग्य बादल को अथवा प्रचण्ड आंधी को आता हुआ देखे तो जैसे वह उस कूटाकार शाला के अंदर प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतम! सूर्याभदेव की वह सब दिव्य देवऋद्धि आदि उसके शरीर मे प्रविष्ट हो गई—अन्तर्लीन हो गई है, ऐसा मैंने कहा है।

सूर्याभदेव के विमान का अस्वथान और वर्णन

११७—कहि णं भंते! सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे नामं विमाणे पन्नत्ते?

११७—हे भगवन्! उन सूर्याभदेव का सूर्याभ नामक विमान कहां पर कहा गया है?

११८—गोयमा! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जातो भूमिभागातो उड्ढं चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं बहूइं जोअणसयाइं एवं-सहस्साइं-सयसहस्साइं, बहुईओ जोअणकोडीओ, जोअणसयकोडीओ, जोअणसहस्सकोडीओ, बहुईओ जोअणसयसहस्सकोडीओ बहुईओ जोअण-कोडाकोडीओ उड्ढं दूरं वीतीवइत्ता एत्थ णं सोहम्मे नामं कप्पे पन्नत्ते-पाईणपडीणायते उदीणदाहिण-विच्छिण्णे, अद्धचंदसंठाणसंठिते, अच्चिमालि-

भासरासिवण्णाभे, असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं, एत्थ णं सोहम्माणं देवाणं बत्तीसं विमाणावाससयसहस्साइं भवंति इति, मक्खायं। ते णं विमाणा सव्वरयणामया अच्छा जाव (सण्हा लण्हा, घट्ठा मट्ठा, णीरया निम्मला, निप्पंका निक्कंकडच्छाया सप्पभा समिरीया सउज्जोया पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरूवा) पडिरूवा। तेसिं णं विमाणाणं बहुमज्झदेसभाए पंच वडिंसया पन्नत्ता, तं जहा—असोगवडिंसए सत्तवण्णवडिंसए चंपगवडिंसए[1] चूतवडिंसए मज्झे सोधम्मवडिंसए। ते णं वडिंसगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

तस्स णं सोधम्मवडिंसगस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेणं तिरियं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं वीइवइत्ता एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सूरियाभे विमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं[2], अउणयालीसं च सयसहस्साइं बावन्नं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाल जोयणसते[3] परिक्खेवेणं।

११८—हे गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर (सुमेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के रमणीय समतल भूभाग से ऊपर ऊर्ध्वदिशा में चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण नक्षत्र और तारामण्डल से आगे भी ऊंचाई में बहुत से सैकड़ों योजनों, हजारों योजनों, लाखों, करोड़ों योजनों और सैकड़ों करोड, हजारों करोड़, लाखों करोड़ योजनों, करोड़ों करोड़ योजन को पार करने के बाद प्राप्त स्थान पर सौधर्मकल्प नाम का कल्प है—अर्थात् सौधर्म नामक स्वर्गलोक है।

वह सौधर्मकल्प पूर्व-पश्चिम लम्बा और उत्तर-दक्षिण विस्तृत—चौड़ा है, अर्धचन्द्र के समान उसका आकार है, सूर्य किरणों की तरह अपनी द्युति—कान्ति से सदैव चमचमाता रहता है। असख्यात कोडाकोडि योजन प्रमाण उसकी लम्बाई-चौड़ाई तथा असंख्यात कोटाकोटि योजन प्रमाण उसकी परिधि है।

उस सौधर्मकल्प में सौधर्मकल्पवासी देवों के बत्तीस लाख विमान बताये है। वे सभी विमानावास सर्वात्मना रत्नों से बने हुए स्फटिक मणिवत् स्वच्छ यावत् (सलौने, अत्यन्त चिकने, घिसे हुए, मजे हुए, नीरज, निर्मल, निष्कलंक, निरावरण, दीप्ति, कान्ति, तेज और उद्योत—प्रकाशयुक्त, मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, मनोहर एवं) अतीव मनोहर है।

उन विमानों के मध्यातिमध्य भाग में—ठीक बीचोंबीच—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चार दिशाओं में अनुक्रम से अशोक-अवतंसक, सप्तपर्ण-अवतंसक, चपक-अवतंसक, आम्र-अवतंसक तथा मध्य मे सौधर्म-अवतंसक, ये पांच अवतंसक (मुख्य श्रेष्ठ भवन) हैं। ये पांचों अवतंसक भी रत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर हैं।

उस सौधर्म-अवतंसक महाविमान की पूर्व दिशा में तिरछे असंख्यात लाख योजन प्रमाण आगे जाने पर आगत स्थान में सूर्याभदेव का सूर्याभ नामक विमान है। उसका आयाम-विष्कंभ (लम्बाई-चौड़ाई) साढ़े बारह लाख योजन और परिधि उनतालीस लाख बावन हजार आठ सौ अड़तालीस योजन है।

---

१. पाठान्तर—भूतवडेसए, भूयगवडिंसते।

२. पाठान्तर—अतो तेरतय सहस्साइं आयामविक्खंभेणं बायालीसं च सयसहस्साइं अट्ठ य अड०।

३. अउणयालीसं च सयसहस्साइं अट्ठ य अडयालजोयणसते।

११९—से णं एगेणं पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। से णं पागारे तिण्णि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, मूले एगं जोयणसयं विक्खंभेणं, मज्झे पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं, उप्पि पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं। मूले वित्थिण्णे, मज्झे संखित्ते उप्पि तणुए, गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे।

११९—वह सूर्याभ विमान चारों दिशाओं में सभी ओर से एक प्राकार—परकोटे से घिरा हुआ है। यह प्राकार तीन सौ योजन ऊँचा है, मूल में इस प्राकार का विष्कम्भ (चौड़ाई) एक सौ योजन, मध्य में पचास योजन और ऊपर पच्चीस योजन है। इस तरह यह प्राकार मूल में चौड़ा, मध्य में संकड़ा और सबसे ऊपर अल्प—पतला होने से गोपुच्छ के आकार जैसा है। यह प्राकार सर्वात्मना रत्नों से बना होने से रत्नमय है, स्फटिकमणि के समान निर्मल है यावत् प्रतिरूप-अतिशय मनोहर है।

१२०—से णं पागारे णाणाविहपंचवण्णेहिं कविसीसएहिं उपसोभिते, तं जहा—कण्हेहि य नीलेहि य लोहितेहिं हालिद्देहिं सुक्किल्लेहिं कविसीसएहिं। ते णं कविसीसगा एगं जोयणं आयामेणं, अद्धजोयणं विक्खंभेणं, देसूणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

१२०—वह प्राकार अनेक प्रकार के कृष्ण, नील, लोहित—लाल, हारिद्र—पीले और श्वेत इन पाँच वर्णों वाले कपिशीर्षकों (कंगूरों) से शोभित है।

ये प्रत्येक कपिशीर्षक (कंगूरे) एक-एक योजन लम्बे, आधे योजन चौड़े और कुछ कम एक योजन ऊंचे है तथा ये सब रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् बहुत रमणीय हैं।

सूर्याभविमान के द्वारों का वर्णन

१२१—सुरियाभस्स णं विमाणस्स एगमेगाए बाहाए दारसहस्सं दारसहस्सं भवतीति मक्खायं।

ते णं दारा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं, सेया वरकणगथूभियागा ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहग-वालग-किन्नर-रुरु-सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलयभत्ति-चित्ता, खंभुग्गयवरवयरवेइयापरिगयाभिरामा, विज्जाहरजमल-जुयलजंतजुत्ता विव, अच्चीसहस्समालणीया रूवगसहस्सकलिया, भिसमाणा भिब्भिसमाणा, चक्खु-ल्लोयणलेसा, सुहफासा सस्सिरीय रूवा।

वन्नो दाराणं तेसिं होइ—तं जहा—वइरामया णिम्मा, रिट्ठामया पइट्ठाणा, वेरुलियमया खंभा, जायरूवोवचिय-पवरपंचवन्न-मणिरयण-कोट्टिमतला, हंसगब्भमया एलुया, गोमेज्जमया इंदकीला, लोहियक्खमतीतो चेडाओ, जोईरसमया उत्तरंगा, लोहियक्खमईओ सूईओ, वयरामया संधी, नाणा-मणिमया समुग्गया, वयरामया अग्गला-अग्गलपासाया, रययामयाओ आवत्तणपेढियाओ। अंकुत्तर-पासगा, निरंतरियघणकवाडा भित्तीसु चेव भित्तिगुलिता छप्पन्ना तिण्णि होंति गोमाणसिया तत्तिया णाणामणिरयणवालरूवगलीलट्ठियसाल-भंजियागा, वयरामया कूडा, रययामया उस्सेहा, सव्वत-वणिज्जमया उल्लोया, णाणामणिरयणजालपंजर-मणिवंसगलोहियक्खपडिवंसगरययभोमा, अंकामया पक्खा-पक्खबाहाओ, जोईरसामया वंसा-वंसकवेल्लुयाओ, रययामईओ पट्टियाओ, जायरूवमईओ ओहाडणीओ, वइरामईओ उवरिपुञ्छणीओ, सव्वसेयरययामये छायणे, अंकमयकणगकूडतवणिज्ज-थूभियागा, सेया संखतलविमलनिम्मलदधिघण-गोखीर-फेणरययणिगरप्पगासा तिलगरयणद्धचंद-

चित्ता[1] नाणामणिदामालंकिया, अंतो बहिं च सण्हा तवणिज्जवालुया पत्थडा, सुहफासा, सस्सिरीय-रूवा, पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

१२१—सूर्याभदेव के उस विमान की एक-एक बाजू में एक-एक हजार द्वार कहे गये है, अर्थात् उस विमान की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चारों दिशाओं में से प्रत्येक में एक-एक हजार द्वार हैं ।

ये प्रत्येक द्वार पाँच-पाँच सौ योजन ऊँचे हैं, अढाई सौ योजन चौड़े हैं और इतना ही (अढाई सौ योजन) इनका प्रवेशन—गमनागमन के लिए घुसने का स्थान—है । ये सभी द्वार श्वेत वर्ण के हैं । उत्तम स्वर्णमयी स्तूपिकाओं—शिखरों से सुशोभित है । उन पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मकर विहग, सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ-अष्टापद चमर, हाथी, वनलता, पद्मलता आदि के चित्राम चित्रित हैं ।

स्तम्भों पर बनी हुई वज्र रत्नों की वेदिका से युक्त होने के कारण रमणीय दिखाई पड़ते है । समश्रेणी में स्थित विद्याधरों के युगल यन्त्र द्वारा चलते हुए-से दीख पड़ते है । वे द्वार हजारों किरणों से व्याप्त और हजारों रूपको—चित्रों से युक्त होने से दीप्यमान और अतीव देदीप्यमान है । देखते ही दर्शकों के नयन उनमें चिपक जाते है । उनका स्पर्श सुखप्रद है । रूप शोभासम्पन्न है ।

उन द्वारों का वर्ण-स्वरूपवर्णन इस प्रकार है—

उन द्वारों के नेम (भूभाग से ऊपर निकले प्रदेश) वज्ररत्नों से, प्रतिष्ठान (मूल पाये) रिष्ट रत्नों से—स्तम्भवैडूर्य मणियों से तथा तलभाग स्वर्णजड़ित पचरंगे मणि रत्नों से बने हुए है । इनकी देहलियाँ हंसगर्भ रत्नों की, इन्द्रकीलियाँ गोमेदरत्नों की, द्वारशाखाये लोहिताक्ष रत्नों की, उत्तरंग (ओतरंग—द्वार के ऊपर पाटने के लिये तिरछा रखा पाटिया) ज्योतिरस रत्नों के, दो पाटियो को जोड़ने के लिये ठोकी गई कीलियाँ लोहिताक्षरत्नों की है और उनकी सांधे वज्ररत्नों से भरी हुई हैं । समुद्गक (कीलियों का ऊपरी हिस्सा—टोपी) विविध मणियों के हैं । अर्गलाये अर्गलापाशक (कुंदा) वज्ररत्नों के हैं । आवर्तन पीठिकाये (इन्द्रकोली का स्थान) चाँदी की है । उत्तरपार्श्वक (वेनी) अंक रत्नों के हैं । इनमें लगे किवाड़ इतने सटे हुए सघन है कि बन्द करने पर थोड़ा-सा भी अन्तर नही रहता है । प्रत्येक द्वार की दोनो बाजुओ की भीतों में एक सौ अड़सठ-एक सौ अड़सठ सब मिलाकर तीन सौ छप्पन भित्तिगुलिकाये (देखने के लिये गोल-गोल गुप्त झरोखे) है और उतनी ही गोमानसिकाये—बैठके है—प्रत्येक द्वार पर अनेक प्रकार के मणि रत्नमयी व्यालरूपों—सर्पो-से क्रीड़ा करती पुतलियाँ बनी हुई हैं । अथवा सर्परूप धारिणी अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से निर्मित क्रीड़ा करती हुई पुतलियाँ इन द्वारों पर बनी हुई है । इनके माड़ वज्ररत्नों के और माड़ के शिखर चाँदी के हैं और द्वारों के ऊपरी भाग स्वर्ण के है । द्वारों के जालीदार झरोखे भाँति-भाँति के मणि-रत्नो से बने हुए हैं । मणियों के वासों का छप्पर है और वांसों को वाँधने की खपच्चियाँ लोहिताक्ष रत्नो की है । रजतमयी भूमि है अर्थात् छप्पर पर चाँदी की परत बिछी हुई है । उनकी पाखे और पाखों की बाजुये अंकरत्नों की हैं । छप्पर के नीचे सीधी और आड़ी लगी हुई वल्लियाँ तथा कवेलू ज्योतितस-रत्नमयी हैं । उनकी पाटियाँ चाँदी की है । अवघाटनियाँ (कवेलुओं के ढक्कन) स्वर्ण की वनी हुई हैं । ऊपरि

१. पाठान्तर—मह्वुतल-विमल निम्मल-दहिघण-गोखीरफेण-रययनियरप्पगासद्धचन्दचित्ताइं ।

प्रोच्छनियाँ (टाटियाँ) वज्ररत्नों की है। टाटियों के ऊपर और कबेलुओं के नीचे के आच्छादन सर्वात्मना श्वेत-धवल और रजतमय है। उनके शिखर अंकरत्नों के हैं और उन पर तपनीय—स्वर्ण की स्तूपिकाये बनी हुई है। ये द्वार शंख के समान विमल, दही एवं दुग्धफेन और चाँदी के ढेर जैसी श्वेत प्रभा वाले है। उन द्वारों के ऊपरी भाग में तिलकरत्नों से निर्मित अनेक प्रकार के अर्धचन्द्रों के चित्र बने हुए है। अनेक प्रकार की मणियों की मालाओं से अलंकृत है। वे द्वार अन्दर और बाहर अत्यन्त स्निग्ध और सुकोमल हैं। उनमें सोने के समान पीली बालुका बिछी हुई है। सुखद स्पर्श वाले रूप-शोभासम्पन्न, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर और अतीव रमणीय है।

१२२—तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस चंदणकलस-परिवाडीओ पन्नत्ताओ, ते णं चंदणकलसा वरकमल-पइट्ठाणा सुरभिवरवारिपडिपुण्णा, चंदण-कयचच्चागा, आविद्धे कंठे गुणा, पउमुप्पलपिहाणा सव्वरयणामया, अच्छा जाव[1] पडिरूवगा महया-महया इंदकुंभसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !

१२२—उन द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निशीधिकाओं (बैठको) में सोलह-सोलह चन्दन-कलशों की पक्तियाँ हैं, अर्थात् उन द्वारों की दायी बायी बाजू की एक-एक बैठक में पंक्तिबद्ध सोलह-सोलह चन्दनकलश स्थापित हैं।

ये चन्दनकलश श्रेष्ठ उत्तम कमलों पर प्रतिष्ठित—रखे है, उत्तम सुगन्धित जल से भरे हुए है, चन्दन के लेप से चर्चित-मंडित, विभूषित हैं, उनके कंठों में कलावा (रक्तवर्ण सूत) बंधा हुआ है और मुख पद्मोत्पल के ढक्कनों से ढंके हुए हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! ये सभी कलश सर्वात्मना रत्नमय हैं, निर्मल यावत् बृहत् इन्द्रकुंभ जैसे विशाल एवं अतिशय रमणीय है।

१२३—तेसि णं दाराण उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस-सोलस णागदन्तपरिवाडीओ पन्नत्ताओ।

ते णं णागदंता मुत्ताजालंतरुसियहेमजाल-गवक्खजाल-खिखिणीघंटाजाल-परिक्खित्ता अब्भुग्गया अभिणिसिट्ठा तिरियं सुसंपरिग्गहिया अहेपन्नगद्धरूवा, पन्नगद्धसंठाणसंठिया, सव्ववय-रामया अच्छा जाव[2] पडिरूवा महया महया गयदंतसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !

१२३—उन द्वारो की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निशीधिकाओं मे सोलह-सोलह नागदन्तों (खूटियों-नकूचों) की पक्तियाँ कही हैं।

ये नागदन्त मोतियों और सोने की मालाओं मे लटकती हुई गवाक्षाकार (गाय की आंख) जैसी आकृति वाले घुंघरुओ से युक्त, छोटी-छोटी घंटिकाओ से परिवेष्टित—व्याप्त, घिरे हुए हैं। इनका अग्रभाग ऊपर की ओर उठा और दीवाल से बाहर निकलता हुआ है एवं पिछला भाग अन्दर दीवाल मे अच्छी तरह से घुसा हुआ है और आकार सर्प के अधोभाग जैसा है। अग्रभाग का संस्थान सर्पार्ध के समान है। वे वज्ररत्नो से बने हुए है। हे आयुष्मन् श्रमणो ! बड़े-बड़े गजदन्तो जैसे ये नागदन्त अतीव स्वच्छ, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतिशय शोभाजनक हैं।

१-२. देखें सूत्र संख्या ११८.

१२४—तेसु णं णागदंतएसु बहवे किण्हसुत्तबद्धा वग्घारितमल्लदामकलावा णील-लोहित-हालिद्द-सुक्किलसुत्तबद्धा वग्घारितमल्लदामकलावा । ते णं दामा तवणिज्जलंबूसगा, सुवन्नपयरग-मंडिया नाणाविहमणिरयणविविहहारउवसोभियसमुदया जाव (ईसिं अण्णमण्णम-संपत्ता, वाएहिं पुव्वावरदाहिणुत्तुरागएहिं मंदायं मंदायं एज्जमाणाणि एज्जमाणाणि पलंबमाणाणि पलंबमाणाणि वदमाणाणि वदमाणाणि उरालेणं मणुन्नणं मणहरेणं कण्ण-मणणिव्वुतिकरेणं सद्दणं ते पएसे सव्वओ समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा) सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणा चिट्ठंति ।

१२४—इन नागदन्तों पर काले सूत्र से गूंथी हुई तथा नीले, लाल, पीले और सफेद डोरे से गूंथी हुई लम्बी-लम्बी मालायें लटक रही हैं। वे मालायें सोने के झूमकों और सोने के पत्तों से परिमंडित तथा नाना प्रकार के मणि-रत्नों से रचित विविध प्रकार के शोभनीक हारों—अर्धहारों के अभ्युदय यावत् (पास-पास टंगे होने से पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर की हवा के मन्द-मन्द झोकों से हिलने-डुलने और एक दूसरे से टकराने पर विशिष्ट, मनोज्ञ, मनहर, कर्ण और मन को शांति प्रदान करने वाली ध्वनि से समीपवर्ती समस्त प्रदेश को व्याप्त करते हुए) अपनी श्री-शोभा से अतीव-अतीव उपशोभित हैं।

१२५—तेसि णं णागदंताणं उवरिं अन्नाओ सोलस-सोलस नागदंतपरिवाडीओ पन्नत्ता, ते णं णागदंता तं चेव जाव गयदंतसमाणा पन्नत्ता समाणाउसो ! तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वेरुलियामईओ धूवघडीओ पण्णत्ताओ, ताओ णं धूवघडीओ कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामाओ सुगंधवरगंधियातो गंधवट्टिभूयाओ ओरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं घाणमणणिव्वुइकरेणं गंधेणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणा आपूरेमाणा जाव (सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा) चिट्ठंति ।

१२५—इन नागदन्तों के भी ऊपर अन्य-दूसरी सोलह-सोलह नागदन्तों की पंक्तियाँ कही हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो ! पूर्ववर्णित नागदन्तों की तरह ये नागदन्त भी यावत् विशाल गजदन्तों के समान हैं।

इन नागदन्तों पर बहुत से रजतमय शीके (छीके) लटके हैं। इन प्रत्येक रजतमय शीकों में वैडूर्य-मणियों से बनी हुई धूप-घटिकायें रखी हैं।

ये धूपघटिकायें काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दरुष्क, तुरुष्क (लोभान) और सुगन्धित धूप के जलने से उत्पन्न मघमघाती मनमोहक सुगन्ध के उड़ने एवं उत्तम सुरभि-गन्ध की अधिकता से गन्धवर्तिका के जैसी प्रतीत होती हैं तथा सर्वोत्तम, मनोज्ञ, मनोहर, नासिका और मन को तृप्तिप्रदायक गन्ध से उस प्रदेश को सब तरफ से अधिवासित करती हुई यावत् अपनी श्री से अतीव-अतीव शोभायमान हो रही हैं।

द्वारस्थित पुतलियां

१२६—तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस सालभंजिया-परिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं सालभंजियाओ लीलट्ठियाओ, सुपइट्ठियाओ, सुअलंकियाओ, णाणा-विहरागवसणाओ, णाणामल्लपिणद्धाओ, मुट्ठिगिज्झसुमज्झाओ, आमेलगजमलजुयल-वट्टिय-अब्भुन्नय

पीणरइयसंठियपीवरपओहराओ, रत्तावंगाओ, असियकेसीओ मिउविसयपसत्थ-लक्खणसंवेल्लियग्ग-सिरयाओ ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठियाओ वामहत्थग्गहियग्गसालाओ ईसिं अद्धच्छिकडक्ख-चिट्ठिएणं लूसमाणीओ विव चक्खुल्लोयणलेसेहि य अन्नमन्नं खिज्जमाणीओ विव पुढविपरिणामाओ, सासयभावमुवगयाओ, चन्दाणणाओ, चन्दविलासिणीओ, चन्दद्धसमणिडालाओ, चंदाहियसोमदंसणाओ, उक्का विव उज्जोवेमाणाओ, विज्जुघणमिरियसूरदिप्पंततेयअहिययरसन्निकासाओ सिंगारागार-चारुवेसाओ पासाइयाओ जाव (दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ) चिट्ठंति ।

१२६—उन द्वारों की दोनों बाजुओं की निशीधिकाओं (बैठकों) में सोलह-सोलह पुतलियों की पंक्तियाँ हैं।

ये पुतलियाँ विविध प्रकार की लीलायें—(क्रीड़ायें) करती हुई, सुप्रतिष्ठित-मनोज्ञ रूप से स्थित सब प्रकार के आभूषणों—अलकारों से श्रृंगारित, अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे परिधानों—वस्त्रों एवं मालाओं से शोभायमान, मुट्ठी प्रमाण (मुट्ठी में समा जाने योग्य) कृश—पतले मध्य भाग (कटि प्रदेश) वाली, शिर पर ऊँचा अंबाड़ा—जूड़ा बांधे हुए और समश्रेणि में स्थित है। वे सहवर्ती, अभ्युन्नत—ऊँचे, परिपुष्ट-मांसल, कठोर, भरावदार—पीवर—स्थूल गोलाकार पयोधरों—स्तनों वाली, लालिमा युक्त नयनान्तभाग वाली, सुकोमल, अतीव निर्मल, शोभनीक सघन घुंघराली काली-काली कजरारी केशराशि वाली, उत्तम अशोक वृक्ष का सहारा लेकर खड़ी हुई और बायें हाथ से अग्र शाखा को पकड़े हुए, अर्ध निमीलित नेत्रों की ईषत् वक्र कटाक्ष-रूप चेष्टाओं द्वारा देवों के मनों को हरण करती हुई-सी और एक दूसरे को देखकर परस्पर खेद-खिन्न होती हुई-सी, पार्थिवपरिणाम (मिट्टी से बनी) होने पर भी शाश्वत—नित्य विद्यमान, चन्द्रार्धतुल्य ललाट वाली, चन्द्र से भी अधिक सौम्य कांति वाली, उल्का—खिरते तारे के प्रकाश पुंज की तरह उद्योत वाली—चमकीली विद्युत् (मेघ की बिजली) की चमक एवं सूर्य के देदीप्यमान तेज से भी अधिक प्रकाश-प्रभावाली, अपनी सुन्दर वेशभूषा से श्रृंगार रस के गृह-जैसी और मन को प्रसन्न करने वाली यावत अतीव (दर्शनीय, मनोहर अतीव रमणीय) हैं।

१२७—तेसिणं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस जालकडगपरिवाडीओ पन्नत्ता, ते णं जालकडगा सव्वरयणामया अच्छा जाव[1] पडिरूवा ।

१२७—इन द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह जालकटक (जाली झरोखों से बने प्रदेश) हैं, ये प्रदेश सर्वरत्नमय, निर्मल यावत अत्यन्त रमणीय हैं।

१२८—तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ निसीहियाए सोलस सोलस घंटापरिवाडीओ पन्नत्ता, तासि णं घंटाणं इमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तं जहा—

जंबूणयामईओ घंटाओ, वयरामयाओ, लालाओ णाणामणिमया घंटापासा, तवणिज्जामइयाओ संखलाओ, रययामयाओ रज्जूओ ।

ताओ णं घंटाओ ओहस्सराओ, मेहस्सराओ, हंसस्सराओ कुंचस्सराओ, सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ, णंदिघोसाओ, मंजुस्सराओ, मंजुघोसाओ, सुस्सराओ, सुस्सरघोसाओ उरालेणं मणुन्नेणं

१ देखें सूत्र संख्या ११८

मणहरेणं कन्नमणनिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणाओ आपूरेमाणाओ जाव (सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणा) चिट्ठंति।

१२८—इन द्वारों की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निषीधिकाओं मे सोलह-सोलह घंटाओं की पक्तियाँ कही गई है।

उन घंटाओं का वर्णन इस प्रकार है—वे प्रत्येक घंटे जाम्बूनद स्वर्ण से बने हुए हैं, उनके लोलक वज्ररत्नमय है, भीतर और बाहर दोनों बाजुओं में विविध प्रकार के मणि जड़े हैं, लटकाने के लिये बंधी हुई साँकलें सोने की और रस्सियाँ (डोरियां) चाँदी की हैं।

मेघ की गड़गड़ाहट, हंसस्वर, क्रौंचस्वर, सिंहगर्जना, दुन्दुभिनाद, वाद्यसमूहनिनाद, नन्दिघोष, मंजुस्वर, मजुघोष, सुस्वर, सुस्वरघोष जैसी ध्वनिवाले वे घंटे अपनी श्रेष्ठ—सुन्दर मनोज्ञ, मनोहर कर्ण और मन को प्रिय, सुखकारी झनकारों से उस प्रदेश को चारों ओर से व्याप्त करते हुए अतीव अतीव शोभायमान हो रहे हैं।

१२९—तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस सोलस वणमालापरिवाडीओ पन्नत्ताओ, ताओ णं वणमालाओ णाणामणिमयदुमलयकिसलयपल्लवसमाउलाओ छप्पयपरिभुज्जमाणसोहंत सस्सिरीयाओ पासाईयाओ, दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ परिरूवाओ।

१२९—उन द्वारों की दोनों बाजुओं की दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह वनमालाओं की परिपाटियां—पंक्तियाँ कही हैं।

ये वनमालायें अनेक प्रकार की मणियों से निर्मित द्रुमों—वृक्षों, पौधों, लताओं किसलयो (नवीन कोपलों) और पल्लवों—पत्तों से व्याप्त हैं। मधुपान के लिये बारम्बार षटपदों—भ्रमरों के द्वारा स्पर्श किये जाने से सुशोभित ये वनलतायें मन को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप, एवं प्रतिरूप हैं।

१३०—तेसि णं दाराणं उभओ पासे दुहओ णिसीहियाए सोलस-सोलस पगंठगा पन्नत्ता। ते णं पगंठगा अड्डाइज्जाइं जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं, पणवीसं जोयणसयं बाहल्लेणं, सव्ववयरामया अच्छा जाव[1] पडिरूवा।

१३०—इन द्वारों की उभय पार्श्ववर्ती दोनों निषीधिकाओं में सोलह-सोलह प्रकंठक (वेदिका रूप पीठविशेष, चबूतरा) हैं।

ये प्रत्येक प्रकंठक अढ़ाई सौ योजन लम्बे, अढ़ाई सौ योजन चौड़े और सवा सौ योजन मोटे हैं तथा सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् अतीव रमणीय हैं।

१३१—तेसि णं पगंठगाणं उवरि पत्तेयं पत्तेयं पासायवडेंसगा पन्नत्ता। ते णं पासायवडेंसगा अड्डाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं, अब्भुग्गयमूसिअपहसिया विव, विविहमणिरयणभत्तिचित्ता, वाउद्धुयविजय-वेजयंतपडागच्छत्ताइछत्तकलिया, तुंगा, गगण-

---

१. देखें सूत्र संख्या ११८

तलमणुलिहंतसिहरा, जालंतररयणपंजरुम्मिलिय व्व, मणिकणगथूभियागा, वियसियसयवत्तपोंडरीय-तिलगरयणद्धचंदचित्ता, णाणामणिदामालंकिया अंतो बहिं च सण्हा तवणिज्जवालुया-पत्थडा सुहफासा सस्सिरीयरूवा पासादीया दरिसणिज्जा जाव दामा।

१३१—उन प्रकण्ठकों के ऊपर एक-एक प्रासादावतंसक (श्रेष्ठमहल-विशेष) है।

ये प्रासादावंतसक ऊँचाई में अढाई सौ योजन ऊँचे और सवा सौ योजन चौड़े हैं, चारों दिशाओं में व्याप्त अपनी प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं। विविध प्रकार के मणि-रत्नों से इनमें चित्र-विचित्र रचनायें बनी हुई हैं। वायु से फहराती हुई, विजय को सूचित करने वाली वैजयन्ती-पताकाओं एवं छत्रातिछत्रों (एक दूसरे के ऊपर रहे हुए छत्रों) से अलकृत है, अत्यन्त ऊँचे होने से इनके शिखर मानो आकाशतल का उल्लघन करते है। विशिष्ट शोभा के लिये जाली-झरोखों में रत्न जड़े हुए है। वे रत्न ऐसे चमकते है मानों तत्काल पिटारों से निकाले हुए हों। मणियों और स्वर्ण से इनकी स्तूपिकाये निर्मित (शिखर) है। तथा स्थान-स्थान पर विकसित शतपत्र एवं पुंडरीक कमलों के चित्र और तिलकरत्नों से रचित अर्धचन्द्र बने हुए है। वे नाना प्रकार की मणिमय मालाओं से अलकृत हैं। भीतर और बाहर से चिकने—कमनीय है। प्रांगणों में स्वर्णमयी बालुका बिछी हुई है, इनका स्पर्श सुखप्रद है। रूप शोभासम्पन्न है। देखते ही चित्त में प्रसन्नता होती है, वे दर्शनीय है। यावत् मुक्तादामों आदि से सुशोभित हैं।

विवेचन—'जाव दामा' पद से यह सूचित किया है कि यानविमान के प्रसंग में जिस तरह उसकी अन्तर्भूमि, प्रेक्षागृह मंडप, रंगमंच, सिंहासन, विजय, दूष्य, वज्रांकुश एवं मुक्तादामों का वर्णन किया है, उसी प्रकार समस्त वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

सक्षेप मे उक्त वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

इन प्रासादावतसकों का अन्तर्वर्ती भूभाग आलिग पुष्कर, मृदंगपुष्कर, सूर्यमंडल, चन्द्रमंडल अथवा कीलों को ठोक और चारो ओर से खीचकर सम किये गये भेड़, बैल, सुअर, सिंह आदि के चमड़े के समान अतीव सम, रमणीय है एवं अनेक प्रकार के शुभ लक्षणों तथा आकार प्रकार वाले काले, पीले, नीले आदि वर्णो की मणियो से उपशोभित है।

प्रत्येक प्रासादावतंसक के उस समभूमि भाग के बीचो-बीच वेदिकाओं, तोरणो, पुतलियो आदि से अलकृत प्रेक्षागृहमंडप बने हुए हैं और उन मंडपों के भी मध्यभाग में स्थित मणिपीठिकाओ पर ईहामृग, वृषभ, अश्व, नर, मगर आदि-आदि के चित्रामों से युक्त स्वर्ण-मणि रत्नों से बने हुए सिंहासन रखे है।

सिंहासनों के ऊपरी भाग में शंख, कुंद-पुष्प, क्षीरोदधि के फेनपुंज आदि के सदृश श्वेतधवल विजयदूष्य बधे हैं और उनके बीचों बीच वज्ररत्नों से बने हुए अकुंश लगे हैं।

उन अकुंशों मे कुंभप्रमाण, अर्धकुंभ प्रमाण जैसे बड़े-बड़े मुक्तादाम (झूमर) लटक रहे है। ये सभी दाम सोने के लबूसकों, मणि रत्नमयी हारो—अर्धहारो से परिवेष्टित है तथा हवा के झोंकों से परस्पर एक-दूसरे से टकराने पर कर्णप्रिय ध्वनि समीपवर्ती प्रदेश को व्याप्त करते हुए असाधारण रूप से सुशोभित हो रहे है।

द्वारों के उभय पार्श्ववर्ती तोरण

१३२—तेसि णं दाराणं उभओ पासे सोलस सोलस तोरणा पन्नत्ता, णाणामणिमया णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसन्निविट्ठा जाव[1] पउम-हत्थगा।

तेसि णं तोरणाणं पत्तेयं पुरओ दो दो सालभंजियाओ पन्नत्ताओ, जहा हेट्ठा तहेव[2]।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ नागदंता पन्नत्ता, जहा हेट्ठा जाव[3] दामा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो हयसंघाडा, गयसंघाडा, नरसंघाडा, किन्नरसंघाडा, किंपुरिससंघाडा, महोरगसंघाडा, गंधव्वसंघाडा, उसभसंघाडा, सव्वरयणामया अच्छा जाव[4] पडिरूवा, एवं पंतीओ वीही मिहुणाइं।

तेसि णं तोरणाणं दो-दो पउमलयाओ जाव[5] (नागलयाओ, असोगलयाओ, चंपगलयाओ, चूयलयाओ, वणलयाओ, वासंतियलयाओ, अइमुत्तयलयाओ कुंदलयाओ) सामलयाओ, णिच्चं कुसुमियाओ सव्वरयणामया अच्छा जाव[5] पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो दिसा-सोवत्थिया पन्नत्ता, सव्वरयणामया अच्छा जाव[6] पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो दो-दो चंदणकलसा पन्नत्ता, ते णं चंदणकलसा वरकमलपइट्ठाणा तहेव[7]।

तेसि णं तोरणाणं पुरतो भिंगारा पन्नत्ता, ते णं भिंगारा वरकमलपइट्ठाणा जाव[8] महया मत्तगयमुहागितिसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो आयंसा पन्नत्ता, तेसि णं आयंसाणं इमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते, तंजहा—तवणिज्जमया पगंठगा, अंकमया मंडला, अणुग्घसितनिम्मलाए छायाए समणुबद्धा, चंदमंडलपडिणिकासा, महया-महया अद्धकायसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो वइरनाभथाला पन्नत्ता, अच्छतिच्छडियसालितंदुलणहसंदिट्ठपडिपुन्ना इव चिट्ठंति सव्वजंबूणयमया जाव[9] पडिरूवा महया-महया रहचक्कवालसमाणा पन्नत्ता समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो पाईओ, ताओ, णं पाईओ सच्छोदगपरिहत्थाओ, णाणाविहस्स फलहरियगस्स बहुपडिपुन्नाओ विव चिट्ठंति, सव्वरयणामईओ अच्छा जाव[10] पडिरूवाओ महया-महया गोकलिंजरचक्कसमाणीओ पन्नत्ताओ समणाउसो !

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो सुपइट्ठा पन्नत्ता णाणाविहभंडविरइया इव चिट्ठंति सव्वरयणामया अच्छा जाव[11] पडिरूवा।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो मणोगुलियाओ पन्नत्ताओ, तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवन्न-रुप्पमया फलगा पन्नत्ता, तेसु णं सुवन्नरुप्पमएसु फलगेसु बहवे वयरामया नागदंतया पन्नत्ता, तेसु णं वयरामएसु णागदंतएसु बहवे वयरामया सिक्कगा पन्नत्ता, तेसु णं वयरामएसु सिक्कगेसु किण्ह-

१-२. देखें सूत्र संख्या १२६ ३—देखें सूत्र संख्या १२३ ४—देखें सूत्र संख्या ११८ ५-६ देखें सूत्र ११८
७-८. देखें सूत्र संख्या ११२ ९-१०-११—देखें सूत्र संख्या ११८

सुत्तसिक्कगवच्छिया णीलसुत्तसिक्कगवच्छिया, लोहियसुत्तसिक्कगवच्छिया हालिद्दसुत्तसिक्कगवच्छिया, सुक्किल्लसुत्तसिक्कगवच्छिया बहवे वायकरगा पन्नत्ता सव्ववेरुलियमया अच्छा जाव[1] पडिरूवा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चित्ता रयणकरडगा पन्नत्ता, से जहाणामए रन्नो चाउरंत-चक्कवट्टिस्स चित्ते रयणकरंडए वेरुलियमणिफलिहपडलपच्चोयडे साते पहाते ते पतेसे सव्वतो समंता ओभा सति उज्जोवेति तवति पभासति, एवमेव ते वि चित्ता रयणकरंडगा साते पभाते ते पएसे सव्वओ समंता ओभासंति, उज्जोवेंति, तवंति पभासंति ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो हयकंठा, गयकंठा, नरकंठा, किन्नरकंठा, किंपुरिसकंठा, महोरगकंठा, गंधव्वकंठा, उसभकंठा सव्वरयणामया अच्छा जाव[2] पडिरूवा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो-दो पुप्फचंगेरीओ, मल्लचंगेरीओ, चुन्नचंगेरीओ, गंधचंगेरीओ, वत्थचंगेरीओ, आभरणचंगेरीओ, सिद्धत्थचंगेरीओ लोमहत्थचंगेरीओ पन्नत्ताओ सव्वरयणामयाओ अच्छाओ जाव[3] पडिरूवाओ ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो पुप्फपडलगाइं जाव लोमहत्थपडलगाइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं जाव[4] पडिरूवाइं ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो सीहासणा पण्णत्ता, तेसि णं सीहासणाणं वण्णओ जाव[5] दामा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो रुप्पमया छत्ता पन्नत्ता, ते णं छत्ता वेरुलियविमलदंडा, जंबूणयकन्निया, वइरसंधी, मुत्ताजालपरिगया, अट्ठसहस्सवरकंचणसलागा, दद्दरमलयसुगंधिसव्वोउयसुरभिसीयलच्छाया, मंगलभत्तिचित्ता, चंदागारोवमा ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो चामराओ पन्नत्ताओ, ताओ णं चामराओ चंदप्पभवेरुलियवयरनानामणिरयणखचियचित्तदण्डाओ[6] सुहुमरययदीहवालातो संखंककुंददगरयअमयमहियफेणपुंजसन्निगासातो, सव्वरयणामयाओ, अच्छाओ जाव पडिरूवाओ ।

तेसि णं तोरणाणं पुरओ दो दो तेल्लसमुग्गा, पत्तसमुग्गा, चोयगसमुग्गा, तगरसमुग्गा, एलासमुग्गा, हरियालसमुग्गा, हिंगुलयसमुग्गा, मणोसिलासमुग्गा, अंजणसमुग्गा, सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा ।

१३२—उन द्वारों के दक्षिण और वाम—दोनो पार्श्वों में सोलह-सोलह तोरण हैं ।

वे सभी तोरण नाना प्रकार के मणिरत्नों से बने हुए है तथा विविध प्रकार की मणियों से निर्मित स्तम्भों के ऊपर अच्छी तरह बन्धे हैं यावत् पद्म-कमलों के झूमकों-गुच्छों से उपशोभित हैं ।

उन तोरणों में से प्रत्येक के आगे दो-दो पुतलिया स्थित हैं । पुतलियों का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए ।

१-२-३-४ देखें सूत्र संख्या ११८

५. सिंहासन के वर्णन के लिये देखें सूत्र संख्या ४८, ४९, ५०, ५१ ।

६. पाठान्तर—णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ ।

उन तोरणों के आगे दो-दो नागदन्त (खूंटे) हैं। मुक्तादाम पर्यन्त इनका वर्णन पूर्ववर्णित नागदन्तों के समान जानना चाहिये।

उन तोरणों के आगे दो-दो अश्व, गज, नर, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व और वृषभ संघाट (युगल) हैं। ये सभी रत्नमय, निर्मल यावत् असाधारण रूप-सौन्दर्य वाले हैं। इसी प्रकार से इनकी पंक्ति (श्रेणी) वीथि[1] और मिथुन (स्त्री-पुरुषयुगल) स्थित है।

उन तोरणों के आगे दो-दो पद्मलताये यावत् (नागलताये, अशोकलताये, चम्पकलतायें, आम्रलतायें, वनलताये, वासन्तीलतायें, अतिमुक्तकलतायें, कुंदलताये) श्यामलतायें हैं। ये सभी लतायें पुष्पों से व्याप्त और रत्नमय, निर्मल यावत् असाधारण मनोहर है।

उन तोरणों के अग्र भाग में दो-दो दिशा-स्वस्तिक रखे है, जो सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् (मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप-मनोहर) प्रतिरूप-अतीव मनोहर हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो चन्दनकलश कहे हैं। ये चन्दनकलश श्रेष्ठ कमलों पर स्थापित हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

उन तोरणों के आगे दो-दो भृंगार (झारी) हैं। ये भृंगार भी उत्तम कमलों पर रखे हुए है यावत् हे आयुष्मन् श्रमणो! मत्त गजराज की मुखाकृति के समान विशाल आकार वाले है।

उन तोरणों के आगे दो-दो आदर्श-दर्पण रखे हैं। इन दर्पणों का वर्णन इस प्रकार है—

इनकी पाठपीठ सोने की है, (चौखटे वैडूर्य मणि के और पिछले भाग वज्ररत्नों के बने हुये हैं) प्रतिबिम्ब मण्डल अंक रत्न के हैं और अनघिसे होने (घिसे नहीं जाने) पर भी ये दर्पण अपनी स्वाभाविक निर्मल प्रभा से युक्त हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो! चन्द्रमण्डल सरीखे ये निर्मल दर्पण ऊंचाई में कायार्ध (आधे शरीर) जितने बड़े-बड़े हैं।

उन तोरणों के आगे वज्रमय नाभि वाले (वज्ररत्नो से निर्मित मध्य भाग वाले) दो-दो थाल रखे हैं। ये सभी थाल मूशल आदि से तीन बार छांटे गये, शोध गये, अतीव स्वच्छ निर्मल अखण्ड तंदुलों-चावलों से परिपूर्ण-भरे हुए से प्रतिभासित होते हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो! ये थाल जम्बूनद-स्वर्णविशेष-से बने हुए यावत् अतिशय रमणीय और रथ के पहिये जितने विशाल गोल आकार के हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो पात्रियाँ रखी है। ये पात्रियां स्वच्छ निर्मल जल से भरी हुई है और विविध प्रकार के सद्य-ताजे हरे फलों से भरी हुई-सी प्रतिभासित होती हैं। हे आयुष्मन् श्रमणो! ये सभी पात्रियां रत्नमयी, निर्मल यावत् अतीव मनोहर है और इनका आकार बड़े-बड़े गोकलिजरों (गाय को घास रखने के टोकरों) के समान गोल हैं।

उन तोरणों के आगे दो दो सुप्रतिष्ठकपात्र विशेप (प्रसाधन मंजूषा-शृंगारदान) रखे हैं। प्रसाधन-शृंगार की साधन भूत औषधियों आदि से भरे हुए भांडो से सुशोभित है और सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् अतीव मनोहर हैं।

---

१. एक दिशोन्मुख एवं परस्पर एक दूसरे के उन्मुख अवस्थान को क्रमशः पंक्ति और वीथि कहते हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो मनोगुलिकायें है। इन मनोहर मनोगुलिकाओं पर अनेक सोने और चांदी के पाटिये जड़े हुए हैं और उन सोने और चांदी के पाटियों पर वज्ररत्नमय नागदन्त लगे हैं एवं उन नागदन्तों के ऊपर वज्ररत्नमय छीके टगे है। उन छीकों पर काले, नीले, लाल, पीले और सफेद सूत के जालीदार वस्त्र खण्ड से ढंके हुए वातकरक (जल से रहित, कोरे घड़े) रखे है। ये सभी वातकरक वज्ररत्नमय, स्वच्छ यावत् अतिशय सुन्दर है।

उन तोरणों के आगे चित्रामों से युक्त दो-दो (रत्नकरंडक—रत्नो के पिटारे) रखे है। जिस तरह चातुरंत चक्रवर्ती (षट् खंडाधिपति) राजा का वैडूर्यमणि से बना एवं स्फटिक मणि के पटल से आच्छादित अद्‌भुत-आश्चर्य-जनक रत्नकरंडक अपनी प्रभा से उस प्रदेश को पूरी तरह से प्रकाशित, उद्योतित, तापित और प्रभासित करता है, उसी प्रकार ये रत्नकरडक भी अपनी प्रभा—कांति से अपने निकटवर्ती प्रदेश को सर्वात्मना प्रकाशित, उद्योतित, तापित, और प्रभासित करते हैं।

उन तोरणों के आगे दो-दो अश्वकंठ, (कंठ पर्यन्त घोड़े की मुखाकृति जैसे रत्न-विशेष) गज-कठ, नरकंठ, किन्नरकंठ, किंपुरुषकंठ, महोरगकंठ, गंधर्वकंठ और वृषभकठ रखे हैं। ये सब अश्वकंठादिक सर्वथा रत्नमय, स्वच्छ-निर्मल यावत् असाधारण सुन्दर है।

उन तोरणों के आगे दो-दो पुष्प-चंगेरिकाये (फूलों से भरी छोटी-छोटी टोकरिया—डलियाये) माल्यचंगेरिकाये, चूर्ण (सुगन्धित चूर्ण) चंगेरिकाये गन्ध चंगेरिकाये, वस्त्र चंगेरिकाये, आभरण (आभूषण) चंगेरिकायें, सिद्धार्थ (सरसों) की चंगेरिकाये एवं लोमहस्त (मयूरपिच्छ) चगेरिकाये रखी है। ये सभी रत्नों से वनी हुई, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर है।

उन तोरणो के आगे दो-दो पुष्पपटलक (पिटारे) यावत् (माल्य, चूर्ण, गन्ध, वस्त्र, आभरण, सिद्धार्थ,) तथा मयूर पिच्छपटलक रखे है। ये सब भी पटलक रत्नमय, स्वच्छ—निर्मल यावत् प्रतिरूप है।

उन तोरणो के आगे दो-दो सिहासन है। इन सिंहासनों का वर्णन मुक्तादामपर्यन्त पूर्ववत् कहना चाहिये।

उन तोरणो के आगे रजतमय दो-दो छत्र है। इन रजतमय छत्रो के दण्ड विमल वैडूर्य-मणियो के है, कर्णिकाये (बीच का केन्द्र) सोने की है, संधियां वज्र की है, मोती पिरोई हुई आठ हजार सोने की सलाइया (ताने) है तथा दद्दर चन्दन और सभी ऋतुओं के पुष्पों की सुरभि से युक्त शीतल कान्ति वाले हैं। इन पर मंगलरूप स्वस्तिक आदि के चित्र बने हैं। इनका आकार चन्द्रमण्डलवत् गोल है।

उन तोरणो के आगे दो-दो चामर है। इन चामरो की डंडियां चन्द्रकान्त वैडूर्य और वज्र रत्नो की है और उन पर अनेक प्रकार के मणि-रत्नो द्वारा विविध चित्र-विचित्र रचनायें बनी है, शंख, अंकरत्न, कुन्दपुष्प, जलकण और मथित क्षीरोदधि के फेनपुंज सदृश श्वेत-धवल उनके पतले बाल है। ये सभी चामर सर्वथा रत्नमय, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अनुपम शोभाशाली है।

उन तोरणो के आगे दो-दो तैलसमुद्गक (सुगन्धित तेल से भरे पात्र), कोष्ठ (सुगन्धित द्रव्य-विशेष कूट) समुद्गक, पत्र (तमाल—के पत्ते) समुद्गक, चोयसमुद्गक, तगरसमुद्गक, एला

(इलायची) समुद्गक, हरतालसमुद्गक, हिंगलुकसमुद्गक, मैनमिलसमुद्गक, अंजनसमुद्गक रखे है। ये सभी समुद्गक रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् अतीव मनोहर है।

द्वारस्थ ध्वजाओं का वर्णन

१३३—सूरियाभे णं विमाणे एगमेगे दारे अट्ठसयं चक्कज्झयाणं, अट्ठसयं मिगज्झयाणं, गरुडज्झयाणं, छत्तज्झयाणं, पिच्छज्झयाणं, सउणिज्झयाणं, सीहज्झयाणं, उसभज्झयाणं, अट्ठसयं सेयाणं चउविसाणाणं नागवरकेऊणं। एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे एगमेगे दारे असीयं असीयं केउसहस्सं भवति इति मक्खायं।

१३३—सूर्याभ विमान के प्रत्येक द्वार के ऊपर चक्र, मृग, गरुड़, छत्र, मयूरपिच्छ, पक्षी, सिंह, वृषभ, चार दांत वाले श्वेत हाथी और उत्तम नाग (सर्प) के चित्र (चिह्न) से अंकित एक सौ, आठ—एक सौ आठ ध्वजायें फहरा रही है। इस तरह सब मिलाकर एक हजार अस्सी-एक हजार अस्सी ध्वजायें उस सूर्याभ विमान के प्रत्येक द्वार पर फहरा रही है—ऐसा तीर्थंकर भगवन्तों ने कहा है।

द्वारवर्ती भौमों (विशिष्ट स्थानों) का वर्णन

१३४—तेसि णं दाराणं एगमेगे दारे पण्णट्ठिं पण्णट्ठिं भोमा पन्नत्ता। तेसि णं भोमाणं भूमिभागा, उल्लोया च भाणियव्वा। तेसि णं भोमाणं च बहुमज्झदेसभागे पत्तेयं पत्तेयं सीहासणे, सीहासणवन्नओ सपरिवारो, अवसेसेसु भोमेसु पत्तेयं-पत्तेयं भद्दासणा पन्नत्ता।

१३४—उन द्वारों के एक-एक द्वार पर पैंसठ-पैसठ भौम (विशिष्ट स्थान—उपरिगृह) बताये हैं। यान विमान की तरह ही इन भौमो के समरमणीय भूमि भाग और उल्लोक (चन्देवो) का वर्णन करना चाहिए।

इन भौमों के बीचों-बीच एक-एक सिंहासन रखा है। यानविमानवर्ती सिंहासन की तरह उसका सपरिवार वर्णन समझना चाहिए, अर्थात् उसके परिवार रूप सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित इन सिंहासनों का वर्णन जानना चाहिये। शेष आसपास के भौमों में भद्रासन रक्खे है।

१३५—तेसि णं दाराणं उत्तमागारा[1] सोलसविहेहिं रयणेहिं उवसोभिया, तं जहा—रयणेहिं जाव रिट्ठेहिं।

तेसि णं दाराणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा सज्झया जाव छत्तातिछत्ता।

एवमेव सपुव्वावरेणं सूरियाभे विमाणे चत्तारि दारसहस्सा भवंतीति मक्खायं।

१३५—उन द्वारो के ओतरंग (ऊपरी भाग) सोलह प्रकार के रत्नों से उपशोभित है। उन रत्नों के नाम इस प्रकार है—कर्केतनरत्न यावत् (वज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मसारगल्ल, हंसगर्भ, पुलक सौगन्धिक, ज्योतिरस, अंक, अंजन, रजत, अंजनपुलक, जातरूप, स्फटिक), रिष्टरत्न।

---

१. पाठान्तर—उवरिमागारा।

उन द्वारों के ऊपर ध्वजाओं यावत् छत्रातिछत्रों से शोभित स्वस्तिक आदि आठ-आठ मगल है।

इस प्रकार सूर्याभ विमान में सब मिलकर चार हजार द्वार सुशोभित हो रहे हैं।

विमान के वनखण्डों का वर्णन

१३६—सूरियाभस्स विमाणस्स चउद्दिसिं पंच जोयणसयाइं अबाहाए चत्तारि वणसंडा पन्नत्ता, तं जहा—असोगवणे, सत्तवण्णवणे, चंपगवणे, चूयगवणे।

पुरत्थिमेणं असोगवणे, दाहिणेणं सत्तवन्नवणे, पच्चत्थिमेणं चंपगवणे, उत्तरेणं चूयगवण।

ते णं वणखंडा साइरेगाइ अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयामेणं, पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं, पत्तेयं पत्तेयं पागारपरिखित्ता, किण्हा किण्होभासा, नीला नीलोभासा, हरिया हरियोभासा, सीया सीयोभासा, निद्धा निद्धोभासा, तिव्वा तिव्वोभासा, किण्हा किण्हच्छाया, नीला नीलच्छाया, हरिया हरियच्छाया, सीया सीयच्छाया, निद्धा निद्धच्छाया, घणकडितडियच्छाया, रम्मा महामेहनिकुरंब-भूया।………ते णं पायवा मूलमंतो वणखंडवन्नओ।

१३६—उन सूर्याभविमान के चारों ओर पाँच सौ-पाँच सौ योजन के अन्तर पर चार दिशाओ में १. अशोकवन, २. सप्तपर्णवन, ३. चंपकवन और ४. आम्रवन नामक चार वन खड है।

पूर्व दिशा में अशोकवन, दक्षिण दिशा में सप्तपर्ण वन, पश्चिम में चपक वन और उत्तर में आम्रवन है।

ये प्रत्येक वनखंड साढे बारह लाख योजन से कुछ अधिक लम्बे और पांच सौ योजन चौड़े है। प्रत्येक वनखंड एक-एक परकोटे से परिवेष्टित—घिरा है।

ये सभी वनखड अत्यन्त घने होने के कारण काले और काली आभा वाले, नीले और नील आभा वाले, हरे और हरी काति वाले, शीत स्पर्श और शीत आभा वाले, स्निग्ध—कमनीय और कमनीय काति दीप्ति—प्रभा वाले, तीव्र प्रभा वाले तथा काले और काली छाया वाले, नीले और नीली छाया वाले, हरे और हरी छाया वाले, शीतल और शीतल छाया वाले, स्निग्ध और स्निग्ध छाया वाले हैं एवं वृक्षों की शाखा-प्रशाखायें आपस में एक दूसरी से मिली होने के कारण अपनी सघन छाया से बडे ही रमणीय तथा महा मेघो के समुदाय जैसे सुहावने दिखते है।

इन वनखंडों के वृक्ष जमीन के भीतर गहरी फैली हुई जडों से युक्त है, इत्यादि वृक्षों का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार यहा करना चाहिए।

विवेचन—औपपातिक सूत्र के अनुसार सक्षेप मे वनखड के वृक्षों का वर्णन इस प्रकार है—

---

१ एक जाति वाले श्रेष्ठ वृक्षों के समूह को [illegible]

इन वनखडों के वृक्ष जमीन के अन्दर विस्तृत गहरे फैले हुए मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रशाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल, बीज से युक्त है। छतरी के समान इनका रमणीय गोल आकार है। इनके स्कन्ध ऊपर की ओर उठी हुई अनेक शाखा-प्रशाखाओं से शोभित है और इतने विशाल एवं वृत्ताकार है कि अनेक पुरुष मिलकर भी अपने फैलाये हुए हाथो से उन्हे घेर नही पाते। पत्ते इतने घने है कि बीच में जरा भी अतर दिखलाई नही देता है। पत्र-पल्लव सदैव नवीन जैसे दिखते है। कोपले अत्यन्त कोमल है और सदैव सव ऋतुओं के पुष्पों से व्याप्त हैं तथा नमित, विशेष नमित, पुष्पित, पल्लवित, गुल्मित, गुच्छित, विनमित प्रणमित होकर मजरी रूप शिरोभूषणों से अलंकृत रहते है। तोता, मयूर, मैना, कोयल, नंदीमुख, तीतर, बटेर, चक्रवाल, कलहंस, बतक, सारस आदि अनेक पक्षि-युगलों के मधुर स्वरों से गूंजते रहते हैं। अनेक प्रकार के गुच्छों और गुल्मो से निर्मित मंडप आदि से सुशोभित हैं। नासिका और मन को तृप्ति देने वाली सुगंध से महकते रहते है। इस प्रकार ये सभी वृक्ष सुरम्य, प्रासादिक दर्शनीय, अभिरूप-मनोहर एवं प्रतिरूप—विशिष्ट शोभासंपन्न हैं।

१३७—तेसि णं वणसंडाणं अंतो बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता, से जहानामए आलिग-पुक्खरे तिवा जाव णाणाविहपंचवण्णेहिं मणीहि य तणेहि य उवसोभिया, तेसि णं गंधो फासो णेयव्वो जहक्कमं।

१३७—उन वनखंडों के मध्य मे अति सम रमणीय भूमिभाग (मैदान) है। वे-मैदान आलिग पुष्कर आदि के सदृश समतल यावत् नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पंचरंगे मणियों और तृणों से उप-शोभित हैं। इन मणियों के गंध और स्पर्श यथाक्रम से पूर्व में किये गये मणियों के गंध और स्पर्श के वर्णन के समान जानना चाहिए।

मणियों और तृणों की ध्वनियाँ

१३८—प्र०—तेसि णं भंते! तणाण य मणीण य पुव्वावरदाहिणुत्तरागतेहिं वातेहिं मंदायं मंदायं एइयाणं वेइयाणं कंपियाणं चालियाणं फंदियाणं घट्टियाणं खोभियाणं उदीरिदाणं केरिसए सद्दे भवति?

१३८—हे भदन्त! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा से आए वायु के स्पर्श से मंद-मद हिलने-डुलने, कंपने, डगमगाने, फरकने, टकराने क्षुभित—विचलित और उदीरित—प्रेरित होने पर उन तृणों और मणियों की कैसी शब्द-ध्वनि होती है?

१३९—उ०—गोयमा! से जहानामए सीयाए वा, संदमाणीए वा, रहस्स वा सच्छत्तस्स सज्झयस्स, सघंटस्स, सपडागस्स, सतोरणवरस्स सनंदिघोसस्स, सखिंखिणिहेमजालपरिक्खित्तस्स, हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुयायस्स, सुसंपिनद्धचक्कमंडलधुरागस्स, कालायसमुकयणेमिजंत-कम्मस्स आइण्णवर-तुरगसुसंपउत्तस्स, कुसलणरच्छेयसारहि-सुसंपरिग्गहियस्स, सरसबत्तीसतोणपरि-मंडियस्स सकंकडावयंगस्स, सचाव-सर-पहरण-आवरणभरिय-जोधजुज्झसज्जस्स, रायंगणंसि वा रायंतेउरंसि वा रम्मंसि वा मणिकुट्टिमतलंसि अभिक्खणं अभिक्खणं अभिघट्टिज्जमाणस्स वा नियट्टिज्ज-माणस्स वा ओराला मणुण्णा मणोहरा कण्णमणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिणिस्सवंति।

भवेयारूवे सिया? णो इणट्ठे समट्ठे।

१३९—हे गौतम ! जिस तरह शिविका (डोली, पालकी) अथवा स्यन्दमानिका (बहली-सुख-[पू]र्वक एक व्यक्ति के बैठने योग्य घोड़ा जुता यान-विशेष) अथवा रथ, जो छत्र, ध्वजा, घंटा, पताका [अ]ौर उत्तम तोरणों से सुशोभित, वाद्यसमूहवत् शब्द-निनाद करने वाले घुंघरुओं एवं स्वर्णमयी [म]ालाओं से परिवेष्टित हो, हिमालय में उत्पन्न अति निगड़-सारभूत उत्तम तिनिश काष्ठ से निर्मित [ए]वं सुव्यवस्थित रीति से लगाये गये आरों से युक्त पहियो और धुरा से सुसज्जित हो, सुदृढ उत्तम [ल]ोहे के पट्टों से सुरक्षित पट्टियों वाले, शुभलक्षणो और गुणों से युक्त कुलीन अश्व जिसमें जुते हों जो [र]थ-संचालन-विद्या मे अति कुशल, दक्ष सारथी द्वारा संचालित हो, एक सौ-एक सौ बाण वाले, बत्तीस [त]ूणीरों (तरकसों) से परिमंडित हो, कवच से आच्छादित अग्र-शिखर-भाग वाला हो, धनुष बाण, [प्र]हरण, कवच आदि युद्धोपकरणों से भरा हो, और युद्ध के लिये तत्पर—सन्नद्ध योधाओं के लिए सजाया गया हो, ऐसा रथ बारम्बार मणियों और रत्नो से बनाये गये—फर्श वाले राजप्रागण, अंत:पुर अथवा रमणीय प्रदेश में आवागमन करे तो सभी दिशा-विदिशा में चारों ओर उत्तम, मनोज्ञ, मनोहर, कान और मन को आनन्द-कारक मधुर शब्द-ध्वनि फैलती है।

हे भदन्त ! क्या इन रथादिको की ध्वनि जैसी ही उन तृणों और मणियों की ध्वनि है ?

गौतम ! नही, यह अर्थ समर्थ नही है। (उनकी ध्वनि तो इनसे भी विशेष मधुर है।)

१४०—से जहाणामए वेयालियवीणाए उत्तरमंदामुच्छियाए अंके सुपइट्ठियाए कुसलनरनारि-सुसंपरिग्गहियाए चंदणसारनिम्मियकोणपरिघट्टियाए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंमि मंदायं-मंदायं वेइयाए, पवेइयाए, चलियाए, घट्टियाए, खोभियाए, उदीरियाए ओराला, मणुण्णा, मणहरा, कण्ह-मणनिव्वुइकरा सद्दा सव्वओ समंता अभिनिस्सवंति, भवेयारूवे सिया ? णो इणट्ठे समट्ठे।

१४०—भदन्त ! क्या उन मणियों और तृणो की ध्वनि ऐसी है जैसी कि मध्यरात्रि अथवा रात्रि के अन्तिम प्रहर में वादनकुशल नर या नारी द्वारा अंक—गोद में लेकर चंदन के सार भाग से रचित कोण (वीणा बजाने का दण्ड, डांडी) के स्पर्श से उत्तर-मन्द मूर्च्छना वाली (राग-रागिनी के अनुरूप तीव्र-मन्द आरोह-अवरोह ध्वनियुक्त) वैतालिक वीणा को मन्द-मन्द ताडित, कंपित, प्रकंपित, चालित, घर्षित क्षुभित और उदीरित किये जाने पर सभी दिशाओं एवं विदिशाओं में चारों ओर उदार, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोहर, कर्णप्रिय एवं मनमोहक ध्वनि गूंजती है ?

गौतम ! नही, यह अर्थ समर्थ नही है। उन मणियों और तृणों की ध्वनि इससे भी अधिक मधुर है।

१४१—से जहानामए किन्नराण वा, किंपुरिसाण वा महोरगाण वा, गंधव्वाण वा, भद्द-सालवणगयाणं वा, नंदणवणगयाणं वा, सोमणसवणगयाणं वा, पंडगवणगयाणं वा, हिमवंतमलयमंदर-गिरिगुहासमन्नागयाण वा, एगओ सन्निहियाणं समागयाणं सन्निसण्णाणं समुवविट्ठाणं पमुइयपक्की-लियाणं गीयरइ गंधव्वहसियमणाणं गज्जं पज्जं, कत्थं, गेयं पयबद्धं, पायबद्धं उक्खित्तं पायंतं मंदं रोइयावसाणं सत्तसरसमन्नागयं[1] छद्दोसविप्पमुक्कं एक्कारसालंकारं अट्ठगुणोववेयं, गुंजावंककुहरोव-गूढं रत्तं तिट्ठाणकरणसुद्धं पगीयाणं, भवेयारूवे ?

१ [illegible]

१४१--भगवन् ! तो क्या उनकी ध्वनि इस प्रकार की है, जैसे कि भद्रशालवन, नन्दनवन, सौमनसवन अथवा पांडुक वन या हिमवन, मलय अथवा मंदरगिरि की गुफाओं में गये हुए एवं एक स्थान पर एकत्रित, समागत, बैठे हुए और अपने-अपने समूह के साथ उपस्थित, हर्षोल्लास पूर्वक क्रीड़ा करने में तत्पर, संगीत-नृत्य-नाटक-हासपरिहासप्रिय किन्नरों, किंपुरुषों, महोरगों अथवा गंधर्वो के गद्यमय-पद्यमय, कथनीय, गेय, पद-बद्ध, पादबद्ध, उत्क्षिप्त, पादान्त, मन्द-मन्द घोलनात्मक, रोचितावसान-सुखान्त, मनमोहक सप्त स्वरों से समन्वित, षड्दोषों से रहित, ग्यारह अलंकारों और आठ गुणों से युक्त गुंजारव से दूर-दूर के कोनों—क्षेत्रों को व्याप्त करने वाले राग-रागिनी से युक्त त्रि-स्थान-करण शुद्ध गीतो के मधुर बोल होते हैं ?

विवेचन—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार देवनिकायो में से किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व व्यन्तरनिकाय के देव है । ये सभी प्रशस्त गीत, संगीत, नृत्य एवं नाट्य-कलाओं के प्रेमी होते है । बालसुलभ क्रीड़ा और हास-परिहास, कोलाहल करने में इन्हें आनन्दानुभूति होती है । पुरुषो से बनाये हुए मुकुट, कुंडल आदि इनके प्रिय आभूषण है । सर्व ऋतुओं के सुन्दर सुगन्धित पुष्पों द्वारा निर्मित वनमालाओं से इनके वक्षस्थल शोभित रहते है । ये अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रंग-बिरंगे पंचरंगे परिधान—वस्त्र पहनते हैं । ये सभी प्रायः सुमेरु पर्वत और हिमवंत आदि पर्वतों के रमणीय प्रदेशों में निवास करते हैं ।

प्रस्तुत सूत्र में संगीत के स्वर, दोष और गुणों की संख्या का संकेत करने के लिये सत्तसर-समत्नागयं, छद्दोसविप्पमुक्कं, अट्ठगुणोववेयं पद दिये हैं । स्वरों आदि के नाम इस प्रकार हैं—

सप्तस्वर—१. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गांधार, ४. मध्यम, ५. पंचम, ६. धैवत और ७. निषाद ।

षड्दोष—१. भीत, २. द्रुत, ३. उप्पित्थ, ४. उत्ताल, ५. काकस्वर, ६. अनुनास ।

अष्टगुण—१. पूर्ण, २. रक्त ३. अलंकृत ४. व्यक्त ५. अविघुष्ट, ६. मधुर ७. सम ८. सुललित ।

१४२—हंता सिया ।

१४२—हे गौतम ! हाँ, ऐसी ही मधुरातिमधुर ध्वनि उन मणियों और तृणों से निकलती है ।

वनखंडवर्ती वापिकाओं आदि का वर्णन

१४३—तेसि णं वणसंडाणं तत्थ-तत्थ तहिं तहिं देसे देसे बहूईओ खुड्डा खुड्डियातो वावीयाओ, पुक्खरिणीओ, दीहियाओ, गुंजालियाओ, सरपंतियाओ, सरसरपंतियाओ, बिलपंतिओ, अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ, समतीराओ वयरामयपासाणाओ तवणिज्जतलाओ, सुवण्ण-सुज्झरययवालुयाओ वेरुलियमणिफालियपडलपच्चोयडाओ, सुहोयारसुउत्ताराओ, णाणामणि-तित्थसुबद्धाओ, चउक्कोणाओ, आणुपुव्वसुजातवप्पगंभीरसीयलजलाओ, संछन्नपत्तभि-समुणालाओ, बहुउप्पलकुमुयनलिणसुभगसोगंधियपोंडरीयसयवत्तसहस्सपत्तकेसरफुल्लोवचियाओ छप्पयपरिभुज्जमाणकमलाओ, अच्छविमलसलिलपुण्णाओ, पडिहत्थभमंतमच्छकच्छभ-अणेगसउण-मिहुणगपविचरिताओ ।

पत्तेयं-पत्तेयं पउमवरवेदियापरिक्खित्ताओ, पत्तेयं-पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ।

अप्पेगइयाओ आसवोयगाओ, अप्पेगइयाओ वारुणोयगाओ, अप्पेगइयाओ खीरोयगाओ, अप्पेगइयाओ घओयगाओ, अप्पेगइयाओ खोदोयगाओ[1] अप्पेगतियाओ पगतीए उयगरसेणं पण्णत्ताओ, पासादीयाओ दरिसणिज्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ।

१४३—उन वनखंडों में जहाँ-तहाँ स्थान-स्थान पर अनेक छोटी-छोटी चौरस वापिकायें-बावड़ियां, गोल पुष्करिणियां, दीर्घिकायें (सीधी बहती नदियाँ), गुंजालिकाये (टेढ़ी-तिरछी-बांकी बहती नदियां), फूलों से ढंकी हुई सरोवरों की पंक्तियाँ, सर-सर पंक्तियाँ (पानी के प्रवाह के लिए नहर द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए तालावो की पंक्तियाँ) एवं कूपपंक्तियाँ बनी हुई हैं।

इन सभी वापिकाओं आदि का बाहरी भाग स्फटिमणिवत् अतीव निर्मल, स्निग्ध—कमनीय है। इनके तट रजतमय हैं और तटवर्ती भाग अत्यन्त सम-चौरस हैं। ये सभी जलाशय वज्ररत्न रूपी पाषाणों से बने हुए हैं। इनके तलभाग तपनीय स्वर्ण से निर्मित हैं तथा उन पर शुद्ध स्वर्ण और चांदी की बालू बिछी है। तटों के समीपवर्ती ऊँचे प्रदेश (मुंडेर) वैडूर्य और स्फटिक मणि-पटलों के बने है। इनमें उतरने और निकलने के स्थान सुखकारी है। घाटों पर अनेक प्रकार की मणियाँ जड़ी हुई हैं। चार कोने वाली वापिकाओं और कुओं में अनुक्रम से नीचे-नीचे पानी अगाध एवं शीतल है तथा कमलपत्र, विस (कमलकंद) और मृणालों से ढंका हुआ है। ये सभी जलाशय विकसित—खिले हुए उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुंडरीक, शतपत्र तथा सहस्र-पत्र कमलों से सुशोभित हैं और उन पर पराग-पान के लिए भ्रमरसमूह गूंज रहे है। स्वच्छ-निर्मल जल से भरे हुए हैं। कल्लोल करते हुए मगर-मच्छ कछुआ आदि बेरोक-टोक इधर-उधर घूम फिर रहे हैं और अनेक प्रकार के पक्षिसमूहों के गमनागमन से सदा व्याप्त रहते है।

ये सभी जलाशय एक-एक पद्मवरवेदिका और एक एक वनखंड से परिवेष्टित—घिरे हुए है।

इन जलाशयों मे से किसी में आसव जैसा, किसी में वारुणोदक (वारुण समुद्र के जल) जैसा, किसी में क्षीरोदक जैसा, किसी में घी जैसा, किसी मे इक्षुरस जैसा और किसी-किसी में प्राकृतिक—स्वाभाविक पानी जैसा पानी भरा है।

ये सभी जलाशय मन को प्रसन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं।

१४४- तासि णं वावीणं जाव बिलपंतीणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि तिसोपाणपडिरूवगा पण्णत्ता, तेसि णं तिसोपाणपडिरूवगाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—वइरामया णेमा [illegible] तोरणाणं छत्ताइछत्ता य णेयव्वा।

१४४ उन प्रत्येक वापिकाओं यावत् कूपपंक्तियों की चारों दिशाओं में [illegible] सोपान बने हुए हैं। उन त्रिसोपान [illegible] का वर्णन इस प्रकार है, जैसे—उनकी [illegible] की हैं इत्यादि तोरणों, ध्वजाओं और [illegible] तक इनका वर्णन पूर्ववत् समझ [illegible]

1. [illegible]

१४५—तासि णं खुड्डाखुड्डियाणं वावीणं जाव बिलपंतियाणं तत्थ-तत्थ तहिं-तहिं बहवे उप्पायपव्वयगा, नियइपव्वयगा, जगईपव्वयगा दारुइज्जपव्वयगा, दगमंडवा, दगमंचगा, दगमालगा, दगपासायगा, उसड्डा खुड्डखुड्डगा अंदोलगा पक्खंदोलगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

१४५—उन छोटी-छोटी वापिकाओं यावत् कूपपंक्तियों के मध्यवर्ती प्रदेशों में बहुत से उत्पात पर्वत, नियतिपर्वत, जगतीपर्वत दारुपर्वत तथा कितने ही ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े दकमंडप, दकमंच, दकमालक, दकप्रासाद बने हुए है। तथा कहीं-कहीं पर मनुष्यों और पक्षियों को झूलने के लिये झूले-हिंडोले पड़े हैं। ये सभी पर्वत आदि सर्वरत्नमय अत्यन्त निर्मल यावत् असाधारण रूप से सम्पन्न हैं।

विवेचन—सूत्र में वापिकाओं आदि के अन्तरालवर्ती स्थानों में आये हुए जिन पर्वतों आदि का वर्णन किया है, उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उत्पातपर्वत—ऐसे पर्वत जहाँ सूर्याभ-विमानवासी देव-देवियाँ विविध प्रकार की चित्र-विचित्र क्रीड़ाओं के निमित्त अपने-अपने उत्तर में वैक्रिय शरीरों की रचना करते हैं।

नियतिपर्वत—इन पर्वतों पर सूर्याभ-विमानवासी देव-देवियाँ अपने-अपने भवधारणीय (मूल) वैक्रिय शरीरों से क्रीड़ारत रहते हैं।

जगतीपर्वत—इन पर्वतों का आकार कोट-परकोटे जैसा होता है।

दारुपर्वत—दारु अर्थात् काष्ठ-लकड़ी। लकड़ी से बने पर्वत जैसे आकार वाले कृत्रिम पर्वत।

दकमंडप—स्फटिक मणियों से निर्मित मंडप अथवा ऐसे मंडप जिनमें फव्वारों द्वारा कृत्रिम वर्षा की रिमझिम-रिमझिम फुहारें बरसती रहती हैं।

दकमालक—स्फटिक मणियों से बने हुए घर के ऊपरी भाग में बने हुए कमरे—मालिये।

उत्पात पर्वतों आदि की शोभा

१४६—तेसु णं उप्पाय-पव्वएसु पक्खंदोलएसु बहूइं हंसासणाइं, कोंचासणाइं गरुलासणाइं उण्णयासणाइं, पणयासणाइं, दीहासणाइं, भद्दासणाइं पक्खासणाइं, मगरासणाइं उसभासणाइं, सीहासणाइं, पउमासणाइं, दिसासोवत्थियाइं[1] सव्वरयणामयाइं अच्छाइं जाव पडिरूवाइं।

१४६—उन उत्पात पर्वतों, पक्षिहिडोलों आदि पर सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव मनोहर अनेक हंसासन (हंस जैसी आकृति वाले आसन) क्रौंचासन, गरुडासान, उन्नतासन (ऊपर की ओर उठे हुए आसन), प्रणतासन (नीचे की ओर झुके हुए आसन), दीर्घासन (शैया जैसे लम्बे आसन) भद्रासन, पक्ष्यासन, मकरासन, वृषभासन, सिंहासन, पद्मासन और दिशास्वस्तिक आसन (पक्षी, मगर, वृषभ, सिंह, कमल और स्वस्तिक के चित्रामों से सुशोभित अथवा तदनुरूप आकृति वाले आसन रखे हुए हैं।

---

१. यथाक्रम से इन आसनो की नामबोधक संग्रहणी इस प्रकार है—

"हसे कोंचे गरुडे उण्णय पणए य दीह भद्दे य।
पक्खे मयरे पउमे सीह दिसासोत्थि बारसमे।"

वनखंडवर्ती गृहों का वर्णन

१४७—तेसु णं वणसंडेसु तत्थ-तत्थ तहिं-तहिं देसे-देसे बहवे आलियघरगा, मालियघरगा, कयलिघरगा, लयाघरगा, अच्छणघरगा, पिच्छणघरगा, मज्जणघरगा, पसाहणघरगा, गब्भघरगा, मोहणघरगा, सालघरगा, जालघरगा, कुसुमघरगा, चित्तघरगा, गंधव्वघरगा, आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

१४७—उन वनखंडों मे यथायोग्य स्थानों पर बहुत से आलिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह जैसे मंडप) मालिगृह (वनस्पतिविशेष से बने हुए गृह) कदलीगृह, लतागृह, आसनगृह, (विश्राम करने के लिये बैठने योग्य आसनों से युक्त घर) प्रेक्षागृह (प्राकृतिक शोभा के अवलोकन हेतु बने विश्रामगृह अथवा नाट्यगृह) मज्जनगृह (स्नानघर) प्रसाधनगृह (शृंगार-साधनों से सुसज्जित स्थान), गर्भगृह (भीतर का घर), मोहनगृह (रतिक्रीड़ा करने योग्य स्थान), शालागृह, जाली वाले गृह, कुसुमगृह, चित्रगृह (चित्रों से सज्जित स्थान), गंधर्वगृह (संगीत-नृत्य शाला), आदर्शगृह (दर्पणो से बने हुए भवन) सुशोभित हो रहे है। ये सभी गृह रत्नो से बने हुए अधिकाधिक निर्मल यावत् असाधारण मनोहर है।

१४८—तेसु णं आलियघरगेसु जाव[1] आयंसघरगेसु तहिं तहिं घरएसु हंसासणाइं जाव[2] दिसासोवत्थिआसणाइं सव्वरयणामयाइं जाव पडिरूवाइं।

१४८—उन आलिगृहो यावत् आदर्शगृहों मे सर्वरत्नमय यावत् अतीव मनोहर हंसासन यावत् दिशा-स्वस्तिक आसन रखे है।

वनखंडवर्ती मंडपों का वर्णन

१४९—तेसु णं वणसंडेसु तत्थ-तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे जातिमंडवगा, जूहियामंडवगा मल्लियामंडवगा, णवमालियामंडवगा, वासंतिमंडवगा, दहिवासुयमंडवगा, सूरिल्लियमंडवगा[3] तंबोलिमंडवगा, मुद्दियामंडवगा, णागलयामंडवगा, अतिमुत्तयलयामंडवगा, अप्फोयामंडवगा, मालुयामंडवगा, अच्छा सव्वरयणामया जाव पडिरूवा।

१४९—उन वनखंडों मे विभिन्न स्थानों पर बहुत से जातिमंडप (जाई के कुंज), यूथिकामंडप (जूही की वेल के मंडप), मल्लिकामंडप, नवमल्लिकामंडप, वासंतीमंडप, दधिवासुका (वनस्पतिविशेष) मंडप, सूरिल्लि (सूरजमुखी) मंडप, नागरवेलमंडप मृद्वीकामंडप (अंगूर की वेल के मंडप), नागलतामंडप, अतिमुक्तक (माधवीलतामंडप, अप्फोया मंडप और मालुकामंडप बने हुए हैं। ये सभी मंडप अत्यन्त निर्मल, सर्वरत्नमय यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोहर है।

विवेचन—लता और वेलों से बने इन मंडपों मे बहुत सी सुगंधित पुष्पों वाली लताएं और वेलें तो प्रसिद्ध हैं, परन्तु कुछ एक नामों के बारे मे जानकारी नहीं मिलती है। जैसे दधिवासुका

१. देखें सूत्र संख्या १०[illegible]
२. देखें सूत्र संख्या १०[illegible]
३. [illegible]

अप्फोया मालुका। लेकिन प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी लतायें प्रायः सुगंधित पुष्पों वाली होनी चाहिये।

१५०—तेसु णं जातिमंडवएसु जाव मालुयामंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा हंसासणसंठिया जाव दिसासोवत्थियासणसंठिया, अण्णे य बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया[1] पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता समाणाउसो! आईणग-रूय-बूर-णवणीय-तूलफासा, सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

१५०—हे आयुष्मन् श्रमणो! उन जातिमंडपों यावत् मालुकामंडपों में कितने ही हंसासन सदृश आकार वाले यावत् कितने ही क्रौंचासन, कितने ही गरुडासन, कितने ही उन्नतासन, कितने ही प्रणतासन, कितने ही दीर्घासन, कतिने ही भद्रासन, कितने ही पक्ष्यासन, कितने ही मकारासन, कितने ही वृषभासन, कितने ही सिहासन, कितने ही पद्मासन, कितने ही दिशा स्वस्तिकासन जैसे आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक तथा दूसरे भी बहुत से श्रेष्ठ शयनासन (शैया, पलंग) सदृश विशिष्ट आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक रखे हुए है। ये सभी पृथ्वीशिलापट्टक चर्मनिर्मित वस्त्र अथवा मृगछाला, रुई, बूर, नवनीत, तूल, सेमल या आक की रुई के स्पर्श जैसे सुकोमल, कमनीय, सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव रमणीय हैं।

१५१—तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य आसयंति, सयंति, चिट्ठंति, निसीयंति, तुयट्टंति, रमंति, ललंति, कीलंति, किट्टंति, मोहेंति, पुरा पोराणाणं सुचिण्णाण सुपरिक्कंताण सुभाण कडाण कम्माण कल्लाणाण कल्लाणं फलविवागं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

१५१—उन हंसासनों आदि पर बहुत से सूर्याभविमानवासी देव और देवियाँ सुखपूर्वक बैठते है, सोते है, शरीर को लम्बा कर लेटते है, विश्राम करते हैं, ठहरते हैं, करवट लेते है, रमण करते है, केलिक्रीड़ा करते हैं, इच्छानुसार भोग-विलास भोगते हैं, मनोविनोद करते है, रासलीला करते है और रतिक्रीड़ा करते है। इस प्रकार वे अपने-अपने सुपुरुषार्थ से पूर्वोपार्जित शुभ, कल्याणमय शुभफलप्रद, मंगलरूप पुण्य कर्मों के कल्याणरूप फलविपाक का अनुभव करते हुए समय बिताते है।

वनखण्डवर्ती प्रासादवतंसक

१५२—तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं-पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, तेणं पासायवडेंसगा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, अब्भुग्गय-मूसियपहसिया इव तहेव बहुसमरमणिज्जभूमिभागो, उल्लोओ, सीहासणं सपरिवारं। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव (महज्जुइया, महाबला, महासुक्खा महाणुभावा) पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं जहा असोए सत्तपण्णे चंपए चूए।

१५२—उन वनखण्डों के मध्यातिमध्य भाग मे (बीचोंबीच) एक-एक प्रासादावतंसक (प्रासादों के शिरोभूषण रूप श्रेष्ठ प्रासाद) कहे है।

ये प्रासादावतंसक पाँच सौ योजन ऊँचे और अढ़ाई सौ योजन चौड़े हैं और अपनी उज्ज्वल प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं। इनका भूमिभाग अतिसम एवं रमणीय है। इनके चदेवा, सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित सिंहासन आदि का वर्णन पूर्ववत् कर लेना चाहिए।

---

१. पाठान्तर—मांसलसुघट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया।

इन प्रासादावतंसकों मे महान् ऋद्धिशाली यावत् (महाद्युतिसम्पन्न, महाबलिष्ठ, अतीव सुखसम्पन्न और महाप्रभावशाली) एक पल्योपम की स्थिति वाले चार देव निवास करते है। उनके नाम इस प्रकार हैं--अशोकदेव, सप्तपर्णदेव, चंपकदेव और आम्र देव।

विवेचन--सूत्र में मात्र सूर्याभविमान के चतुर्दिग्वर्ती वनखंडो मे निवास करने वाले देवो के नाम और उनकी आयु का उल्लेख किया है। इस विषय मे ज्ञातव्य यह है—

ये चारो देव अपने-अपने नाम वाले वनखड के स्वामी है तथा सूर्याभदेव के सदृश महान् ऋद्धिसम्पन्न है एवं अपने-अपने सामानिक देवों, सपरिवार अग्रमहिषियो, तीन परिषदाओ, सप्त अनीको—सेनाओ और सेनापतियों, आत्मरक्षक देवों का आधिपत्य, स्वामित्व आदि करते हुए नृत्य, गीत, नाटक और वाद्यघोषो के साथ विपुल भोगोपभोगों का भोग करते हुए अपना समय व्यतीत करते है।

इन वनखडाधिपति देवो की आयु का कालप्रमाण वतलाने के लिए 'पल्योपम' शव्द का प्रयोग किया है। जो अतीदीर्घ काल का वोधक है।

काल अनन्त है और इसमें से जिस समय-अवधिकी दिन, मास, और वर्षो के रूप मे गणना की जा सकती हे, उसके लिए तो जैन वाङ्मय मे घड़ी, घंटा, पूर्वांग पूर्व, आदि शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त संज्ञायें निश्चित की हैं। परन्तु इसके वाद जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि उसकी गणना वर्षों में न की जा सके, वहाँ उपमाप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् उसका वोध उपमाप्रमाण द्वारा कराया जाता है। उस उपमाकाल के दो भेद है—पल्योपम और सागरोपम। प्रस्तुत में पल्योपम का उल्लेख होने से उसका आशय स्पष्ट करते हैं।

पल्य या पल्ल का अर्थ है कुआ अथवा धान्य को मापने का पात्र-विशेष। उसके आधार या उसकी उपमा से की जाने वाली कालगणना की अवधि पल्योपम कहलाती है।

पल्योपम के तीन भेद है—१. उद्धारपल्योपम, २. अद्धापल्योपम और ३. क्षेत्रपल्योपम। ये तीनो भी प्रत्येक वादर[1] और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के है। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है --

उद्धारपल्योपम--उत्सेधांगुल[2] द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बा, एक योजन चौडा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-वनाकर उसमे एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्यो के वालाग्रो को इतना ठसाठस भरे कि न उन्हे आग जला सके, न वायु उडा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। इस प्रकार से भरे हुए उन कुए मे से प्रतिसमय एक-एक वालाग्र-वालखंड निकाला जाये तो निकालते निकालते जितने समय मे वह कुआ खाली हो जाये उस काल-परिमाण को उद्धारपल्योपम कहते है। उद्धार का अर्थ है निकालना। अतएव वालो के उद्धार या निकाले जाने के कारण इसका उद्धारपल्योपम नामकरण किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन वादर उद्धार-पल्योपम का है। अब सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम का स्वरूप वतलाते हैं

१. [illegible]

२. [illegible]

अप्फोया मालुका। लेकिन प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी लतायें प्राय: सुगंधित पुष्पों वाली होनी चाहिये।

१५०—तेसु णं जातिमंडवएसु जाव मालुयामंडवएसु बहवे पुढविसिलापट्टगा हंसासणसंठिया जाव दिसासोवत्थियासणसंठिया, अण्णे य बहवे वरसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया[1] पुढविसिलापट्टगा पण्णत्ता समाणाउसो ! आईणग-रूय-बूर-णवणीय-तूलफासा, सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा।

१५०—हे आयुष्मन् श्रमणो ! उन जातिमंडपो यावत् मालुकामंडपों में कितने ही हंसासन सदृश आकार वाले यावत् कितने ही क्रोचासन, कितने ही गरुडासन, कितने ही उन्नतासन, कितने ही प्रणतासन, कितने ही दीर्घासन, कतिने ही भद्रासन, कितने ही पक्ष्यासन, कितने ही मकारासन, कितने ही वृषभासन, कितने ही सिहासन, कितने ही पद्मासन, कितने ही दिशा स्वस्तिकासन जैसे आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक तथा दूसरे भी बहुत से श्रेष्ठ शयनासन (शैया, पलंग) सदृश विशिष्ट आकार वाले पृथ्वीशिलापट्टक रखे हुए है। ये सभी पृथ्वीशिलापट्टक चर्मनिर्मित वस्त्र अथवा मृगछाला, रुई, बूर, नवनीत, तूल, सेमल या आक की रुई के स्पर्श जैसे सुकोमल, कमनीय, सर्वरत्नमय, निर्मल यावत् अतीव रमणीय हैं।

१५१—तत्थ णं बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य आसयंति, सयंति, चिट्ठंति, निसीयंति, तुयट्ठंति, रमंति, ललंति, कीलंति, किट्टंति, मोहेंति, पुरा पोराणाणं सुचिण्णाण सुपरिवक्कताण सुभाण कडाण कम्माण कल्लाणाण कल्लाणं फलविवागं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति।

१५१—उन हंसासनों आदि पर बहुत से सूर्याभविमानवासी देव और देवियाँ सुखपूर्वक बैठते है, सोते है, शरीर को लम्बा कर लेटते है, विश्राम करते हैं, ठहरते हैं, करवट लेते है, रमण करते है, केलिक्रीड़ा करते हैं, इच्छानुसार भोग-विलास भोगते है, मनोविनोद करते है, रासलीला करते है और रतिक्रीड़ा करते है। इस प्रकार वे अपने-अपने सुपुरुषार्थ से पूर्वोपार्जित शुभ, कल्याणमय शुभफलप्रद, मंगलरूप पुण्य कर्मो के कल्याणरूप फलविपाक का अनुभव करते हुए समय बिताते है।

वनखण्डवर्ती प्रासादवतंसक

१५२—तेसि णं वणसंडाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं-पत्तेयं पासायवडेंसगा पण्णत्ता, तेण पासायवडेंसगा पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, अब्भुग्गय-मूसियपहसिया इव तहेव बहुसमरमणिज्जभूमिभागो, उल्लोओ, सीहासणं सपरिवारं। तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव (महज्जुइया, महाबला, महासुक्खा महाणुभावा) पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, तं जहा असोए सत्तपण्णे चंपए चूए।

१५२—उन वनखण्डो के मध्यातिमध्य भाग मे (बीचोंबीच) एक-एक प्रासादावतंसक (प्रासादों के शिरोभूषण रूप श्रेष्ठ प्रासाद) कहे है।

ये प्रासादावतंसक पाँच सौ योजन ऊँचे और अढ़ाई सौ योजन चौड़े हैं और अपनी उज्ज्वल प्रभा से हँसते हुए से प्रतीत होते हैं। इनका भूमिभाग अतिसम एवं रमणीय है। इनके चदेवा, सामानिक आदि देवों के भद्रासनों सहित सिंहासन आदि का वर्णन पूर्ववत् कर लेना चाहिए।

---

१. पाठान्तर—मांसलसुघट्ठविसिट्ठसंठाणसंठिया।

इन प्रासादावतंसको में महान् ऋद्धिशाली यावत् (महाद्युतिसम्पन्न, महाबलिष्ठ, अतीव सुखसम्पन्न और महाप्रभावशाली) एक पल्योपम की स्थिति वाले चार देव निवास करते है। उनके नाम इस प्रकार है--अशोकदेव, सप्तपर्णदेव, चंपकदेव और आम्र देव।

विवेचन--सूत्र में मात्र सूर्याभविमान के चतुर्दिग्वर्ती वनखंडो मे निवास करने वाले देवों के नाम और उनकी आयु का उल्लेख किया है। इस विषय मे ज्ञातव्य यह है—

ये चारो देव अपने-अपने नाम वाले वनखड के स्वामी है तथा सूर्याभदेव के सदृश महान् ऋद्धिसम्पन्न हैं एवं अपने-अपने सामानिक देवों, सपरिवार अग्रमहिषियो, तीन परिषदाओ, सप्त अनीको—सेनाओ और सेनापतियो, आत्मरक्षक देवों का आधिपत्य, स्वामित्व आदि करते हुए नृत्य, गीत, नाटक और वाद्यघोषों के साथ विपुल भोगोपभोगों का भोग करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं।

इन वनखंडाधिपति देवो की आयु का कालप्रमाण बतलाने के लिए 'पल्योपम' शब्द का प्रयोग किया है। जो अतीदीर्घ काल का बोधक है।

काल अनन्त है और इसमें से जिस समय-अवधिकी दिन, मास, और वर्षो के रूप में गणना की जा सकती है, उसके लिए तो जैन वाङ्मय में घड़ी, घंटा, पूर्वांग पूर्व, आदि शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त संज्ञायें निश्चित की है। परन्तु इसके बाद जहाँ समय की अवधि इतनी लम्बी हो कि उसकी गणना वर्षो में न की जा सके, वहाँ उपमाप्रमाण की प्रवृत्ति होती है। अर्थात् उसका बोध उपमाप्रमाण द्वारा कराया जाता है। उस उपमाकाल के दो भेद हैं—पल्योपम और सागरोपम। प्रस्तुत में पल्योपम का उल्लेख होने से उसका आशय स्पष्ट करते हैं।

पल्य या पल्ल का अर्थ है कुआ अथवा धान्य को मापने का पात्र-विशेष। उसके आधार या उसकी उपमा से की जाने वाली कालगणना की अवधि पल्योपम कहलाती है।

पल्योपम के तीन भेद है—१. उद्धारपल्योपम, २. अद्धापल्योपम और ३. क्षेत्रपल्योपम। ये तीनों भी प्रत्येक बादर[1] और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के है। इनका स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

उद्धारपल्योपम—उत्सेधागुल[2] द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य-बनाकर उसमे एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले भोगभूमिज मनुष्यों के बालाग्रों को इतना ठसाठस भरे कि न उन्हे आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके। इस प्रकार से भरे हुए उस कुए में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र-बालखंड निकाला जाये तो निकालते निकालते जितने समय मे वह कुआ खाली हो जाये उस काल-परिमाण को उद्धारपल्योपम कहते है। उद्धार का अर्थ है निकालना। अतएव बालों के उद्धार या निकाले जाने के कारण इसका उद्धारपल्योपम नामकरण किया गया है।

उपर्युक्त वर्णन बादर उद्धार-पल्योपम का है। अब सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम का स्वरूप बतलाते हैं—

---

१. अनुयोग द्वार मे सूक्ष्म और व्यवहारिक ये दो भेद किये है।

२. आठ यवमध्य का उत्सेधांगुल होता है।

ऊपर बादर उद्धार-पल्योपम को समझाने के लिए कुए मे जिन बालाग्रों का संकेत किया है। उनमें से प्रत्येक बालाग्र के बुद्धि के द्वारा असंख्यात खंड-खंड करके उन सूक्ष्म खंडो को पूर्ववर्णित कुए में ठसाठस भरा जाये और फिर प्रतिसमय एक-एक खंड को उस कुए से निकाला जाये। ऐसा करने पर जितने काल में वह कुआ निःशेष रूप से खाली हो जाये, उस समयावधि को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते है। इसका कालप्रमाण संख्यात करोड़ वर्ष है। इस सूक्ष्म उद्धारपल्योपम से द्वीप और समुद्रो की गणना की जाती है।

अद्धापल्योपम—अद्धा शब्द का अर्थ है काल या समय। प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित पल्योपम का आशय इसी पल्योपम से है। इसका उपयोग चतुर्गति के जीवों की आयु और कर्मो की स्थिति वगैरह को जानने में किया जाता है।

इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—पूर्वोक्त प्रमाण वाले कुए को बालाग्रों से ठसाठस भरने के बाद सौ-सो वर्ष के अनन्तर एक-एक बालाग्र को निकाला जाये और इस प्रकार से निकालते-निकालते जितना काल लगे, निकालने पर कुआ खाली हो जाये, उतने काल प्रमाण को बादर अद्धा पल्योपम कहते हैं।

ऊपर कहे गये बादर अद्धापल्योपम के लिए जो बालाग्र लिए गये है, उनके बुद्धि द्वारा असंख्यात अदृश्य खंड करके कुए को ठसाठस भरा जाये और फिर प्रति सौ वर्ष बाद एक खंड को निकाला जाये एवं इस प्रकार से निकालते-निकालते जब कुआ खाली हो जाये और उसमे जितना समय लगे, उतने कालप्रमाण को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते है।

क्षेत्रपल्योपम—उद्धार पल्योपम के प्रसंग में जिस एक योजन लम्बे-चौड़े और गहरे कुए का उल्लेख है उसको पूर्व की तरह एक से सात दिन तक के भोगभूमिज के बालाग्रों से ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करे, उनमे से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में समस्त प्रदेशो का अपहरण हो जाये, उतने समय का प्रमाण बादरक्षेत्र पल्योपम कहलाता है। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है।

बादरक्षेत्र पल्योपम का प्रमाण जानने के लिए जिन बालाग्रों का सकेत है, उनके असंख्यात खंड करके पूर्ववत् पल्य में भर दो। वे खड उस पल्य में आकाश के जिन प्रदेशो का स्पर्श करे और जिन प्रदेशो का स्पर्श न करे, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय मे स्पृष्ट और अस्पृष्ट दोनो प्रकार के सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके उतने समय के प्रमाण को सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपमकाल कहते हैं। इसका काल भी असंख्यात उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी प्रमाण है। जो बादरक्षेत्र पल्योपम की अपेक्षा असंख्यात गुना अधिक जानना चाहिए। इसके द्वारा दृष्टिवाद मे द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र और प्रवचनसारोद्धार में पल्योपम का विस्तार से विवेचन किया गया है।

दिगम्बर साहित्य में पल्योपम का जो वर्णन किया गया है, वह उक्त वर्णन से कुछ भिन्न है। उसमें क्षेत्रपल्योपम नाम का कोई भेद नही है और न प्रत्येक पल्योपम के बादर और सूक्ष्म भेद ही किये है। वहां पल्योपम के तीन प्रकारों के नाम इस प्रकार हैं—१. व्यवहारपल्य, २. उद्धारपल्य

और ३. अद्धापल्य। इनमे से व्यवहार पल्य का इतना ही उपयोग है कि उसके द्वारा उद्धारपल्य और अद्धापल्य की निष्पत्ति होती है। उद्धारपल्य के द्वारा द्वीप और समुद्रों की संख्या और अद्धापल्य के द्वारा जीवो की आयु आदि का विचार किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक और त्रिलोकसार में इनका विशद रूप में विवेचन किया गया है।

उपकारिकालयन का वर्णन

१५३—सूरियाभस्स णं देवविमाणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तंजहा—वणसंड-विहूणे जाव बहवे वेमाणिया देवा देवीओ य आसयंति जाव विहरंति।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसे एत्थ णं महेगे उवगारियालयणे पण्णत्ते, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसं जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचिविसेसूणं परिक्खेवेणं, जोयणं बाहल्लेणं सव्वजंबूणयामए अच्छे जाव पडिरूवे।

१५३—सूर्याभ नामक देवविमान के अंदर अत्यन्त समतल एवं अतीव रमणीय भूमिभाग है। शेष बहुत से वैमानिक देव और देवियो के बैठने से लेकर विचरण करने तक का वर्णन पूर्ववत् कर लेना चाहिए। किन्तु यहाँ वनखंड का वर्णन छोड़ देना चाहिए।

उस अतीव सम रमणीय भूमिभाग के बीचों-बीच एक उपकारिकालयन बना हुआ है। जो एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है और उसकी परिधि (कुल क्षेत्र का घेराव) तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोस एक सौ अट्ठाईस धनुष और कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल है। एक योजन मोटाई है। यह विशाल लयन सर्वात्मना (पूरा का पूरा) स्वर्ण का बना हुआ, निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतीव रमणीय है।

विवेचन—उपकारिकालयन—प्रशासनिक कार्यों की व्यवस्था के लिए निर्धारित सचिवालय सरीखे स्थान विशेष को कहना चाहिये—'सौधोऽस्त्री राजसदनम् उपकार्योपकारिका' (अमरकोश द्वि. कां. पुरवर्ग श्लोक १०, हैम अभिधान कां. ४ श्लोक ५९)। किन्तु 'पाइअसद्दमहण्णवो' में उवगा-रिय+लयण (लेण) इस प्रकार समास पद मानकर उवगारिया का अर्थ प्रासाद आदि की पीठिका और लयण (लेण) का अर्थ गिरिवर्ती पाषाण-गृह बताया है। यहाँ के वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रासाद आदि की पीठिका अर्थ ग्रहण किया है।

१५४—से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेण य सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते।

१५४—वह उपकारिकालयन सभी दिशा-विदिशाओ में—सब ओर से एक पद्मवरवेदिका और एक वनखंड (उद्यान) से घिरा हुआ है।

पद्मवरवेदिका का वर्णन

१५५—सा णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंच धणुसयाइं विक्खंभेणं उवकारिय-लेणसमा परिक्खेवेणं। तीसे णं पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तंजहा वयरामया णिम्मा-

रिट्ठामया पतिट्ठाणा वेरुलियामया खंभा सुवण्ण-रुप्पमया फलया, नाणामणिमया कलेवरसंघाडगा णाणामणिमया रूवा णाणामणिमया रूवसंघाडगा अंकामया पक्खा, पक्खवाहाओ, जोईरसामया वंसा वंसकवेल्लुयाओ, रययामईओ पट्टियाओ जायरूवमईओ ओहाडणीओ वइरामईओ उवरिपुच्छणी, सव्वरयणामए अच्छायणे।

सा णं पउमवरवेइया एगमेगेणं हेमजालेणं, ए०[1] गवक्खजालेणं, ए० खिंखिणीजालेणं, ए० घंटाजालेणं, ए० मुत्ताजालेणं, ए० मणिजालेणं, ए० कणगजालेणं, ए० पउमजालेणं सव्वतो समंता संपरिखित्ता, तेणं जाला तवणिज्जलंबूसगा जाव[2] चिट्ठंति। तीसे णं पउमवरवेइयाए तत्थ-तत्थ-देसे तहिं तहिं बहवे हयसंघाडा जाव[3] उसभसंघाडा सव्वरयणामया अच्छा जाव पडिरूवा पासादीया जाव वीहीओ पंतीयो मिहुणाणि लयाओ।

१५५—वह पद्मवरवेदिका ऊँचाई में आधे योजन ऊँची, पांच सौ धनुष चौड़ी और उपकारिकालयन जितनी इसकी परिधि है।

उस पद्मवरवेदिका का वर्णन इस प्रकार का किया गया है, जैसे कि वज्ररत्नमय (इसकी नेम है। रिष्टरत्नमय इसके प्रतिष्ठान—मूल पाद है। वैडूर्यरत्नमय इसके स्तम्भ हैं)। स्वर्ण और रजतमय इसके फलक—पाटिये है। लोहिताक्ष रत्नों से बनी इसकी सूचियाँ—कीले है। विविध मणिरत्नमय इसका कलेवर— ढांचा है तथा इसका कलेवर संघात—भीतरी-बाहरी ढांचा विविध प्रकार की मणियो से बना हुआ है। अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से इस पर चित्र बने है। नानामणि-रत्नों से इसमे रूपक संघात—बेल-बूटों, चित्रों आदि के समूह बने है। अंक रत्नमय इसके पक्ष—सभी हिस्से है और अक रत्नमय ही इसके पक्षबाहा— प्रत्येक भाग है। ज्योतिरस रत्नमय इसके वंश—बांस, वला और वंशकवेल्लुक (सीधे रखे बांसो के दोनो ओर रखे तिरछे बांस एवं कवेलू) है। रजतमय इनकी पट्टियां (बांसों को लपेटने के लिये ऊपर नीचे लगी पट्टियां— लागे) है। स्वर्णमयी अवघाटनियां (ढँकनी) और वज्ररत्नमयी उपरिप्रोंछनी (नरियां) है। सर्वरत्नमय आच्छादन (तिरपाल) है।

वह पद्मवरवेदिका सभी दिशा-विदिशाओं में चारो ओर से एक-एक हेमजाल (स्वर्णमय माल्यसमूह) से जाल (गवाक्ष की आकृति के रत्नविशेष के माल्यसमूह) से, किंकणी (घुंघरु) घंटिका, मोती, मणि, कनक (स्वर्ण-विशेष) रत्न और पद्म (कमल) की लंबी-लंबी मालाओं से परिवेष्टित है अर्थात् उस पर लंबी-लंबी मालाये लटक रही है।

ये सभी मालाये सोने के लंबूसकों (गेद की आकृति जैसे आभूषणविशेषो, मनकों) आदि से अलकृंत है।

उस पद्मवरवेदिका के यथायोग्य उन-उन स्थानों पर अश्वसंघात (समान आकृति—संस्थान वाले अश्वयुगल) यावत् वृषभयुगल सुशोभित हो रहे हैं। ये सभी सर्वात्मना रत्नों से बने हुए, निर्मल यावत् प्रतिरूप, प्रासादिक—मन को प्रफुल्लित करने वाले है यावत् इसी प्रकार इनकी वीथियाँ, पंक्तियाँ, मिथुन एवं लतायें हैं।

---

१. 'ए.' अक्षर 'एगमेगेणं' पद का दर्शक है।

२. देखे सूत्र सख्या ४९।　　३. देखे सूत्र संख्या १३०।

१५६—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति पउमवरवेइया पउमवरवेइया ?

१५६—गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से पूछा—हे भदन्त ! किस कारण कहा जाता है कि यह पद्मवरवेदिका है, पद्मवरवेदिका है ? अर्थात् इस वेदिका को पद्मवरवेदिका कहने का क्या कारण है ?

१५७—गोयमा ! पउमवरवेइयाए णं तत्थ-तत्थ देसे तहिं-तहिं वेइयासु, वेइयाबाहासु य वेइयफलतेसु य वेइयपुडंतरेसु य खंभेसु, खंभबाहासु खंभसीसेसु, खंभपुडंतरेसु, सूईसु, सूईमुखेसु, सूईफलएसु, सूईपुडंतरेसु, पक्खेसु, पक्खबाहासु, पक्खपेरंतेसु, पक्खपुडंतरेसु, बहुयाइं उप्पलाइं-पउमाइं-कुमुयाइं णलिणाति-सुभगाइं-सोगंधियाइं-पुंडरीयाइं-महापुंडरीयाणि-सयवत्ताइं-सहस्सवत्ताइं सव्वरयणामयाइं अच्छाइं पडिरूवाइं महया वासिक्कछत्तसमाणाइं पण्णत्ताइं समणाउसो ! से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पउमवरवेइया 'पउमवरवेइया'।

१५७—भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! पद्मवर-वेदिका के आस-पास की (समीपवर्ती) भूमि मे, वेदिका के फलकों—पाटियो में, वेदिकायुगल के अन्तरालों में, स्तम्भों, स्तम्भों की बाजुओं, स्तम्भों के शिखरो, स्तम्भयुगल के अन्तरालों, कीलियों, कीलियों के ऊपरीभागों, कीलियों से जुड़े हुए फलकों, कीलियों के अन्तरालों, पक्षों (स्थान विशेषों), पक्षों के प्रान्त भागों और उनके अन्तरालों आदि-आदि मे वर्षाकाल के बरसते मेघो से बचाव करने के लिए छत्राकार—जैसे अनेक प्रकार के बड़े-बड़े विकसित, सर्व रत्नमय स्वच्छ, निर्मल अतीव सुन्दर, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगधिक पुडरीक महापुंडरीक, शतपत्र और सहस्रपत्र कमल शोभित हो रहे हैं।

इसीलिये हे आयुष्मन् श्रमण गौतम ! इस पद्मवरवेदिका को पद्मवरवेदिका कहते है।

१५८—पउमवरवेइया णं भंते। किं सासया, असासया ?

गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय सासया, सिय असासया ?

गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, वन्नपज्जवेहिं, गंधपज्जवेहिं, रसपज्जवेहिं, फासपज्जवेहिं असासया, से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति सिय सासया, सिय असासया।

पउमवरवेइया णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! ण कयावि णासि, ण कयावि णत्थि, ण कयावि न भविस्सइ, भुविं च हवइ य, भविस्सइ य, धुवा णियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवर वेइया।

१५८—हे भदन्त ! वह पद्मवरवेदिका शाश्वत है अथवा अशाश्वत है।

हे गौतम ! (किस अपेक्षा) शाश्वत नित्य भी है और (किसी अपेक्षा) अशाश्वत भी है।

भगवन् ! किसी कारण आप ऐसा कहते है कि (किसी अपेक्षा) वह शाश्वत भी है और (किसी अपेक्षा) अशाश्वत भी है ?

हे गौतम ! द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा वह शाश्तव है परन्तु वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा अशाश्वत है। इसी कारण हे गौतम ! यह कहा है कि वह पद्मवरवेदिका शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।

हे भदन्त ! काल की अपेक्षा वह पद्मवर-वेदिका कितने काल पर्यन्त—कब तक रहेगी ?

हे गौतम ? वह पद्मवरवेदिका पहले (भूतकाल मे) कभी नही थी, ऐसा नही है, अभी (वर्तमान में) नही है, ऐसा भी नही है और आगे (भविष्य में) नही रहेगी ऐसा भी नही है, किन्तु पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। इस प्रकार त्रिकालावस्थायी होने से वह पद्मवर-वेदिका ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पद्मवरवेदिका की शाश्वतता विषयक गौतम स्वामी की जिज्ञासा का समाधान द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो दृष्टियों (नयों से) किया गया है।

भगवान् ने पद्मवर वेदिका को द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत बताने के साथ वर्णादि पर्यायों के परिवर्तनशील होने से अशाश्वत बताया है क्योंकि द्रव्य-पर्याय का यही स्वरूप है। नित्य शाश्वत ध्रुव होते हुए भी द्रव्य में भावात्मक-पर्यायात्मक परिवर्तन प्रतिसमय होता रहता है। इन्ही परिवर्तनों को पर्याय कहते हैं और पर्यायें अशाश्वत होती है।

पर्यायें अवश्य ही प्रतिसमय परिवर्तित होती रहती है परन्तु प्रदेशों के लिए यह नियम नही है। किन्हीं द्रव्यों के प्रदेश नियत भी होते हैं और किन्ही के अनियत भी। जैसे कि जीव के प्रदेश सभी देश और काल में नियत है, वे कभी घटते-बढ़ते नही है। किन्तु पुद्गलद्रव्य के प्रदेशो का नियम नहीं है, उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है।

पद्मवरवेदिका पौद्गलिक है और पर्याय दृष्टि से परिवर्तनशील-अशाश्वत है किन्तु पुद्गल द्रव्य होते हुए भी अनियत प्रदेशी नहीं है।

इन सब विशेषताओं को सूत्र में ध्रुवा, णियया, सासया, अक्खया, अव्वया, अवट्ठिया—ध्रुव नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित पदों से स्पष्ट किया है।

१५९—सा णं पउमवरवेइया एगेणं वणसंडेणं सव्वओ संपरिक्खित्ता।

से णं वणसंडे देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खंभेणं उवयारियालेणसमे परिक्खेवेणं, वणसंडवण्णओ भाणितव्वो जाव विहरंति।

१५९—वह पद्मवरवेदिका चारों ओर—सभी दिशा-विदिशाओं में—एक वनखंड से परिवेष्टित—घिरी हुई हैं।

उस वनखड का चक्रवालविष्कम्भ (गोलाकार-चौड़ाई) कुछ कम दो योजन प्रमाण है तथा उपकारिकालयन की परिधि जितनी उसकी परिधि है। वहाँ देव-देवियाँ विचरण करती हैं, यहाँ तक वनखण्ड का वर्णन पूर्ववत् यहाँ कर लेना चाहिए।

विवेचन—सूत्र संख्या १३६-१५१ में वनखण्ड का विस्तार से वर्णन किया है। उसी वर्णन को यहाँ करने का संकेत 'वनसडवण्णओ भाणितव्वो जाव विहरंति' पद से किया है। संक्षेप में उक्त वर्णन का सारांश इस प्रकार है—

यह वनखंड चारो ओर से एक परकोटे से घिरा हुआ है तथा वृक्षों की सघनता से हरा-भरा अत्यन्त शीतल और दर्शकों के मन को सुखप्रद है। वनखंड का भूभाग अत्यन्त सम तथा अनेक प्रकार की मणियों और तृणों से उपशोभित है।

इस वनखड मे स्थान-स्थान पर अनेक छोटी बड़ी बावड़ियां, पुष्करणियां, गुंजालिकाये आदि बनी है। इन सबके तट रजतमय हैं और तल भाग में स्वर्ण-रजतमय बालुका बिछी हुई है। कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुंडरीक आदि विविध जाति के कमलों से इनका जल आच्छादित है।

इन वापिकाओं आदि के अन्तरालवर्ती स्थानों में मनुष्यों और पक्षियो के झूलने के लिये झूले—हिडोले पड़े है और बहुत से उत्पातपर्वत, नियतिपर्वत, दारुपर्वत, दकमंडप, दकमालक दकमंच बने हुए हैं।

इन वनखण्डों मे कही-कही आलिगृह, मालिगृह, कदलीगृह, लतागृह, मंडप आदि बने हैं और विश्राम करने के लिये जिनमें हसासन आदि अनेक प्रकार के आसन तथा शिलापट्टक रखे हैं और जहाँ बहुत से देव-देवियां आ-आकर विविध प्रकार की क्रीड़ाये करते हुए पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मो के फलविपाक को भोगते हुए आनन्दपूर्वक विचरण करते है।

१६०—तस्स णं उवयारियालेणस्स चत्तारि तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णओ, तोरणा, झया, छत्ताइच्छत्ता।

तस्स णं उवयारियालयणस्स उवरिं, बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीणं फासो।

१६०—उस उपकारिकालयन की चारों दिशाओं में चार त्रिसोपानप्रतिरूपक (तीन-तीन सीढ़ियों की पंक्ति) बने है। यान विमान के सोपानों के समान इन त्रिसोपान-प्रतिरूपको का वर्णन भी तोरणों, ध्वजाओं, छत्रातिछत्रो आदि पर्यन्त यहाँ करना चाहिये।

उन उपकारिकालयन के ऊपर अतिसम, रमणीय भूमिभाग है। यानविमानवत् मणियों के स्पर्शपर्यन्त इस भूमिभाग का वर्णन यहाँ करना चाहिये।

विवेचन—उपकारिकालयन की त्रिसोपान-पंक्तियों और भूमिभाग का वर्णन यानविमानवत् करने की सूचना प्रस्तुत सूत्र में दी गयी है। संक्षेप में उक्त वर्णन इस प्रकार है—

इन त्रिसोपानों की नेम वज्ररत्नों से बनी हुई हैं। रिष्टरत्नमय इनके प्रतिष्ठान (पैर रखने के स्थान) हैं। वैडूर्यरत्नो से बने इनके स्तम्भ हैं और फलक—पाटिये स्वर्णरजतमय है। नाना मणिमय इनके अवलबन और कटकड़ा है। मन को प्रसन्न करने वाले अतीव मनोहर हैं।

इन प्रत्येक त्रिसोपान-पंक्तियो के आगे अनेक प्रकार के मणि-रत्नों से बने हुए वेलबूटों आदि से सुशोभित तोरण बंधे हैं और तोरणों के ऊपरी भाग स्वस्तिक आदि आठ-आठ मगलों एवं वज्र-रत्नों से निर्मित और कमलों जैसी सुरभिगंध से सुगंधित, रमणीय चामरों से शोभित हो रहे हैं। इसके साथ ही अत्यन्त शोभनीक रत्नों से बने हुए छत्रातिछत्र, पताकाये, घंटा-युगल एवं उत्पल, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक पुंडरीक, महापुंडरीक आदि कमलों के झूमके भी उन तोरणों पर लटक रहे हैं आदि।

उस उपकारिकालयन का भूमिभाग आलिग-पुष्कर, मृदंगपुष्कर, सरोवर, करतल, चन्द्र-मंडल, सूर्यमंडल आदि के समान अत्यन्त सम और रमणीय है।

उस भूभाग में अंजन, खजन, सघन मेघ—घटाओं आदि के कृष्ण वर्ण से, भृंगकीट, भृंगपंख, नीलकमल, नील-अशोकवृक्ष आदि के नील वर्ण से, प्रातःकालीन सूर्य, पारिजात पुष्प, हिंगलुक, प्रवाल आदि के रक्त वर्ण से, स्वर्णचंपा, हरताल, चिकुर, चंपाकुसुम आदि के पीत वर्ण से, और शंख, चन्द्रमा, कुमुद आदि के श्वेत वर्ण से भी अधिक श्रेष्ठ कृष्ण आदि वर्ण वाली मणियां जड़ी हुई है।

वे सभी मणियां इलायची, चंदन, अगर, लवग आदि सुगंधित पदार्थों से भी अधिक सुरभि गंध वाली हैं और बूर—रुई, मक्खन, हसगर्भ नामक रुई विशेष से भी अधिक सुकोमल उनका स्पर्श है।

मुख्य प्रासादावतंसक का वर्णन

१६१—तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगे मूलपासाय-वडेंसए पण्णत्ते।

से णं मूलपासायवडिंसए पंच जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, अब्भुग्गयमूसिय-वण्णओ, भूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं, अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइच्छत्ता।

१६१—इस अतिसम रमणीय भूमिभाग के अतिमध्यदेश में एक विशाल मूल—मुख्य प्रासादावतंसक (उत्तम महल) है।

वह प्रासादावतंसक पांच सौ योजन ऊँचा और अढाई सौ योजन चौड़ा है तथा अपनी फैल रही प्रभा से हँसता हुआ प्रतीत होता है, आदि वर्णन करते हुए उस प्रासाद के भीतर के भूमि-भाग, उल्लोक—चंदेवा, परिवार रूप अन्य भद्रासनों आदि से सहित सिहासन, आठ मंगल, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों का यहां कथन करना चाहिए।

१६२—से णं मूलपासायवडेंसगे अण्णेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिखित्ते, ते णं पासायवडेसगा अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेणं जाव वण्णओ।

ते णं पासायवडिंसया अण्णेहिं चउहिं पासायवडिंसएहिं तयद्धुच्चत्तप्पमाणमेत्तेहिं सव्वओ समंता संपरिखित्ता। ते णं पासायवडेंसया पणवीसं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं बासट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिय वण्णओ, भूमिभागो उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिच्छत्ता।

ते णं पासायवडेंसगा अण्णेहिं चउहिं पासायवडेंसएहिं तदद्धुच्चत्तपमाणमेत्तेहिं सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता, ते णं पासायवडेंसगा बासट्ठि जोयणाइं अद्धजोयणं च उड्ढं उच्चत्तेणं एक्कतीसं जोयणाइं कोसं च विक्खंभेणं, वण्णओ, उल्लोओ सीहासणं सपरिवारं पासाय० उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता।

१६२—वह प्रधान प्रासादावतंसक सभी चारो दिशाओं में ऊँचाई में अपने से आधे ऊँचे अन्य चार प्रासादावतंसकों से परिवेष्टित है। अर्थात् उसकी चारों दिशाओं में और दूसरे प्रासाद बने हुए हैं। ये चारों प्रासादावतंसक ढाई सौ योजन ऊँचे और चौड़ाई मे सवा सौ योजन चौड़े हैं, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

ये चारों प्रासादावतंसक भी पुनः चारों दिशाओं मे अपनी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से घिरे है। ये प्रासादावतंसक एक सौ पच्चीस योजन ऊँचे और साढ़े बासठ योजन चौड़े हैं तथा ये चारों ओर फैल रही प्रभा से हंसते हुए-से दिखते हैं, यहाँ से लेकर भूमिभाग, चंदेवा, सपरिवार सिहासन, आठ-आठ मंगल, ध्वजाओं, छात्रातिछत्रों से सुशोभित हैं, पर्यन्त इनका वर्णन करना चाहिए।

ये प्रासादावतंसक भी चारों दिशाओं में अपनी ऊँचाई से आधी ऊँचाई वाले अन्य चार प्रासादावतंसकों से परिवेष्टिक है। ये प्रासादावतंसक साढ़े बासठ योजन ऍचे और इकतीस योजन एक कोस चौड़े हैं। इन प्रासादों के भूमिभाग, चंदेवा, सपरिवार सिंहासन, ऊपर आठ मंगल, ध्वजाओं छत्रातिछत्रों आदि का वर्णन भी पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रधान प्रासादावतंसक के आस-पास की चारों दिशाओं सम्बन्धी रचना का वर्णन किया है। वह प्रधान प्रासाद अपनी आस-पास की रचना के बीचों-बीच है और चारों दिशाओं में बने अन्य चार प्रासादों को अपेक्षा सबसे अधिक ऊँचा और लम्बा-चौड़ा है तथा शेष पार्श्ववर्ती प्रासाद अपने-अपने से पूर्व के प्रासादों की अपेक्षा ऊँचाई और चौड़ाई में उत्तरोत्तर आधे-आधे है। अर्थात् मूल प्रासादावतंसक की अपेक्षा उत्तरवर्ती अन्य-अन्य प्रासाद शिखर से लेकर तलहटी तक पर्वत के आकार के समान क्रमशः अर्ध, चतुर्थ और अष्ट भाग प्रमाण ऊँचे और चौड़े है।

सुधर्मा सभा का वर्णन--

१६३—तस्स णं मूलपासायवडेंसयस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं सभा सुहम्मा पण्णत्ता, एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खम्भेणं, बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अणेगखम्भ···जाव[1] अच्छरगण[2] पासादीया।

१६३—उस प्रधान प्रासाद के ईशान कोण में सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी और बहत्तर योजन ऊँची सुधर्मा नामक सभा है। यह सभा अनेक सैकड़ों खंभों पर सन्निविष्ट यावत् अप्सराओं से व्याप्त अतीव मनोहर है।

१६४—सभाए णं सुहम्माए तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता तंजहा—पुरत्थिमेणं दाहिणेणं, उत्तरेणं।

ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अट्ठ जोयणाइं विक्खम्भेणं, तावतियं चेव पवेसेणं, सेया वरकणगथूभियागा जाव[3] वणमालाओ। तेसिं णं दाराणं उवरिं अट्ठट्ठ मङ्गलगा झया छत्ताइछत्ता।

तेसिं णं दाराणं पुरओ पत्तेयं पत्तेयं मुहमण्डवे पण्णत्ते, ते णं मुहमण्डवा एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं, साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, वण्णओ सभाए सरिसो।

तेसिं णं मुहमण्डवाणं तिदिसिं ततो दारा पण्णत्ता, तंजहा पुरत्थिमेणं, दाहिणेणं, उत्तरेणं। ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं, तावइयं चेव पवेसेणं, सेया

१-२ देखे सूत्र सख्या ४५। ३. देखे सूत्र सख्या १२१ से १२९

वरकणगथूभियाओ जाव[1] वणमालाओ। तेसि णं मुहमंडवाणं भूमिभागा, उल्लोया तेसि णं मुहमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मङ्गलगा, झया, छत्ताइच्छत्ता।

तेसि णं मुहमंडवाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं पेच्छाघरमंडवे पण्णत्ते, मुहमंडववत्तव्वया जाव, दारा, भूमिभागा, उल्लोया।

१६४—इस सुधर्मा सभा की तीन दिशाओं में तीन द्वार है। वे इस प्रकार है—पूर्व दिशा मे एक, दक्षिण दिशा मे एक और उत्तर दिशा में एक।

वे द्वार ऊँचाई में सोलह योजन ऊँचे, आठ योजन चौड़े और उतने ही प्रवेश मार्ग वाले है। वे द्वार श्वेत वर्ण के है। श्रेष्ठ स्वर्ण से निर्मित शिखरों एवं वनमालाओं से अलकृत है, आदि वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

(उन द्वारों के ऊपर स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र विराजित हैं—शोभायमान हो रहे है।)

उन द्वारों के आगे सामने एक-एक मुखमंडप है। ये मंडप सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और ऊँचाई में कुछ अधिक सोलह योजन ऊँचे है। सुधर्मा सभा के समान इनका शेष वर्णन कर लेना चाहिये।

इन मंडपों की तीन दिशाओं में तीन द्वार है, यथा—एक पूर्व दिशा में, एक दक्षिण दिशा मे और एक उत्तर दिशा में। ये द्वार ऊँचाई में सोलह योजन ऊंचे है, आठ योजन चौड़े और उतने ही प्रवेशमार्ग वाले है। ये द्वार श्वेत धवलवर्ण और श्रेष्ट स्वर्ण से बनी शिखरों, वनमालाओं से अलंकृत है, पर्यन्त का वर्णन पूर्ववत् यहाँ करना चाहिये।

(उन मंडपों के भूमिभाग, चदेवा और ऊपर आठ-आठ मगल, ध्वजाओं, छत्रातिछत्र आदि का भी वर्णन करना चाहिए।)

उन मुखमडपो मे से प्रत्येक के आगे प्रेक्षागृहमंडप बने है। इन मडपो के द्वार, भूमिभाग, चांदनी आदि का वर्णन मुखमंडपों की वक्तव्यता के समान जानना चाहिये।

१६५—तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं वइरामए अक्खाडए पण्णत्ते।

तेसि णं वयरामयाणं अक्खाडगाणं बहुमज्झ-देसभागे पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढिया पण्णत्ता, ताओ णं मणिवेढियाओ अट्ठ जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव[2] पडिरूवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ सपरिवारो।

तेसि णं पेच्छाघरमंडवाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्तातिछत्ता।

---

१. देखें सूत्र सख्या १२१ से १२९

२. देखे सूत्र सख्या ४७

१६५—उन प्रेक्षागृह मंडपों के अतीव रमणीय समचौरस भूमिभाग के मध्यातिमध्य देश में एक-एक वज्ररत्नमय अक्षापाटक-मंच कहा गया है।

उन वज्ररत्नमय अक्षपाटकों के भी बीचों-बीच आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और विविध प्रकार के मणिरत्नो से निर्मित निर्मल यावत् प्रतिरूप—असाधारण सुन्दर एक-एक मणि-पीठिकाये बनी हुई है।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक सिहासन रखा है। भद्रासनों आदि आसनों रूपी परिवार सहित उन सिंहासनों का वर्णन करना चाहिए।

उन प्रेक्षागृह मंडपों के ऊपर आठ-आठ मगल, ध्वजाये, छत्रातिछत्र सुशोभित हो रहे है।

स्तूप-वर्णन

१६६—तेसिं णं पेच्छाघरमंडवाणं पुरओ पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियातो सोलस-सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिईओ अच्छाओ पडिरूवाओ।

तासि णं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं थूभे पण्णत्ते। ते णं थूभा सोलस-सोलस जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, साइरेगाइं सोलस-सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, सेया संखंक (कुंद-दगरय-अमय-महिय-फेणपुंजसंन्निगासातो) सव्वरयणामया अच्छा जाव (सण्हा-लण्हा-घट्ठा-मट्ठा-णीरया-निम्मला-निप्पंका-निक्कंकडच्छाया-सप्पभा-समिरीया-सउज्जोया पासादीया-दरिसणिज्जा अभिरूवा) पडिरूवा।

तेसि णं थूभाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, झया छत्तातिछत्ता जाव[1] सहस्सपत्तहत्थया।

तेसि णं थूभाणं पत्तेयं-पत्तेयं चउद्दिसिं मणि-पेढियातो पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियातो अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणि-मईओ अच्छाओ जाव पडिरूवातो।

तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिणपडिमातो जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकनि-सन्नाओ, थूभाभिमुहोओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति, तंजहा—उसभा, वद्धमाणा, चंदाणणा वारिसेणा।

१६६—उन प्रेक्षागृह मंडपों के आगे एक-एक मणिपीठिका है। ये मणिपीठिकाये सोलह-सोलह योजन लम्बी-चौडी आठ योजन मोटी है। ये सभी सर्वात्मना मणिरत्नमय, स्फटिक मणि के समान निर्मल और प्रतिरूप है।

उन प्रत्येक मणिपीठो के ऊपर सोलह-सोलह योजन लम्वे-चौड़े समचौरस और ऊंचाई में कुछ अधिक सोलह योजन ऊचे, शंख, अंक रत्न, कुन्दपुष्प, जलकण, मंथन किये हुए अमृत के फेनपुंज सदृश प्रभा वाले) श्वेत, सर्वात्मना रत्नों से वने हुए स्वच्छ यावत् (चिकने, सलौने घुटे हुए, मृष्ट, शुद्ध, निर्मल पंक (कीचड़) रहित, आवरण रहित परछाया वाले, प्रभा, चमक और उद्योत वाले, मन को प्रसन्न करने वाले, देखने योग्य, मनोहर) असाधारण रमणीय स्तूप वने है।

---

१. देखे सूत्र संख्या २७, २८, २९.

उन स्तूपों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें छत्रातिछत्र यावत् सहस्रपत्र कमलों के झूमके सुशोभित हो रहे है।

उन स्तूपों की चारों दिशाओं में एक-एक मणिपीठिका है। ये प्रत्येक मणिपीठिकाये आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और अनेक प्रकार के मणि रत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् प्रतिरूप हैं।

प्रत्येक मणिपीठिका के ऊपर, जिनका मुख स्तूपो के सामने है ऐसी जिनोत्सेध प्रमाण वाली चार जिन-प्रतिमायें पर्यकासन से विराजमान है, यथा—(१) ऋषभ, (२) वर्धमान (३) चन्द्रानन (४) वारिषेण की।

विवेचन—'जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ' अर्थात् ऊंचाई में जिन-भगवान् के शरीर प्रमाण वाली। जिन भगवान् के शरीर की अधिकतम ऊँचाई पांच सौ धनुष और जघन्यतम सात हाथ की बताई है। वर्णन को देखते हुए यहाँ स्थापित जिन-प्रतिमाये पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँची होनी चाहिये, ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है।

चैत्य वृक्ष

१६७—तेसि णं थूभाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमईओ जाव पडिरूवाओ।

तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं चेइयरुक्खे पण्णत्ते, ते णं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धजोयणं उव्वेहेणं, दो जोयणाइं खंधा, अद्धजोयणं विक्खंभेणं, छ जोयणाइं विडिमा, बहुमज्झदेसभाए अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, साइरेगाइं अट्ठ जोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता।

तेसि णं चेइयरुक्खाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—

वयरामयमूल-रययसुपइट्ठियविडिमा, रिट्ठामयविउलकंदवेरुलियरुइलखंधा, सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला, नाणामणिमयरयणविविहसाहप्पसाह-वेरुलियपत्त-तवणिज्जपत्तबिंटा, जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरधरा, विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरनमियसाला, सच्छाया, सप्पभा, सस्सिरीया, सउज्जोया, अहियं नयणमणणिव्वुइकरा, अमयरससमरसफला, पासाईया······।

तेसि णं चेइयरुक्खाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा झया छत्ताइछत्ता।

१६७—उन प्रत्येक स्तूपों के आगे-सामने मणिमयी पीठिकाये बनी हुई है। ये मणिपीठिकाय सोलह योजन लम्बी-चौड़ी, आठ योजन मोटी और सर्वात्मना मणिरत्नों से निर्मित, निर्मल यावत् अतीव मनोहर है।

उन मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक चैत्यवृक्ष है। ये सभी चैत्यवृक्ष ऊंचाई में आठ योजन ऊंचे, जमीन के भीतर आधे योजन गहरे हैं। इनका स्कन्ध भाग दो योजन का और आधा योजन चौड़ा है। स्कन्ध से निकलकर ऊपर की ओर फैली हुई शाखायें छह योजन ऊँची और लम्बाई-चौड़ाई में आठ योजन की है। कुल मिलाकर इनका सर्वपरिमाण कुछ अधिक आठ योजन है।

इन चैत्य वृक्षों का वर्णन इस प्रकार किया गया है,—

इन वृक्षों के मूल (जड़े) वज्ररत्नों के हैं, विडिमायें-शाखायें रजत की, कंद रिष्टरत्नों के, मनोरम स्कन्ध वैडूर्यमणि के, मूलभूत प्रथम विशाल शाखायें शोभनीक श्रेष्ठ स्वर्ण की, विविध शाखा-प्रशाखाये नाना प्रकार के मणि-रत्नो की, पत्ते वैडूर्यरत्न के, पत्तों के वृन्त (डंडियाँ) स्वर्ण के, अरुण-मृदु-सुकोमल-श्रेष्ठ प्रवाल, पल्लव एवं अंकुर जाम्बूनद (स्वर्णविशेष) के हैं और विचित्र मणिरत्नों एवं सुरभिगंध-युक्त पुष्प-फलों के भार से नमित शाखाओं एवं अमृत के समान मधुररस युक्त फल वाले ये वृक्ष सुंदर मनोरम छाया, प्रभा, कांति, शोभा, उद्योत से संपन्न नयन-मनको शांतिदायक एवं प्रासादिक है।

उन चैत्यवृक्षों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र सुशोभित हो रहे है।

१६८—तेसि णं चेइयरुक्खाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खभेणं चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ जाव पडिरूवाओ।

१६८—उन प्रत्येक चैत्यवृक्षों के आगे एक-एक मणिपीठिका है। ये मणिपीठिकायें आठ योजन लबी-चौड़ी, चार योजन मोटी, सर्वात्मना मणिमय निर्मल यावत् प्रतिरूप—अतिशय मनोरम है।

माहेन्द्र-ध्वज

१६९—तासि णं मणिपेढियाणं उवरिं पत्तेयं-पत्तेयं महिंदज्झए पण्णत्ते।

ते णं महिंदज्झया सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अद्धकोसं उव्वेहेणं, उद्धकोसं विक्खंभेणं वइरामय-वट्ट-लट्ठ-संठिय-सुसिलिट्ठ-परिघट्ठ-मट्ठ-सुपतिट्ठिए-विसिट्ठे-अणेगवर-पंचवण्णकुडभी-सहस्सुस्सिए-परिमंडियाभिरामे-वाउद्धुयविजयवेजयंतीपडागच्छत्तातिच्छत्तकलिते, तुंगे, गगणतल-मणुलिहंतसिहरा पासादीया।

तेसि णं महिंदज्झयाणं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलया झया छत्तातिछत्ता।

१६९—उन मणिपीठिकाओं के ऊपर एक-एक माहेन्द्रध्वज (इन्द्र के ध्वज सदृश अति विशाल ध्वज) फहरा रहा है। वे माहेन्द्रध्वज साठ योजन ऊंचे, आधा कोस जमीन के भीतर ऊंडे—गहरे, आधा कोस चौड़े, वज्ररत्नों से निर्मित, दीप्तिमान, चिकने, कमनीय, मनोज्ञ वर्तुलाकार—गोल [illegible] शेष ध्वजाओं से विशिष्ट, अन्यान्य हजारों छोटी-वडी अनेक प्रकार की मनोरम रंग-बिरंगी [illegible] पताकाओं से परिमंडित, वायुवेग से फहराती हुई विजय-वैजयन्ती पताका, छत्रातिछत्र से युक्त आकाशमंडल को स्पर्श करने वाले ऐसे ऊंचे उपरिभागों से अलंकृत, मन को प्रसन्न करने वाले हैं।

इन माहेन्द्र-ध्वजों के ऊपर आठ-आठ मंगल, ध्वजाये और छत्रातिछत्र सुशोभित हो रहे हैं।

१७०—तेसि णं महिंदज्झयाणं पुरतो पत्तेयं-पत्तेयं नंदा पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ।

ताओ णं पुक्खरिणीओ एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं, दस जोयणाइं **उव्वेहेणं, अच्छाओ जाव वण्णओ, एगइयाओ उदगरसेणं पण्णत्ताओ।**

पत्तेयं-पत्तेयं पउमवरवेइयापरिक्खित्ताओ, पत्तेयं-पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ताओ।

तासि णं णंदाणं पुक्खरिणीणं तिदिसिं तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता। तिसोवाणपडिरूवगाणं वण्णओ, तोरणा, झया, छत्तातिछत्ता।

१७०—उन माहेन्द्रध्वजाओं के आगे एक-एक नन्दा नामक पुष्करिणी बनी हुई है।

ये पुष्करिणियाँ सौ योजन लंबी, पचास योजन चौड़ी, दस योजन ऊंडी-गहरी है और स्वच्छ-निर्मल हैं आदि वर्णन पूर्ववत् यहाँ जानना चाहिए। इनमें से कितनेक का पानी स्वाभाविक पानी जैसा मधुर रस वाला है।

ये प्रत्येक नन्दा पुष्करिणियां एक-एक पद्मवर-वेदिका और वनखंडों से घिरी हुई है।

इन नन्दा पुष्करिणियों की तीन दिशाओं में अतीव मनोहर त्रिसोपान-पंक्तियाँ है। इन त्रिसोपान-पंक्तियों के ऊपर तोरण, ध्वजायें, छत्रातिछत्र सुशोभित है आदि वर्णन पूर्ववत् करना चाहिए।

सुधर्मासभावर्ती मनोगुलिकायें गोमानसिकायें

१७१—सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं मणोगुलियासाहस्सीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पुरत्थिमेणं सोलससाहस्सीओ, पच्चत्थिमेणं सोलससाहस्सीओ, दाहिणेणं अट्ठसाहस्सीओ, उत्तरेणं अट्ठसाहस्सीओ।

तासु णं मणोगुलियासु बहवे सुवण्णरूप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवन्नरूप्पमएसु फलगेसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु णागदंतएसु किण्हसुत्तवट्टवग्घारियमल्लदामकलावा चिट्ठंति।

१७१—सुधर्मा सभा में अड़तालीस हजार मनोगुलिकायें (छोटे-छोटे चबूतरे) हैं, वे इस प्रकार हैं—पूर्व दिशा में सोलह हजार, पश्चिम दिशा में सोलह हजार, दक्षिण दिशा मे आठ हजार और उत्तर दिशा में आठ हजार।

उन मनोगुलिकाओं के ऊपर अनेक स्वर्ण एवं रजतमय फलक—पाटिये और उन स्वर्ण रजतमय पाटियों पर अनेक वज्ररत्नमय नागदंत लगे हैं। उन वज्रमय नागदंतों पर काले सूत से बनी हुई गोल लंबी-लंबी मालायें लटक रही हैं।

१७२—सभाए णं सुहम्माए अडयालीसं गोमाणसियासाहस्सीओ पन्नत्ताओ। जह मणोगुलिया जाव णागदंतगा।

तेसु णं णागदंतएसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कगेसु बहवे वेरुलियामइओ धूवघडियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं धूवघडियाओ कालागुरुपवर जाव चिट्ठंति।

१७२—सुधर्मा सभा में अड़तालीस हजार गोमानसिकायें (शय्या रूप स्थानविशेष) रखी हुई हैं। नागदन्तों पर्यन्त इनका वर्णन मनोगुलिकाओं के समान समझ लेना चाहिए।

उन नागदंतों के ऊपर बहुत से रजतमय सीके लटके हैं। उन रजतमय सीकों में बहुत-सी वैडूर्य रत्नों से बनी हुई धूपघटिकाये रखी हैं। वे धूपघटिकायें काले अगर, श्रेष्ठ कुन्दुरुष्क आदि की सुगंध से मन को मोहित कर रही है।

माणवक चैत्यस्तम्भ

१७३—सभाए णं सुहम्माए अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते जाव मणीहिं उवसोभिए मणिफासो य उल्लोयो य।

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमयी जाव पडिरूवा।

१७३—उस सुधर्मा सभा के भीतर अत्यन्त रमणीय सम भूभाग है। वह भूमिभाग यावत् मणियों से उपशोभित है आदि मणियों के स्पर्श एवं चंदेवा पर्यन्त का सब वर्णन यहाँ पूर्ववत् कर लेना चाहिये।

उन अति सम रमणीय भूमिभाग के अति मध्यदेश में एक विशाल मणिपीठिका बनी हुई है। जो आयाम-विष्कम्भ की अपेक्षा सोलह योजन लंबी-चौड़ी और आठ योजन मोटी तथा सर्वात्मना रत्नों से बनी हुई यावत् प्रतिरूप—अतीव मनोरम है।

१७४—तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं माणवए चेइएखंभे पण्णत्ते, सट्ठिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, जोयणं उव्वेहेणं, जोयणं विक्खंभेणं, अडयालीसंसिए, अडयालीसइ कोडीए, अडयालीसइ विग्गहिए सेसं जहा महिंदज्झयस्स।

माणवगस्स णं चेइयखंभस्स उवरिं बारस जोयणाइं ओगाहेत्ता, हेट्ठावि बारस जोयणाइं वज्जेत्ता मज्झे छत्तीसाए जोयणेसु एत्थ णं बहवे सुवण्णरूप्पमया फलगा पण्णत्ता। तेसु णं सुवण्ण-रूप्पाएसु फलएसु बहवे वइरामया णागदंता पण्णत्ता। तेसु णं वइरामएसु नागदंतेसु बहवे रययामया सिक्कगा पण्णत्ता। तेसु णं रययामएसु सिक्कएसु बहवे वइरामया गोलवट्टसमुग्गया पण्णत्ता। तेसु णं वयरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहवे जिणसकहातो संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति।

ताओ णं सूरियाभस्स देवस्स अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जु-वासणिज्जाओ।

माणवगस्स चेइयखंभस्स उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, झया, छत्ताइच्छत्ता।

१७४—उन मणिपीठिका के ऊपर एक माणवक नामक चैत्यस्तम्भ है। वह ऊँचाई में साठ योजन ऊँचा, एक योजन जमीन के अंदर गहरा, एक योजन चौड़ा और अड़तालीस कोनों, अड़तालीस धारों और अड़तालीस आयामों—पहलुओं वाला है। इसके अतिरिक्त शेष वर्णन माहेन्द्रध्वज जैसा जानना चाहिए।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ के ऊपरी भाग में बारह योजन और नीचे बारह योजन छोड़कर मध्य के शेष छत्तीस योजन प्रमाण भाग—स्थान में अनेक स्वर्ण और रजतमय फलक—पाटिये लगे हुए हैं। उन स्वर्ण-रजतमय फलकों पर अनेक वज्रमय नागदंत—खूंटिया हैं। उन वज्रमय नागदंतों पर

बहुत से रजतमय सींके लटक रहे हैं। उन रजतमय सींकों में वज्रमय गोल गोल समुद्गक (डिब्बे) रखे हैं। उन गोल-गोल वज्ररत्नमय समुद्गको में बहुत-सी जिन-अस्थियाँ सुरक्षित रखी हुई हैं।

वे अस्थियाँ सूर्याभदेव एवं अन्य देव-देवियों के लिए अर्चनीय यावत् (वंदनीय, पूजनीय, संमाननीय, सत्करणीय तथा कल्याण, मंगल देव एवं चैत्य रूप में) पर्युपासनीय है।

उस माणवक चैत्य के ऊपर आठ आठ मगल, ध्वजायें और छत्रातिछत्र सुशोभित हो रहे है।

देव-शय्या

१७५—तस्स माणवगस्स चेइयखंभस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, अट्ठ जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा जाव पडिरूवा। तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे सीहासणे पण्णत्ते, सीहासणवण्णओ सपरिवारो।

तस्स णं माणवगस्स चेइयखंभस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता, अट्ठ जोयणाइं आयामविक्खंभेणं, चत्तारि जोयणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमया अच्छा जाव पडिरूवा।

तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवसयणिज्जे पण्णत्ते।

तस्स णं देवसयणिज्जस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—णाणामणिमया पडिपाया, सोवन्निया पाया, णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं, जंबूणयामयाइं गत्तगाइं, वइरामया संधी, णाणामणिमए विच्चे, रययामई तूली, लोहियक्खमया बिब्बोयणा, तवणिज्जमया गंडोवट्ठाणया।

से णं सयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उभओ बिब्बोयणं दुहओ उण्णते, मज्झे णयगंभीरे गंगापुलिण-वालुया-उद्दालसालिसए, सुविरइयरयत्ताणे, उवचियखोमदुगुल्लपट्ट-पडिच्छायणे आईणग-रूय-बूर-णवणीय-तूलफासमउए, रत्तंसुयसंवुए सुरम्मे पासादीए पडिरूवे।

१७५—उस माणवक चैत्यस्तम्भ के पूर्व दिग्भाग में विशाल मणिपीठिका बनी हुई है। जो आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी और सर्वात्मना मणिमय निर्मल यावत् प्रतिरूप है।

उस मणिपीठिका के ऊपर एक विशाल सिहासन रखा है। भद्रासन आदि आसनों रूप परिवार सहित उस सिहासन का वर्णन करना चाहिए।

उस माणवक चैत्यस्तम्भ की पश्चिम दिशा में एक बड़ी मणिपीठिका है। वह मणिपीठिका आठ योजन लम्बी चौड़ी, चार योजन मोटी, सर्व मणिमय, स्वच्छ-निर्मल यावत् असाधारण सुन्दर है।

उस मणिपीठिका के ऊपर एक श्रेष्ठ रमणीय देव-शय्या रखी हुई है।

उस देवशय्या का वर्णन इस प्रकार है, यथा—इसके प्रतिपाद अनेक प्रकार की मणियो से बने हुए हैं। स्वर्ण के पाद—पाये हैं। पादशीर्षक (पायों के ऊपरी भाग) अनेक प्रकार की मणियों के है। गाते (ईषायें, पाटियां) सोने की हैं। सांधें वज्ररत्नों से भरी हुई हैं। वाण (निवार) विविध रत्नमयी हैं। तूली (बिछौना—गादला) रजतमय है। ओसीसा लोहिताक्षरत्न का है। गंडोपधानिका (तकिया) सोने की है।

उस शय्या पर शरीर प्रमाण उपधान—गद्दा बिछा है। उसके शिरोभाग और चरणभाग (सिरहाने और पांयते) दोनों ओर तकिये लगे हैं। वह दोनों ओर से ऊँची और मध्य में नत—झुकी

हुई, गम्भीर गहरी है। जैसे गंगा किनारे की बालू में पाँव रखने से पांव धंस जाता है, उसी प्रकार बैठते ही नीचे की ओर धँस जाते है। उस पर रजस्त्राण पड़ा रहता है—मसहरी लगी हुई है। कसीदा वाला क्षौमदुकूल (रूई का बना चद्दर) बिछा है। उसका स्पर्श आजिनक (मृगछाला, चर्म-निर्मित वस्त्र) रूई, बूर नामक वनस्पति, मक्खन और आक की रूई के समान सुकोमल है। रक्तांशुक—लाल तूस से ढका रहता है। अत्यन्त रमणीय, मनमोहक यावत् असाधारण सुन्दर है।

आयुधगृह--शस्त्रागार

१७६—तस्स णं देवसयणिज्जस्स उत्तरपुरत्थिमेणं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता—अट्ठ जोयणाइं आयाम-विक्खंभेणं, चत्तारि जोअणाइं बाहल्लेणं, सव्वमणिमयी जाव पडिरूवा।

तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे खुड्डए महिंदज्झए पण्णत्ते, सट्ठि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, जोयणं विक्खंभेणं वइरामया वट्टलट्ठसंठियसुसिलिट्ठ जाव पडिरूवा। उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, झया, छत्तातिछत्ता।

तस्स णं खुड्डागमहिंदज्झयस्स पच्चत्थिमेणं एत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स चोप्पाले नाम पहरणकोसे पन्नत्ते, सव्ववइरामए अच्छे जाव पडिरूवे।

तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स फलिहरयण-खग्ग-गया-धणुप्पमुहा बहवे पहरणरयणा संनिखित्ता चिट्ठंति, उज्जला निसिया सुतिक्खधारा पासादीया···

सभाए णं सुहम्माए उवरिं अट्ठट्ठमंगलगा, झया, छत्तातिछत्ता।

१७६—उस देव-शय्या के उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान-कोण) में आठ योजन लम्बी-चौड़ी, चार योजन मोटी सर्वमणिमय यावत् प्रतिरूप एक बड़ी मणिपीठिका बनी है।

उस मणिपीठिका के ऊपर साठ योजन ऊँचा, एक योजन चौड़ा, वज्ररत्नमय सुन्दर गोल आकार वाला यावत् प्रतिरूप एक क्षुल्लक—छोटा माहेन्द्रध्वज लगा हुआ है—फहरा रहा है। जो स्वस्तिक आदि आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से उपशोभित है।

उस क्षुल्लक माहेन्द्रध्वज की पश्चिम दिशा में सूर्याभदेव का 'चोप्पाल' नामक प्रहरणकोश (आयुधगृह—शस्त्रागार) बना हुआ है। यह आयुधगृह सर्वात्मना रजतमय, निर्मल यावत् प्रतिरूप है।

उस प्रहरणकोश में सूर्याभ देव के परिघरत्न, (मूसल, लोहे का मुद्गर जैसा शस्त्रविशेष तलवार, गदा, धनुष आदि बहुत से श्रेष्ठ प्रहरण (अस्त्र-शस्त्र) सुरक्षित रखे है। वे सभी शस्त्र अत्यन्त उज्ज्वल, चमकीले, तीक्ष्ण धार वाले और मन को प्रसन्न करने वाले आदि है।

सुधर्मा सभा का ऊपरी भाग आठ-आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से सुशोभित हो रहा है।

सिद्धायतन

१७७—सभाए णं सुहम्माए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महेगे सिद्धायतणे पण्णत्ते, एगं जोयण-

सयं आयामेणं, पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं, बावत्तरिं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, सभागमएणं जाव[1] गोमाणसियाओ, भूमिभागा, उल्लोया तहेव।

१७७—उस सुधर्मा सभा के उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशान कोण) मे एक विशाल सिद्धायतन है। वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और बहत्तर योजन ऊँचा है। तथा इस सिद्धायतन का गोमानसिकाओ पर्यन्त एवं भूमिभाग तथा चदेवा का वर्णन सुधर्मा सभा के समान जानना चाहिए।

विवेचन—'सभागमएणं जाव गोमाणसियाओ' पाठ से सिद्धायतन का वर्णन सुधर्मा सभा के समान करने का जो सकेत किया है, सक्षेप में वह वर्णन इस प्रकार है—

सुधर्मा सभा के समान ही इस सिद्धायतन की पूर्व, दक्षिण और उत्तर इन तीन दिशाओं मे तीन द्वार है। उन प्रत्येक द्वारो के आगे एक-एक मुखमण्डप बना है। मुखमण्डपों के आगे प्रेक्षागृह मण्डप है। प्रेक्षागृह मण्डपों के आगे प्रतिमाओ सहित चार चैत्यस्तूप है तथा उन चैत्य स्तूपो के आगे चैत्यवृक्ष है। चैत्य वृक्षों के आगे एक-एक माहेन्द्रध्वज फहरा रहा है। माहेन्द्रध्वजों के आगे नन्दा पुष्करिणियाँ है और उनके अनन्तर मनोगुलिकाये एवं गोमानसिकाये है।

१७८—तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगा मणिपेढिया पण्णत्ता—सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं। तीसे णं मणिपेढियाए उवरिं एत्थ णं महेगे देवच्छंदए पण्णत्ते सोलस जोयणाइं आयामविक्खभेणं, साइरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, सव्वरयणामए जाव पडिरूवे। एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं संचिट्ठति।

तासि णं जिणपडिमाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते, तं जहा—

तवणिज्जमया हत्थतलपायतला, अंकामयाइं नक्खाइं अंतोलोहियक्खपडिसेगाइं कणगामईओ जंघाओ, कणगामया जाणू, कणगामया उरू, कणगामईओ गायलट्ठीओ, तवणिज्जमयाओ नाभीओ, रिट्ठामईओ रोमराईओ, तवणिज्जमया चुचुया, तवणिज्जमया सिरिवच्छा सिलप्पवालमया ओट्ठा, फालियामया दंता, तवणिज्जमईओ जीहाओ, तवणिज्जमया तालुया, कणगामईओ नासिगाओ अंतोलोहियक्खपडिसेगाओ, अंकामयाणि अच्छीणि अंतोलोहियक्खपडिसेगाणि [रिट्ठामईओ ताराओ] रिट्ठामयाणि अच्छिपत्ताणि, रिट्ठामईओ भमुहाओ, कणगामया कवोला, कणगामया सवणा, कणगामईओ णिडालपट्टियाओ, वइरामईओ सीसघडीओ, तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ, रिट्ठामया उवरि मुद्धया।

१७८—उस सिद्धायतन के ठीक मध्यप्रदेश मे सोलह योजन लम्बी-चौड़ी, आठ योजन मोटी एक विशाल मणिपीठिका बनी हुई है। उस मणिपीठिका के ऊपर सोलह योजन लम्बा-चौड़ा और कुछ अधिक सोलह योजन ऊँचा, सर्वात्मना मणियों से वना हुआ यावत् प्रतिरूप एक विशाल देवच्छन्दक (आसनविशेष) स्थापित है और उस पर जिनोत्सेध तीर्थंकरो की ऊँचाई के वरावर वाली एक सौ आठ जिनप्रतिमाएँ विराजमान है।

उन जिन प्रतिमाओ का वर्णन इस प्रकार है, जैसे कि—

---

१. देखें सूत्रसख्या १६३ से १७१

उन प्रतिमाओं की हथेलियाँ और पगथलियाँ तपनीय स्वर्णमय है। मध्य मे खचित लोहिताक्ष रत्न से युक्त अंकरत्न के नख है। जंघाये,—जानुयें—घुटने,—पिडलियाँ और देहलता—शरीर कनकमय है। नाभियाँ तपनीयमय है। रोमराजि रिष्ट रत्नमय है। चूचक (स्तन का अग्र भाग) और श्रीवत्स (वक्षस्थल पर बना हुआ चिह्न-विशेष) तपनीयमय हैं। होठ प्रवाल (मूंगा) के बने हुए हैं, दंतपक्ति स्फटिकमणियों और जिह्वा एवं तालु तपनीय-स्वर्ण (लालिमायुक्त स्वर्ण) के है। नासिकायें बीच में लोहिताक्ष रत्न खचित कनकमय है (नेत्र लोहिताक्ष रत्न से खचित मध्य-भाग युक्त अंकरत्न के हैं और नेत्रों की तारिकाये (कनीनिकाये—आँख के बीच का काला भाग) अक्षिपत्र-पलके तथा भौहें रिष्टरत्नमय है। कपोल, कान और ललाट कनकमय है। शीर्षघटी (खोपड़ी) वज्र रत्नमय है। केशान्त एवं केशभूमि (चांद) तपनीय स्वर्णमय है और केश रिष्टरत्नमय है।

१७९—तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठतो पत्तेयं-पत्तेयं छत्तधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं छत्तधारगपडिमाओ हिम-रयय-कुंदेंदुप्पगासाइं, सकोरंटमल्लदामधवलाइं आयवत्ताइं सलीलं धारेमाणीओ धारेमाणीओ चिट्ठंति।

तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासे पत्तेयंपत्तेयं चामरधार (ग) पडिमाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं चामर-धारपडिमातो चंदप्पहवयरवेरुलियनानामणिरयणखचियचित्तदंडाओ सुहुमरयतदीहवालाओ संखंककुंद-दगरय-अमतमहियफेणपुंजसन्निकासाओ धवलाओ चामराओ सलीलं धारेमाणीओ चिट्ठंति।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो दो-दो नागपडिमाओ जक्खपडिमाओ, भूयपडिमाओ, कुंडधारपडिमाओ सव्वरयणामईओ अच्छाओ जाव चिट्ठंति।

तासि णं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसयं घंटाणं, अट्ठसयं चंदणकलसाणं, अट्ठसयं भिंगाराणं एवं आयंसाणं, थालाणं पाईणं सुपइट्ठाणं, मणोगुलियाणं वायकरगाणं, चित्तगराणं रयणकरंडगाणं, हयकंठाणं जाव[1] उसभकंठाणं, पुप्फचंगेरीणं जाव[2] लोमहत्थचंगेरीणं, पुप्फपडलगाणं तेल्लसमुग्गाणं जाव[3] अंजणसमुग्गाणं अट्ठसयं झयाणं, अट्ठसयं धूवकडुच्छुयाण संनिक्खित्तं चिट्ठति। सिद्धायतणस्स णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा, झया छत्तातिछत्ता।

१७९—उन जिन प्रतिमाओं मे से प्रत्येक प्रतिमा के पीछे एक एक छत्रधारक—छत्र लिये बड़ी देवियों की प्रतिमायें है। वे छत्रधारक प्रतिमायें लीला करती हुई-सी भावभंगिमा पूर्वक हिम, रजत, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान प्रभा—कांतिवाले कोरंट पुष्पो की मालाओं से युक्त धवल-श्वेत आतपत्रों (छत्रो) को अपने-अपने हाथों मे धारण किये हुए खड़ी है।

प्रत्येक जिन-प्रतिमा के दोनों पार्श्व भागों—बाजुओं में एक एक चामरधारक-प्रतिमाये है। वे चामर-धारक प्रतिमाये अपने अपने हाथो में विविध मणिरत्नों से रचित चित्रामों से युक्त चन्द्रकान्त, वज्र और वैडूर्य मणियों की डंडियो वाले, पतले रजत जैसे श्वेत लम्बे-लम्बे बालों वाले

१, २, ३—देखे सूत्र संख्या १३२-

शंख, अंकरत्न, कुन्दपुष्प, जलकण, रजत और मन्थन किये हुए अमृत के फेनपुंज सदृश श्वेत-धवल चामरों को धारण करके लीलापूर्वक बीजती हुई-सी खड़ी है।

उन जिन-प्रतिमाओं के आगे दो-दो नाग-प्रतिमायें, यक्षप्रतिमायें, भूतप्रतिमायें, कुंड (पात्र-विशेष) धारक प्रतिमायें खड़ी हैं। ये सभी प्रतिमायें सर्वात्मना रत्नमय, स्वच्छ—निर्मल यावत् अनुपम शोभा से सम्पन्न हैं।

उन जिन-प्रतिमाओं के आगे एक सौ आठ—एक सौ आठ घंटा, चन्दनकलश, भृंगार, दर्पण, थाल, पात्रियां, सुप्रतिष्ठान, मनोगुलिकायें, वातकरक, चित्रकरक, रत्न करंडक, अश्वकंठ यावत् वृषभ-कंठ पुष्पचंगेरिकायें यावत् मयूरपिच्छ चगेरिकायें, पुष्पपटलक, तेलसमुद्गक यावत् अंजनसमुद्गक, एक सौ आठ ध्वजायें, एक सौ आठ धूपकडुच्छुक (धूपदान) रखे हैं।

सिद्धायतन का ऊपरीभाग स्वस्तिक आदि आठ-आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से शोभायमान है।

उपपात आदि सभाएँ

१८०—तस्स णं सिद्धायतणस्स उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महेगा उववायसभा पण्णत्ता, जहा सभाए सुहम्माए तहेव जाव[1] मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं, देवसयणिज्जं तहेव सयणिज्जवण्णओ, अट्ठट्ठ मंगलगा, झया, छत्तातिछत्ता।

१८०—इस सिद्धायतन के ईशान कोण में एक विशाल श्रेष्ठ उपपात-सभा बनी हुई है। सुधर्मा-सभा के समान ही इस उपपात-सभा का वर्णन समझना चाहिए। मणिपीठिका की लम्बाई-चौड़ाई आठ योजन की है और सुधर्मा-सभा में स्थित देवशैया के समान यहां की शैया का ऊपरी भाग आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रातिछत्रों से शोभायमान हो रहा है।

विवेचन—सुधर्मासभा के समान इस उपपात-सभा के वर्णन करने के संकेत का आशय यह है कि—

सुधर्मासभा के समान ही इस उपपात-सभा के लिये भी पूर्वादि दिग्वर्ती तीन द्वारों, मुखमण्डप प्रेक्षागृहमण्डप, चैत्यस्तूप, चैत्यवृक्ष, माहेन्द्रध्वज एव नन्दा-पुष्करिणी से लेकर उल्लोक तक का तथा मध्यभाग में स्थित—मणि-पीठिका और उस पर विद्यमान देवशैया एव ऊपरी भाग में आठ—आठ मंगलों, ध्वजाओं और छत्रों का वर्णन करना चाहिए।

१८१—तीसे णं उववायसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं महेगे हरए पण्णत्ते, एगं जोयणसयं आयामेणं, पण्णासं जोयणाइं विखंभेणं, दस जोयणाइं उव्वेहेणं, तहेव से णं हरए एगाए पउमवर-वेइयाए, एगेण वणसंडेण सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते। तस्स णं हरयस्स तिदिसं तिसोवाणपडिरूवगा पन्नत्ता।

१८१—उस उपपातसभा के उत्तर-पूर्व दिग्भाग में एक विशाल ह्रद-जलाशय—सरोवर है। इस ह्रद का आयाम (लम्बाई) एक सौ योजन एवं विस्तार (चौड़ाई) पचास योजन है तथा गहराई

१. देखे सूत्र सख्या १६३ से १७६

दस योजन है। यह ह्रद सभी दिशाओं में एक पद्मवरवेदिका एवं एक वनखण्ड से परिवेष्टित—घिरा हुआ है तथा इस ह्रद के तीन ओर अतीव मनोरम त्रिसोपान-पंक्तियाँ बनी हुई है।

१८२—तस्स णं हरयस्स उत्तरपुरत्थिमे णं एत्थ णं महेगा अभिसेगसभा पण्णत्ता, सुहम्मागमएणं जाव[1] गोमाणसियाओ मणिपेढिया सीहासणं सपरिवारं जाव[2] दामा चिट्ठंति।

तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सुबहु अभिसेयभंडे संनिक्खित्ते चिट्ठइ, अट्ठट्ठ मंगलगा तहेव।

१८२—उस ह्रद के ईशानकोण में एक विशाल अभिषेकसभा है। सुधर्मा-सभा के अनुरूप ही यावत् गोमानसिकायें, मणिपीठिका, सपरिवार सिंहासन, यावत् मुक्तादाम है, इत्यादि इस अभिषेक सभा का भी वर्णन जानना चाहिए।

वहां सूर्याभदेव के अभिषेक योग्य साधन—सामग्री से भरे हुए बहुत-से भाण्ड (पात्र आदि सामग्री) रखे है तथा इस अभिषेक-सभा के ऊपरी भाग में आठ-आठ मंगल आदि सुशोभित हो रहे हैं।

१८३—तीसे णं अभिसेगसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं अलंकारियसभा पण्णत्ता, जहा सभा सुधम्मा मणिपेढिया अट्ठ जोयणाइं, सीहासणं सपरिवारं। तत्थ णं सूरियाभस्स देवस्स सुबहु अलंकारिय-भंडे संनिक्खित्ते चिट्ठंति, सेसं तहेव।

१८३—उस अभिषेकसभा के ईशान कोण मे एक अलंकार-सभा है। सुधर्मासभा के समान ही इस अलंकार-सभा का तथा आठ योजन की मणिपीठिका एवं सपरिवार सिंहासन आदि का वर्णन समझ लेना चाहिए।

अलंकारसभा मे सूर्याभदेव के द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों से भरे हुए बहुत-से अलकार-भाड रखे है। शेष सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिये।

१८४—तीसे णं अलंकारियसभाए उत्तरपुरत्थिमे णं तत्थ णं महेगा ववसायसभा पण्णत्ता, जहा उववायसभा जाव सीहासणं सपरिवारं मणिपेढिया, अट्ठट्ठ मंगलगा०।

१८४—उस अलंकारसभा के ईशानकोण मे एक विशाल व्यवसायसभा बनी है। उपपात-सभा के अनुरूप ही यहाँ पर भी सपरिवार सिंहासन, मणिपीठिका आठ-आठ मंगल आदि का वर्णन कर लेना चाहिए।

पुस्तकरत्न एवं नन्दा-पुष्करिणी

१८५—तत्थ णं सूरिमाभस्स देवस्स एत्थ महेगे पोत्थयरयणे सन्निक्खित्ते चिट्ठइ, तस्स णं पोत्थयरयणस्स इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते तं जहा—

रिट्ठामईओ कंबिआओ, तवणिज्जमए दोरे, नाणामणिए गंठी, रयणामयाइं पत्तगाइं, वेरुलियमए लिप्पासणे, रिट्ठामए छंदणे, तवणिज्जमई संकला, रिट्ठामई मसी, वइरामई लेहणी, रिट्ठामयाइं अक्खराइं, धम्मिए लेक्खे।

---

१. देखें सूत्र संख्या १६३ से १७१। २. देखे सूत्र संख्या ४८ से ५१

ववसायसभाए णं उवरिं अट्ठट्ठ मंगलगा।

तीसे णं ववसायसभाए उत्तरपुरत्थिमेणं एत्थ णं नंदा पुक्खरिणी पण्णत्ता हरयसरिसा।

तीसे णं णंदाए पुक्खरिणीए उत्तरपुरत्थिमेणं महेगे बलिपीढे पण्णत्ते सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे।

१८५—उस व्यवसाय-सभा में सूर्याभ देव का विशाल श्रेष्ठतम पुस्तकरत्न रखा है। उस पुस्तकरत्न का वर्णन इस प्रकार है—

इसके पूठे रिष्ठ रत्न के हैं। डोरा स्वर्णमय है, गांठें विविध मणिमय हैं। पत्र रत्नमय है। लिप्यासन—दवात वैडूर्य रत्न की है, उसका ढक्कन रिष्टरत्नमय है और सांकल तपनीय स्वर्ण की बनी हुई है। रिष्टरत्न से बनी हुई स्याही है, वज्ररत्न की लेखनी—कलम है। रिष्टरत्नमय अक्षर है और उसमें धार्मिक लेख लिखे हैं।

व्यवसाय-सभा का ऊपरी भाग आठ-आठ मंगल आदि से सुशोभित हो रहा है।

उस व्यवसाय-सभा में उत्तरपूर्वदिग्भाग में एक नन्दा पुष्करिणी है। ह्रद के समान इस नन्दा पुष्करिणी का वर्णन जानना चाहिए।

उस नन्दा पुष्करिणी के ईशानकोण में सर्वात्मना रत्नमय, निर्मल, यावत् प्रतिरूप एक विशाल बलिपीठ (आसन-विशेष) बना है।

उपपातान्तर सूर्याभदेव का चिन्तन

१८६—तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरियाभे देवे अहुणोववण्णमित्तए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ, तंजहा—आहारपज्जत्तीए, सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए, आणपाण-पज्जत्तीए, भासा-मणपज्जत्तीए।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं मे पुव्विं करणिज्जं? किं मे पच्छा करणिज्जं किं मे पुव्विं सेयं? किं मे पच्छा सेयं? किं मे पुव्विं पि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ?

१८६—उस काल और उस समय में तत्काल उत्पन्न होकर वह सूर्याभ देव (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर-पर्याप्ति (३) इन्द्रिय-पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति और (५) भाषा-मन:पर्याप्ति—इन पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

पाँच प्रकार की पर्याप्तियों से पर्याप्तभाव को प्राप्त होके के अनन्तर उस सूर्याभदेव को इस प्रकार का आन्तरिक विचार, चिन्तन, अभिलाष, मनोगत एवं संकल्प उत्पन्न हुआ कि—मुझे पहले क्या करना चाहिये? और उसके अनन्तर क्या करना चाहिये? मुझे पहले क्या करना उचित (शुभ, कल्याणकर) है? और बाद में क्या करना उचित है? तथा पहले भी और पश्चात् भी क्या करना योग्य है जो मेरे हित के लिये, सुख के लिये, क्षेम के लिए, कल्याण के लिये और अनुगामी रूप (परंपरा) से शुभानुबंध का कारण होगा?

विवेचन—जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में परिवर्तित करने का कार्य होता है। संसारी जीव को पुद्गलों के ग्रहण करने और परिणमाने की शक्ति पुद्गलो के उपचय (पोषण, वृद्धि) से प्राप्त होती है एवं इस उपचय से ग्रहण और परिणमन करता है। इस प्रकार के कार्य-कारण भाव से उपचय, ग्रहण और परिणमन इन तीनों का क्रम निरंतर चलता रहता है।

पर्याप्ति के छह भेद हैं १. आहार-पर्याप्ति २. शरीर-पर्याप्ति ३. इन्द्रिय-पर्याप्ति ४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति ५. भाषा-पर्याप्ति ६. मन-पर्याप्ति।

उक्त छह पर्याप्तियों में अनुक्रम से एकेन्द्रिय जीवों के आदि की चार, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञीपचेन्द्रिय जीवों के आदि की चार पर्याप्तियों के साथ भाषा-पर्याप्ति को मिलाने से पांच तथा संज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मनपर्यन्त छहों पर्याप्तियाँ होती है।

इहभव सम्बन्धी शरीर को छोड़ने के पश्चात् जब जीव परभव सम्बन्धी शरीर ग्रहण करने के लिए उत्पत्तिस्थान में पहुँच कर कार्मण शरीर के द्वारा प्रथम समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, उनके आहार-पर्याप्ति आदि रूप छह विभाग हो जाते हैं और उनके द्वारा एक साथ आहार आदि छहों पर्याप्तियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है, लेकिन उनकी पूर्णता क्रमशः होती है। अर्थात् आहार के बाद शरीर, शरीर के बाद इन्द्रिय आदि। यह क्रम मन-पर्याप्ति पर्यन्त समझना चाहिये। इसको एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझना चाहिए।

जैसे कि छह सूत कातने वाली स्त्रियों ने रुई का कातना तो एक साथ प्रारम्भ किया, किन्तु उनमें मोटा सूत कातने वाली जल्दी कात लेती है और उत्तरोत्तर बारीक-बारीक कातने वाली अनुक्रम से विलम्ब से कातती हैं। इसी प्रकार यद्यपि पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है किन्तु उनकी पूर्णता अनुक्रम से होती है।

पर्याप्तियाँ औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में होती हैं और उनमें उनकी पूर्णता का क्रम इस प्रकार जानना चाहिए—

औदारिक शरीर वाला जीव पहली आहार-पर्याप्ति एक समय में पूर्ण करता है और इसके बाद दूसरी से लेकर छठी तक प्रत्येक अनुक्रम से एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त के बाद पूर्ण करता है।

वैक्रिय और आहारक शरीर वाले जीव पहली पर्याप्ति एक समय मे पूर्ण कर लेते है और उसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में दूसरी पर्याप्ति पूर्ण करते है और उसके बाद तीसरी से छठी पर्यन्त अनुक्रम से एक-एक समय मे पूरी करते है। लेकिन देव पांचवी और छठी इन दोनों पर्याप्तियों को अनुक्रम से पूर्ण न कर एक साथ एक समय में ही पूरी कर लेते हैं।

सूत्र में "भासामणपज्जत्तीए" पद से सूर्याभदेव को पाँच पर्याप्तियों से पर्याप्त भाव को प्राप्त होने का संकेत देवों के पांचवी और छठी भाषा और मन-पर्याप्तियाँ एक साथ पूर्ण होने की अपेक्षा किया गया है।

सामानिक देवों द्वारा कृत्य-संकेत

१८७—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा सूरियाभस्स देवस्स

इमेयारूवमज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं समभिजाणित्ता जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, सूरियाभं देवं करयल-परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धाविन्ति, वद्धावित्ता एवं वयासी—

एवं खलु देवाणुप्पियाणं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणंसि जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाण-मित्ताणं अट्ठसयं संनिक्खित्तं चिट्ठति, सभाए णं सुहम्माए माणवए चेइयखंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकहाओ संनिक्खित्ताओ चिट्ठंति, ताओ णं देवाणुप्पियाणं अण्णेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाणं य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ ।

तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं करणिज्जं, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा करणिज्जं । तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं सेयं, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पच्छा सेयं । तं एयं णं देवाणुप्पियाणं पुव्विं पि पच्छा वि हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भविस्सति ।

१८७—तत्पश्चात् उस सूर्याभदेव की सामानिक परिषद् के देव सूर्याभदेव के इस आन्तरिक विचार यावत् उत्पन्न संकल्प को अच्छी तरह से जानकर सूर्याभदेव के पास आये और उन्होंने दोनों हाथ जोड़ आवर्त पूर्वक मस्तक पर अंजलि करके जय-विजय शब्दों से सूर्याभदेव को अभिनन्दन करके इस प्रकार कहा—

आप देवानुप्रिय के सूर्याभविमान स्थित सिद्धायतन में जिनोत्सेधप्रमाण वाली एक सौ आठ जिन-प्रतिमायें विराजमान है तथा सुधर्मा सभा के माणवक—चैत्यस्तम्भ में वज्ररत्नमय गोल समुद्गकों (डिब्बो) में बहुत-सी जिन-अस्थियां व्यवस्थित रूप से रखी हुई है । वे आप देवानुप्रिय तथा दूसरे भी बहुत से वैमानिक देवों एव देवियो के लिए अर्चनीय यावत् पर्युपासनीय है ।

अतएव आप देवानुप्रिय के लिए उनकी पर्युपासना करने रूप कार्य करने योग्य है और यही कार्य पीछे करने योग्य है । आप देवानुप्रिय के लिए यह पहले भी श्रेय-रूप है और बाद में भी यही श्रेय रूप है । यही कार्य आप देवानुप्रिय के लिए पहले और पीछे भी हितकर, सुखप्रद, क्षेमकर, कल्याणकर एव परम्परा से सुख का साधन रूप होगा ।

१८८—तए णं से सूरियाभे देवे तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा-निसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव (चित्तामाणंदिए-पीइमणे-परमसोमणस्सिए-हरिसवसविसप्पमाण) हयहियए सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेति, सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेत्ता उववायसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं निग्गच्छइ, जेणेव हरए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता हरयं अणुपयाहिणीकरेमाणे-अणुपयाहिणी-करेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं अणुपविसइ, अणुपविसत्ता पुरत्थिमिल्लेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता जलावगाहं जलमज्जणं करेइ, करित्ता जलकिड्डं करेइ, करित्ता जलाभिसेयं करेइ, करित्ता आयंते चोक्खे परमसूइभूए हरयाओ पच्चोत्तरइ, पच्चोत्तरित्ता जेणेव अभिसेयसभा तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणुपयाहिणीकरेमाणे पुरत्थि-मिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सीहासण-वरगए पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने ।

१८९—तत्पश्चात् वह सूर्याभदेव उन सामानिकपरिषदोपगत देवों से इस अर्थ—बात को सुनकर और हृदय में अवधारित-मनन कर हर्षित, सन्तुष्ट यावत् (चित्त में आनन्दित, अनुरागी, परम

प्रसन्न, हर्षातिरेक से विकसित) हृदय होता हुआ शय्या से उठा और उठकर उपपात सभा के पूर्व-दिग्वर्ती द्वार से निकला, निकलकर ह्रद (जलाशय—तालाब) पर आया, आकर ह्रद की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशावर्ती तोरण से होकर उसमें प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर पूर्वदिशावर्ती त्रिसोपान पंक्ति से नीचे उतरा, उतर कर जल में अवगाहन और जलमज्जन (स्नान) किया, जल-मज्जन करके जलक्रीड़ा की, जलक्रीड़ा करके जलाभिषेक किया, जलाभिषेक करके आचमन (कुल्ला आदि) द्वारा अत्यन्त स्वच्छ और शुचिभूत-शुद्ध होकर ह्रद से बाहर निकला, निकल कर जहां अभिषेकसभा थी वहाँ आया, वहाँ आकर अभिषेकसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशावर्ती द्वार से उसमें प्रविष्ट हुआ, प्रविष्ट होकर सिंहासन के समीप आया और आकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया।

सूर्याभदेव का अभिषेक-महोत्सव

१८९—तए णं सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सूरियाभस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह।

१८९—तदनन्तर सूर्याभदेव की सामानिक परिषद् के देवों ने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर उनसे कहा—

देवानुप्रियो! तुम लोग शीघ्र ही सूर्याभदेव का अभिषेक करने हेतु महान् अर्थ वाले महर्घ (बहुमूल्य) एवं महापुरुषों के योग्य विपुल इन्द्राभिषेक की सामग्री उपस्थित करो—तैयार करो।

१९०—तए णं ते आभिओगिआ देवा सामाणियपरिसोववन्नेहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ जाव हियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं देवो! तह' त्ति आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमंति, उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति।

समोहणित्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव[1] दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता अट्ठसहस्सं सोवन्नियाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं रुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं सुवन्नमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं रुप्पमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं कलसाणं अट्ठसहस्सं भोमिज्जाणं कलसाणं एवं भिंगाराणं, आयंसाणं थालाणं, पाईणं, सुपतिट्ठाणं वायकरगाणं, रयणकरंडगाणं, पुप्फचंगेरीणं, जाव[2] लोमहत्थचंगेरीणं, पुप्फपडलगाणं जाव लोमहत्थपडलगाणं, सीहासणाणं, छत्ताणं, चामराणं, तेल्लसमुग्गाणं जाव[3] अंजणसमुग्गाणं, झयाणं, अट्ठसहस्सं धूवकडुच्छुयाणं विउव्वंति।

विउव्वित्ता ते साभाविए य वेउव्विए य कलसे य जाव कडुच्छुए य गिण्हंति, गिण्हित्ता सूरियाभाओ विमाणाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए चवलाए जाव[4] तिरियमसंखेज्जाणं जाव[5] वीतिवयमाणे-वीतिवयमाणे जेणेव खीरोदयसमुद्दे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता खीरोयगं

१. देखें सूत्र संख्या १३ २. देखें सूत्र संख्या १३२ ३. देखें सूत्र संख्या १३२
४-५ देखें सूत्र संख्या १३

गिण्हंति, जाइं तत्थुप्पलाइं ताइं गेण्हंति जाव (पउमाइं, कुमुयाइं, नलिणाइं सुभगाइं, सोगंधियाइं, पोंडरियाइं, महापोंडरियाइं) सयसहस्सपत्ताइं गिण्हंति ।

गिण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदए समुद्दे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पुक्खरोदयं गेण्हंति, जाइं तत्थुप्पलाइं सयसहस्सपत्ताइं ताइं जाव गिण्हंति । गिण्हित्ता समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागहवरदाम-पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति, गेण्हेत्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति ।

गेण्हित्ता जेणेव गंगा-सिंधु-रत्ता-रत्तवईओ महानईओ तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हित्ता उभओकूलमट्टियं गेण्हंति ।

मट्टियं गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंत-सिहरीवासहरपव्वया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता दगं गेण्हंति, सव्वतुयरे सव्वपुप्फे, सव्वगंधे, सव्वमल्ले, सव्वोसहिसिद्धत्थए गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पउमपुंडरीयदहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति, गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं जाव सयसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हंति ।

गेण्हित्ता जेणेव हेमवएरवयाइं वासाइं जेणेव रोहिय-रोहियंसा-सुवण्णकूल-रुप्पकूलाओ महाणईओ तेणेव उवागच्छंति, सलिलोदगं गेण्हंत्ति, गेण्हित्ता उभओकूलमट्टियं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव सद्दावाति-वियडावातिपरियागा वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतूयरे तहेव ।

जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वया तेणेव उवागच्छन्ति तहेव, जेणेव महापउम-महापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गिण्हन्ति तहेव ।

जेणेव हरिवास-रम्मगवासाइं जेणेव हरिकंत-नारिकंताओ महाणईओ, तेणेव उवागच्छंति तहेव, जेणेव गंधावाइमालवंतपरियाया वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव तहेव ।

जेणेव णिसढ-णीलवंतवासधरपव्वया तहेव, जेणेव तिगिच्छ-केसरिद्दहाओ तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तहेव ।

जेणेव महाविदेहे वासे जेणेव सीता-सीतोदाओ महाणदीओ तेणेव तहेव ।

जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव सव्वमागह-वरदाम-पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति, गेण्हित्ता सव्वंतरणईओ जेणेव सव्ववक्खारपव्वया तेणेव उवागच्छंति, सव्वतूयरे तहेव ।

जेणेव मंदरे पव्वते जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतूयरे सव्वपुप्फे सव्वमल्ले सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव णंदणवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव सोमणसवणे तेणेव उवागच्छंति सव्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसगोसीसचंदणं च दिव्वं च सुमणदामं गिण्हंति, गिण्हित्ता जेणेव पंडगवणे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सव्वतूयरे जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए च सरसं च गोसीसचंदणं च दिव्वं च सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधियगंधे गिण्हंति ।

गिण्हित्ता एगतो मिलायंति मिलाइत्ता ताए उक्किट्ठाए जाव[1] जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सूरियाभे विमाणे जेणेव अभिसेयसभा जेणेव सूरियाभे देवे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सूरियाभं देवं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति वद्धावित्ता तं महत्थं महग्घं महरिहं विउलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेंति ।

१९०—तत्पश्चात् उन आभियोगिक देवों ने सामानिक देवों की इस आज्ञा को सुनकर हर्षित यावत् विकसित हृदय होते हुए दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके 'देव ! बहुत अच्छा ! ऐसा ही करेंगे' कहकर विनय पूर्वक आज्ञा-वचनों को स्वीकार किया। स्वीकार करके वे उत्तरपूर्व दिग्भाग मे गये और उस उत्तरपूर्व दिग्भाग (ईशानकोण) में जाकर उन्होंने वैक्रिय समुद्‌घात किया।

वैक्रिय समुद्‌घात करके संख्यात योजन का दण्ड बनाया यावत् पुनः दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्‌घात करके एक हजार आठ स्वर्णकलशों की, एक हजार आठ रुप्यकलशों की, एक हजार आठ मणिमय कलशों की, एक हजार आठ स्वर्ण-रजतमय कलशो की, एक हजार आठ स्वर्ण-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ रजत-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ स्वर्ण-रूप्य-मणिमय कलशों की, एक हजार आठ भौमेय (मिट्टी के) कलशों की एवं इसी प्रकार एक हजार आठ—एक हजार आठ भृंगारो, दर्पणों, थालों, पात्रियों, सुप्रतिष्ठानों वातकरकों, रत्नकरंडकों, पुष्पचंगेरिकाओं यावत् मयूरपिच्छचंगेरिकाओं, पुष्पपटलको यावत् मयूरपिच्छपटलकों, सिंहासनों, छत्रों, चामरो, तेल-समुद्गकों यावत् अंजनसमुद्गकों, ध्वजाओं, धूपकडुच्छकों (धूपदानों) की विकुर्वणा (रचना) की।

विकुर्वणा करके उन स्वाभाविक और विक्रियाजन्य कलशों यावत् धुपकडुच्छकों को अपने-अपने हाथों में लिया और लेकर सूर्याभविमान से बाहर निकले। निकलकर अपनी उत्कृष्ट चपल दिव्य गति से यावत् तिर्यक् लोक में असंख्यात योजनप्रमाण क्षेत्र को उलांघते हुए जहां क्षीरोदधि समुद्र था, वहाँ आये। वहाँ आकर कलशों में क्षीरसमुद्र के जल को भरा तथा वहां के उत्पल यावत् (पद्‌म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगंधिक, पुंडरीक, महापुण्डरीक) शतपत्र, सहस्रपत्र कमलों को लिया।

कमलों आदि को लेकर जहाँ पुष्करोदक समुद्र था वहाँ आये, आकर पुष्करोदक को कलशों में भरा तथा वहाँ के उत्पल शतपत्र सहस्रपत्र आदि कमलों को लिया।

तत्पश्चात् जहाँ मनुष्यक्षेत्र था और उसमें भी जहाँ भरत-ऐरवत क्षेत्र थे, जहाँ मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ थे वहाँ आये और आकर उन-उन तीर्थो के जल को भरा और वहाँ की मिट्टी ग्रहण की।

इस प्रकार से तीर्थोदक और मृत्तिका को लेकर जहाँ गंगा, सिन्धु, रक्ता रक्तवती महानदियां थीं, वहाँ आये। आकर नदियों के जल और उनके दोनों तटों की मिट्टी को लिया।

नदियों के जल और मिट्टी को लेकर चुल्लहिमवंत और शिखरी वर्षधर पर्वत पर आये। वहाँ आकर कलशों में जल भरा तथा सर्व ऋतुओं के श्रेष्ठ—उत्तम पुष्पों, समस्त गंधद्रव्यों, समस्त पुष्पसमूहों और सर्व प्रकार की औषधियों एवं सिद्धार्थकों (सरसों) को लिया और फिर पद्‌मद्रह एवं पुंडरीकद्रह पर आये। यहां आकर भी पूर्ववत् कलशों में द्रह-जल भरा तथा सुन्दर श्रेष्ठ उत्पल यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों को लिया।

इसके पश्चात् फिर जहाँ हैमवत और ऐरण्यवत क्षेत्र थे, जहां उन दोनों क्षेत्रों की रोहित, रोहितांसा तथा स्वर्णकूला और रूप्यकूला महानदियाँ थी, वहाँ आये और कलशों में उन नदियों का जल भरा तथा नदियों के दोनों तटों की मिट्टी ली। जल मिट्टी को लेने के पश्चात् जहाँ शब्दापाति विकटापाति वृत्त वैताढच पर्वत थे, वहां आये। आकर समस्त ऋतुओ के उत्तमोत्तम पुष्पो आदि को लिया।

वहाँ से वे महाहिमवंत और रुक्मि वर्षधर पर्वत पर आये और वहाँ से जल एवं पुष्प आदि लिये, फिर जहाँ महापद्म और महापुण्डरीक द्रह थे, वहाँ आये। आकर द्रह जल एवं कमल आदि लिये।

तत्पश्चात् जहाँ हरिवर्ष और रम्यकवर्ष क्षेत्र थे, हरिकांता और नारिकांता महानदियाँ थीं, गंधापाति, माल्यवंत और वृत्तवैताढ्य पर्वत थे, वहाँ आये और इन सभी स्थानों से जल, मिट्टी, औषधियाँ एवं पुष्प लिये।

इसके वाद जहां निषध, नील नामक वर्षधर पर्वत थे, जहाँ तिगिंछ और केसरीद्रह थे, वहाँ आये, वहाँ आकर उसी प्रकार से जल आदि लिया।

तत्पश्चात् जहाँ महाविदेह क्षेत्र था जहाँ सीता, सीतोदा महानदियाँ थी वहाँ आये और उसी प्रकार से उनका जल, मिट्टी, पुष्प आदि लिये।

फिर जहाँ सभी चक्रवर्ती विजय थे, जहाँ मागध, वरदाम और प्रभास तीर्थ थे, वहाँ आये, वहाँ आकर तीर्थोदक लिया और तीर्थोदक लेकर सभी अन्तर-नदियों के जल एवं मिट्टी को लिया फिर जहाँ वक्षस्कार पर्वत थे वहाँ आये और वहाँ से सर्व ऋतुओं के पुष्पों आदि को लिया।

तत्पश्चात् जहाँ मन्दर पर्वत के ऊपर भद्रशाल वन था वहाँ आये, वहाँ आकर सर्व ऋतुओं के पुष्पों, समस्त औषधियों और सिद्धार्थकों को लिया। लेकर वहाँ से नन्दनवन में आये, आकर सर्व ऋतुओं के पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थकों (सरसों) और सरस गोशीर्ष चन्दन को लिया। लेकर जहाँ सौमनस वन था, वहाँ आये। आकर वहाँ से सर्व ऋतुओं के उत्तमोत्तम पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थकों, सरस गोशीर्ष चन्दन और दिव्य पुष्पमालाओं को लिया, लेकर पांडुक वन में आये और वहाँ आकर सर्व ऋतुओं के सर्वोत्तम पुष्पों यावत् सर्व औषधियों, सिद्धार्थको, सरस गोशीर्ष चन्दन, दिव्य पुष्पमालाओं, दर्दरमलय चन्दन की सुरभि गंध से सुगन्धित गंध-द्रव्यो को लिया।

इन सब उत्तमोत्तम पदार्थो को लेकर वे सब आभियोगिक देव एक स्थान पर इकट्ठे हुए और फिर उत्कृष्ट दिव्यगति से यावत् जहाँ सौधर्म कल्प था और जहां सूर्याभविमान था, उसकी अभिषेक सभा थी और उसमें भी जहाँ सिंहासन पर बैठा सूर्याभदेव था, वहाँ आये। आकर दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके सूर्याभदेव को 'जय हो विजय हो' शब्दों से वधाया और वधाई देकर उसके आगे महान् अर्थ वाली, महा मूल्यवान्, महान् पुरुषों के योग्य विपुल इन्द्राभिषेक की सामग्री उपस्थित की—रखी।

१९१—तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ, चत्तारि अग्गमहिसीओ सपरिवाराओ, तिन्नि परिसाओ, सत्त अणियाहिवइणो जाव अन्नेवि वहवे सूरियाभविमाणवासिणो देवा य देवीओ य तेहिं साभाविएहि य वेउव्विएहि य वरकमलपइट्ठाणेहि य सुरभिवरवारिपडिपुन्नेहिं चंदण-

कयचच्चिएहिं आविद्धकंठेगुणेहिं पउमुप्पलपिहाणेहिं सुकुमालकोमलकरपरिग्गहिएहिं अट्ठसहस्सेणं सोवन्नियाणं कलसाणं जाव अट्ठसहस्सेणं भोमिज्जाणं कलसाणं सव्वोदएहिं सव्वउट्टियाहिं सव्वतूयरेहिं जाव सव्वोसहिसिद्धत्थएहि य सव्विड्ढीए जाव वाइएणं महया-महया इंदाभिसेएणं अभिसिंचंति ।

१९१—तत्पश्चात्—अभिषेक की सामग्री आ जाने के बाद चार हजार सामानिक देवों, परिवार सहित चार अग्रमहिषियो, तीन परिषदाओ, सात अनीकाधिपतियो यावत् अन्य दूसरे बहुत से देवों-देवियो ने उन स्वाभाविक एवं विक्रिया शक्ति से निष्पादित—बताये गये श्रेष्ठ कमलपुष्पों पर संस्थापित, सुगंधित शुद्ध श्रेष्ठ जल से भरे हुए, चन्दन के लेप से चर्चित, पंचरगे सूत-कलावे से आविद्ध बन्धे-लिपटे हुए कंठ वाले, पद्म (सूर्यविकासी कमलों) एवं उत्पल (चन्द्रविकासी कमलो) के ढक्कनों से ढँके हुए, सुकुमाल कोमल हाथो से लिये गये और सभी पवित्र स्थानों के जल से भरे हुए एक हजार आठ स्वर्ण कलशों यावत् एक हजार आठ मिट्टी के कलशों, सब प्रकार की मृत्तिका एवं ऋतुओं के पुष्पों, सभी काषायिक सुगन्धित द्रव्यों यावत् औषधियो और सिद्धार्थको—सरसो से महान् ऋद्धि यावत् वाद्यघोषों पूर्णक सूर्याभ देव को अतीव गौरवशाली उच्चकोटि के इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त किया ।

अभिषेककालीन देवोल्लास

१९२—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स महया-महया इंणाभिसेए वट्टमाणे अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं नच्चोययं नातिमट्टियं पविरल-फुसियरेणुविणासणं दिव्वं सुरभिगंधोदगं वासं वासंति, अप्पेगतिया देवा हयरयं, नट्ठरयं, भट्ठरयं, उवसंतरयं, पसंतरयं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं मंचाइमंचकलियं करेति, अप्पेगइया देवा सूरियाभं विमाणं णाणाविहरागोसियं झयपडागाइपडागमंडियं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं लाउल्लोइमहियं, गोसीससरस-रत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितलं करेति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं उवचियचंदणकलसं चंदण-घडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभागं करेति, अप्पेगतिया देवासूरियाभं विमाणं आसत्तोसत्तविउलवट्ट-वग्घारियमल्लदामकलावं करेंति, अप्पेगतिया देवा सूरियाभं विमाणं पंचवण्णसुरभिमुक्कपुप्फपुंजो-वयारकलियं करेति, अप्पेगतिया सूरियाभं विमाणं कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धूया-भिराम करेंति, अप्पेगइतया देवा सूरियाभं विमाणं सुगंधगंधियं गंधवट्टिभूतं करेंति ।

अप्पेगतिया देवा हिरण्णवासं वासंति, सुवण्णवासं वासंति, रययवासं वासंति, वइरवासं०[1] पुप्फवासं० फलवासं० मल्लवासं० गंधवासं० चुण्णवासं० आभरणवासं० वासंति । अप्पेगतिया देवा हिरण्णविहिं भाएंति, एवं सुवन्नविहिं भाएंति रयणविहिं, पुप्फविहिं, फलविहिं, मल्लविहिं चुण्ण-विहिं वत्थविहिं गंधविहिं, तत्थ अप्पेगतिया देवा आभरणविहिं भाएंति ।

अप्पेगतिया चउव्विहं वाइत्तं वाइंति-ततं-विततं-घणं-झुसिरं, अप्पेगइया देवा चउव्विहं गेयं गायंति तं०—उक्खित्तायं-पायत्तायं-मंदायं-रोइतावसाणं, अप्पेगतिया देवा दुयं नट्टविहिं उवदंसिति, अप्पेगतिया विलंबियणट्टविहिं उवदंसेति, अप्पेगतिया देवा दुतविलंबियं णट्टविहिं उवदंसेंति, एवं अप्पे-गतिया अंचियं नट्टविहिं उवदंसेंति, अप्पेगतिया देवा आरभटं, भसोलं, आरभडभसोलं उप्पायनिवाय-

१. ०'वासति' शब्द का सूचक है तथा भाएति शब्द का भी सकेत किया गया है । संदर्भानुसार उस उस शब्द को ग्रहण करना चाहिये ।

पवत्तं संकुचियपसारियं, रियारियं भंतसंभंतणामं दिव्वं णट्टविहिं उवदंसेंति, अप्पेगतिया देवा चउव्विहं अभिणयं अभिणयंति, तं जहा—दिट्ठंतियं-पाडंतियं-सामंतोवणिवाइयं-लोगअंतोमज्झावसाणियं।

अप्पेगतिया देवा बुक्कारेंति, अप्पेगतिया देवा पीणेंति, अप्पेगतिया लासेंति, अप्पेगतिया हक्कारेंति, अप्पेगतिया विणंति, तंडवेंति, अप्पेगतिया वग्गंति, अप्फोडेंति, अप्पेगतिया अप्फोडेंति, वग्गंति, अप्पे०[1] तिवइं छिंदंति, अप्पेगतिया हयहेसियं करेंति, अप्पेगतिया हत्थिगुलगुलाइयं करेंति, अप्पेगतिया रह-घणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया हयहेसिय-हत्थिगुलगुलाइय-रहघणघणाइयं करेंति, अप्पेगतिया उच्छलेंति, अप्पेगतिया पोच्छलेंति, अप्पेगतिया उक्किट्ठियं करेंति, अ०[२] उच्छलेंति, पोच्छलेंति, अप्पेगतिया तिन्नि वि, अप्पेगतिया उवयंति, अप्पेगतिया उप्पयंति, अप्पेगतिया परिवयंति, अप्पेगतिया तिन्नि वि, अप्पेगइया सीहनायंति अप्पेगतिया दद्दरयं करेंति, अप्पेगतिया भूमिचवेडं दलयंति अप्पे० तिन्न वि, अप्पेगतिया गज्जंति, अप्पेगतिया विज्जुयायंति, अप्पेगइया वासं वासंति, अप्पेगतिया तिन्नवि करेंति, अप्पेगतिया जलंति अप्पेगतिया तवंति, अप्पेगतिया पतवेंति, अप्पेगतिया तिन्नि वि, अप्पेगतिया हक्कारेंति अप्पेगतिया थुक्कारेंति अप्पेगतिया धक्कारेंति, अप्पेगतिया साइं साइं नामाइं साहेंति, अप्पेगतिया चत्तारि वि, अप्पेगइया देवा देवसन्निवायं करेंति, अप्पेदेतिया देवुज्जोयं करेंति, अप्पेगइया देवुक्कलियं करेंति, अप्पेगइया देवा कहकहगं करेंति, अप्पेगतिया देवा दुहदुहगं करेंति, अप्पेगतिया चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगइया देवसन्निवायं-देवुज्जोयं-देवुक्कलियं-देवकहकहगं-देव-दुहदुहगं-चेलुक्खेवं करेंति, अप्पेगतिया उप्पलहत्थगया जाव सयसहस्सपत्तहत्थगया, अप्पेगतिया कलसहत्थगया जार धूवकडुच्छुयहत्थगया हट्ठ-तुट्ठ जाव हियया सव्वतो समंता आहावंति परिधावंति।

१९२—इस प्रकार के महिमाशाली महोत्सवपूर्वक जब सूर्याभदेव का इन्द्राभिषेक हो रहा था, तब कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान में इस प्रकार से झरमर-झरमर विरल नन्हीं-नन्हीं बूंदों में अतिशय सुगंधित गंधोदक की वर्षा बरसाई कि जिससे वहां की धूलि दब गई, किन्तु जमीन मे पानी नहीं फैला और न कीचड़ हुआ। कितने ही देवों ने सुर्याभ विमान को झाड़-बुहार कर हतरज, नष्टरज, भ्रष्टरज, उपशांतरज और प्रशांतरज वाला बना दिया। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान की गलियों, बाजारों और राजमार्गो को पानी से सींचकर, कचरा वगैरह झाड़-बुहार कर और गोबर से लीपकर साफ किया। कितने ही देवों ने मंच बनाये एवं मंचों के ऊपर भी मंचों की रचना कर सूर्याभ विमान को सजाया। कितने ही देवों ने विविध प्रकार की रंग-बिरंगी ध्वजाओं, पताकाति-पताकाओं से मंडित किया। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान को लीप-पोतकर स्थान-स्थान पर सरस गोरोचन और रक्त दर्दर चंदन के हाथे लगाये। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान के द्वारों को चंदन-चर्चित कलशों से बने तोरणों से सजाया। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान को ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लंबी-लंबी गोल मालाओं से विभूषित किया। कितने ही देवों ने पंचरगे सुगंधित पुष्पों को बिखेर कर मांडने मांडकर सुशोभित किया। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान को कृष्ण अगर, श्रेष्ठ कुन्दरुष्क तुरुष्क और धूप की मघमघाती सुगंध से मनमोहक बनाया। कितने ही देवों ने सूर्याभ विमान को सुरभि गंध से व्याप्त कर सुगंध की गुटिका जैसा बना दिया।

किसी ने चाँदी की वर्षा वरसाई तो किसी ने सोने की, रत्नों की, वज्र रत्नों की, पुष्पों की,

---

१. अप्पे. शब्द 'अप्पेगतिया' का सूचक है।

फलों की, पुष्पमालाओं की, गंध द्रव्यों की, सुगन्धित चूर्ण की और किसी ने आभूषणों की वर्षा बरसाई।

कितने ही देवों ने एक दूसरे को भेट में चांदी दी। इसी प्रकार से किसी ने आपस में एक दूसरे को स्वर्ण, रत्न, पुष्प, फल, पुष्पमाला, सुगन्धित चूर्ण, वस्त्र, गंध द्रव्य और आभूषण भेट रूप में दिये।

कितने ही देवों ने तत, वितत, घन और शुषिर, इन चार प्रकार के वाद्यों को बजाया। कितने ही देवों ने उत्क्षिप्त, पादान्त, मंद एवं रोचितावसान ये चार प्रकार के संगीत गाये। किसी ने द्रुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया तो किसी ने विलबित नाट्यविधि का एवं द्रुतविलंबित नाट्यविधि और किसी ने अंचित नाट्यविधि दिखलाई। कितने ही देवों ने आरभट, कितने ही देवो ने भसोल, कितने ही देवों ने आरभट-भसोल, कितने ही देवों ने उत्पात-निपातप्रवृत्त, कितने ही देवों ने संकुचित-प्रसारित-रितारित और कितने ही देवों ने भ्रांत-संभ्रात नामक दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित की। किन्ही किन्हीं देवों ने दार्ष्टान्तिक, प्रात्यान्तिक, सामन्तोपनिपातिक और लोकान्तमध्यावसानिक इन चार प्रकार के अभिनयों का प्रदर्शन किया।

साथ ही कितने ही देव हर्षातिरेक से बकरे-जैसी बुकबुकाहट करने लगे। कितने ही देवों ने अपने शरीर को फुलाने का दिखावा किया। कितनेक नाचने लगे, कितनेक हक-हक की आवाजे लगाने लगे। कितने ही लम्बी-लम्बी दौड़ दौड़ने लगे। कितने ही गुनगुनाने लगे। कितने ही तांडव नृत्य करने लगे। कितने ही उछलने के साथ ताल ठोकने लगे और कितने ही ताली बजा-बजाकर कूदने लगे। कितने हीं तीन पैर की दौड़ लगाने, कितने ही घोड़े जैसे हिनहिनाने लगे। कितने ही हाथी जैसी गुलगुलाहट करने लगे। कितने ही रथ जैसी घनघनाहट करने लगे और कितने ही कभी घोड़ों की हिनहिनाहट, कभी हाथी की गुलगुलाहट और रथों की घनघनाहट जैसी आवाजे करने लगे। कितनेक ने ऊँची छलांग लगाई, कितनेक और अधिक ऊपर उछले। कितने ही हर्षध्वनि करने लगे। हर्षित हो किलकारियां करने लगे। कितने उछले और अधिक ऊपर उछले और साथ ही हर्षध्वनि करने लगे। कोई ऊपर से नीचे, कोई नीचे से ऊपर और कोई लम्बे कूदे। किसी ने नीची-ऊँची और लंबी—तीनों तरह की छलांगे मारी। कितनेक ने सिंह जैसी गर्जना की, कितनेक ने एक दूसरे को रंग-गुलाल से भर दिया, कितनेक ने भूमि को थपथपाया और कितनेक ने सिंहनाद किया, रंग-गुलाल उड़ाई और भूमि को भी थपथपाया। कितने ही देवों ने मेघों की गड़गड़ाहट, कितने ही देवों ने विजली की चमक जैसा दिखावा किया और किन्ही ने वर्षा बरसाई। कितने ही देवों ने मेघों के गरजने चमकने और बरसने के दृश्य दिखाये। कुछ एक देवों ने गरमी से आकुल-व्याकुल होने का, कितने ही देवों ने तपने का, कितने ही देवों ने विशेष रूप से तपने का तो कितने ही देवों ने एक साथ इन तीनों का दिखावा किया। कितने ही हक-हक, कितने ही थक-थक कितने ही धक-धक जैसे शब्द और कितने ही अपने-अपने नामों का उच्चारण करने लगे। कितने ही देवों ने एक साथ इन चारों को किया। कितने ही देवों ने टोलियां (समूह, झुंड) बनाई, कितने ही देवों ने देवोद्योत किया, कितने ही देवों ने रुक-रुक कर बहने वाली वाततरंगों का प्रदर्शन किया। कितने ही देवों ने कहकहे लगाये, कितने ही देव दुहदुहाहट करने लगे, कितनेक देवों ने वस्त्रों की बरसा की और कितने ही देवों ने टोलियाँ बनाई, देवोद्योत किया देवोत्कलिका की, कहकहे लगाये, दुहदुहाहट की और वस्त्रवर्षा की। कितनेक

देव हाथों में उत्पल यावत् शतपत्र सहस्रपत्र कमलों को लेकर, कितने ही हाथों में कलश यावत् धूप दोनों को लेकर हर्षित सन्तुष्ट यावत् हर्षातिरेक से विकसितहृदय होते हुए इधर-इधर चारों ओर दौड़-धूप करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उल्लास और प्रमोद के समय होने वाली मानसिक वृत्तियो एवं हर्षातिरेक के कारण की जाने वाली प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण किया है। उपर्युक्त वर्णन मे प्रदर्शित चेष्टाओं के चित्र हमें त्यौहारों-मेलों आदि के अवसरों पर देखने को मिलते हैं, जब बालक से लेकर वृद्ध जन तक सभी अपने-अपने पद और मर्यादा को भूलकर मस्ती में रम जाते हैं।

१९३—तए णं तं सूरियाभं देवं चत्तारि सामाणियसाहस्सीओ जाव[1] सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ अण्णे य बहवे सूरियाभरायहाणिवत्थव्वा देवा य देवीओ य महया महया इदाभिसेगेणं अभिसिंचंति, अभिसिंचित्ता पत्तेयं-पत्तेयं करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

जय जय नंदा ! जय जय भद्दा ! जय जय नंदा ! भद्दं ते, अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि, जियमज्झे वसाहि, इंदो इव देवाणं, चंदो इव ताराणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, भरहो इव मणुयाणं बहूइं पलिओवमाइं, बहूइं सागरोवमाइं बहूइं पलिओवमसागरोवमाइं, चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव आयरक्खदेवसाहस्सीणं सूरियाभस्स विमाणस्स अन्नेसिं च बहूणं सूरियाभविमाणवासीणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव (पोरेवच्चं-सामित्तं-भट्टित्तं-महत्तरगत्तं-आणाईसरसेणावच्चं) महया महयाहयनट्ट० कारेमाणे पालेमाणे विहराहि त्ति कट्टु जय जय सद्दं पउंजंति।

१९३—तत्पश्चात् चार हजार सामानिक देवों यावत् सपरिवार चार अग्रमहिषियो, तीन परिषदाओं, सात अनीकाधिपतियो, सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा दूसरे भी बहुत से सूर्याभ राजधानी मे वास करने वाले देवों और देवियों ने सूर्याभदेव को महान् महिमाशाली इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त किया। अभिषेक करके प्रत्येक ने दोनों हाथ जोड़कर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—

हे नन्द ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! हे भद्र ! तुम्हारी जय हो, जय हो ! तुम्हारा भद्र—कल्याण हो ! हे जगदानन्दकारक ! तुम्हारी बारंबार जय हो ! तुम न जीते हुओं को जीतो और विजितों (जीते हुओ) का पालन करो, जितों—शिष्ट आचार वालों के मध्य मे निवास करो। देवों में इन्द्र के समान, ताराओं में चन्द्र के समान, असुरों से चमरेन्द्र के समान, नागो मे धरणेन्द्र के समान, मनुष्यों मे भरत चक्रवर्ती के समान, अनेक पल्योपमों तक, अनेक सागरोपमों तक, अनेक-अनेक पल्योपमों-सागरोपमों तक, चार हजार सामानिक देवो यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देवो तथा सूर्याभ विमान और सूर्याभ विमानवासी अन्य बहुत से देवो और देवियो का वहुत-वहुत अतिशय रूप से आधिपत्य (शासन) यावत् (पुरोवर्तित्व), (प्रमुखत्व) भर्तृत्व, (पोषकत्व) महत्तरकत्व, एवं अज्ञेश्वरत्व, सेनापतित्व) करते हुए, पालन करते हुए विचरण करो।

इस प्रकार कहकर पुन: जय जयकार किया।

१. देखें सूत्र संख्या ७

अभिषेकानंतर सूर्याभदेव का अलंकरण

१९४—तए णं से सूरियाभे देवे महया महया इंदाभिसेगेणं अभिसित्ते समाणे अभिसेयसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेण निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अलंकारियसभं अणुप्पयाहिणीकरेमाणे करेमाणे अलंकारियसभं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति स.हासणवरगते पुरत्थाभिमुहे सन्निसन्ने।

१९४—अतिशय महिमाशाली इन्द्राभिषेक से अभिषिक्त होने के पश्चात् सूर्याभदेव अभिषेक सभा के पूर्व-दिशावर्ती द्वार से बाहर निकला, निकलकर जहां अलंकार-सभा थी वहाँ आया। आकर अलकार-सभा की अनुप्रदक्षिणा करके पूर्व दिशा के द्वार से अलंकार-सभा मे प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ सिंहासन था, वहाँ आया और आकर पूर्व की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिंहासन पर आरूढ हुआ।

१९५—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसोववन्नगा अलंकारियभंडे उवट्ठवेति।

तए णं से सूरियाभे देवे तप्पढमयाए पम्हसलूमालाए सुरभीए गंधकासाईए गायाइं लूहेति लूहित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपति, अणुलिंपित्ता नासानीसासवायवोज्झं चक्खुहरं वन्नफरिसजुत्तं हयलालापेसवातिरेगं धवलं कणगखचियन्तकम्मं आगासफालियसमप्पभं दिव्वं देवदूस-जुयलं नियंसेति, नियसेत्ता हारं पिणद्धेति, पिणद्धत्ता अद्धहारं पिणद्धेइ, एगावलिं पिणद्धेति, पिणद्धित्ता मुत्तावलिं पिणद्धेति पिणद्धित्ता, रयणावलिं पिणद्धेइ, पिणद्धित्ता एवं अंगयाइं केयूराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तगं दसमुद्दाणंतगं वच्छसुत्तगं मुरविं कंठमुरविं पालंबं कुंडलाइं चूडामणिं मउडं पिणद्धेइ, गंथिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमेणं चउव्विहेणं मल्लेणं कप्परुक्खगं पिव अप्पाणं अलंकियविभूसियं करेइ, करित्ता दद्दर-मलय-सुगंधगंधिएहिं गायाइं भुखंडेइ दिव्वं च सुमणदामं पिणद्धेइ।

१९५—तदनन्तर उस सूर्याभ देव की सामानिक परिषद् के देवो ने उसके सामने अलकार—भाड उपस्थित किया।

इसके बाद सूर्याभदेव ने सर्वप्रथम रोमयुक्त सुकोमल काषायिक सुरभि गंध से सुवासित वस्त्र से शरीर को पोछा। पौछकर शरीर पर सरस गोशीर्ष चदन का लेप किया, लेप करके नाक की निःश्वास से भी उड़ जाये, ऐसा अति वारीक नेत्राकर्षक, सुन्दर वर्ण और स्पर्श वाले, घोड़े के थूक (लार) से भी अधिक सुकोमल, धवल जिनके पल्लो और किनारों पर सुनहरी वेलवूंटे वने है, आकाश एवं स्फटिक मणि जैसी प्रभा वाले दिव्य देवदूष्य (वस्त्र) युगल को धारण किया। देवदूष्य युगल धारण करने के पश्चात् गले मे हार पहना, अर्धहार पहना, एकावली पहनी, मुक्ताहार पहना, रत्नावली पहनी, एकावली पहन कर भुजाओं मे अगद, केयूर (वाजूवद) कड़ा, त्रुटित, करधनी, हाथो की दशों अंगुलियों में दस अंगूठियाँ, वक्षसूत्र, मुरवि (मादलिया), कंठमुरवि (कंठी), प्रालंव (झूमके), कानों मे कुंडल पहने तथा मस्तक पर चूड़ामणि (कलगी) और मुकुट पहना। इन आभूपणो को पहनने के पश्चात् ग्रथिम (गूथी हुई), वेष्टिम (लपेटो हुई), पूरिम (पूरी हुई) और संघातिम (साधकर बनाई हुई), इन चार प्रकार की मालाओ से अपने को कल्पवृक्ष के समान अलंकृत—विभूषित किया। विभूषित कर दद्दर मलय चंदन की सुगन्ध से सुगन्धित चूर्ण को शरीर पर भुरका—छिड़का और फिर दिव्य पुष्पमालाओ को धारण किया।

विवेचन—उपर्युक्त वस्त्र परिधान एवं आभूषणों को पहनने से यह ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समकालीन भारतीय जन दो वस्त्र पहनने के साथ-साथ यथायोग्य आभूषणो को धारण करते थे। शृंगारप्रसाधनों में अतिशय सुरभिगंध वाले पदार्थो का उपयोग किया जाता था। वस्त्र-वर्णन तो तत्कालीन वस्त्र-कला की परम प्रकर्षता की प्रतीति कराता है। उस समय 'पाउडर' चूर्ण का भी प्रयोग किया जाता था।

सूर्याभदेव द्वारा कार्य-निश्चय

१९६—तए णं से सूरियाभे देवे केसालंकारेणं, मल्लालंकारेणं आभरणालंकारेणं वत्थालंकारेणं चउव्विहेण अलंकारेण अलंकिय-विभूसिए समाणे पडिपुण्णालंकारे सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठित्ता अलंकारियसभाओ पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता जेणेव व्यवसायसभा तेणेव उवागच्छति, ववसायसभं अणुपयाहिणीकरेमाणे अणुपयाहिणीकरेमाणे पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति जेणेव सीहासणवरगए (?) जाव सन्निसन्ने।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स सामाणियपरिसीववन्नगा देवा पोत्थयरयणं उणवेंति, तते णं से सूरियामे देवे पोत्थयरयणं गिण्हति, गिण्हित्ता पोत्थयरणं मुयइ मुइत्ता पोत्थयरयणं विहाडेइ, विहाडित्ता पोत्थयरयणं वाएति, पोत्थयरयणं वाएत्ता धम्मियं ववसायं ववसइ, ववसइत्ता पोत्थयरयणं पडिनिक्खवइ, सीहासणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता ववसायभातो पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं पडिनिक्खमित्ता जेणेव नंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता णंदापुक्खरिणिं पुरत्थिमिल्लेणं तोरणेणं तिसोवाणपडिरूवएणं पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता हत्थपादं पक्खालेति, पक्खलित्ता आयंते चोक्खे परमसुइभए एगं महं सेयं रययामयं विमलं सलिलपुण्णं मत्तगयमुहागितिकुंभसमाणं भिगारं पगेण्हित्ता जाइं तत्थ उत्पलाइं जाव सतसहस्सपत्ताइं ताइं गेण्हति गेण्हित्ता णंदातो पुक्खरिणीतो पच्चुत्तरति, पच्चुत्तरित्ता जेणेव सिद्धायतणे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

१९६—तत्पश्चात् केशालंकारो (केशों को सजाने वाले (अलंकार), पुष्प-मालादि रूप माल्यालंकारों, हार आदि आभूषणालंकारों एवं देवदूष्यादि वस्त्रालंकारों—इन चारो प्रकार के अलंकारों से द्वार (अलंकृत-विभूषित होकर वह सूर्याभदेव सिंहासन से उठकर) अलकारसभा के पूर्वदिग्वर्ती से बाहर निकला। निकलकर व्यवसाय सभा में आया एवं बारबार व्यवसायसभा की प्रदक्षिणा करके पूर्वदिशा के द्वार से उसमें प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ सिंहासन था वहाँ आकर यावत् सिंहासन पर आसीन हुआ।

तत्पश्चात् सूर्याभदेव की सामानिक परिषद् के देवों ने व्यवसायसभा में रखे पुस्तक-रत्न को उसके समक्ष रखा। सूर्याभदेव ने उस उपस्थित पुस्तक-रत्न को हाथ में लिया, हाथ में लेकर पुस्तक-रत्न खोला, खोलकर उसे वांचा। पुस्तकरत्न को वांचकर धर्मानुगत-धार्मिक कार्य करने का निश्चय किया। निश्चय करके वापस यथास्थान पुस्तकरत्न को रखकर सिंहासन से उठा एवं व्यवसाय सभा के पूर्व-दिग्वर्ती द्वार से बाहर निकलकर जहाँ नन्दापुष्करिणी थी, वहाँ आया। आकर पूर्वदिग्वर्ती तोरण और त्रिसोपान पंक्ति से नंदा पुष्करिणी में प्रविष्ट हुआ—उतरा। प्रविष्ट होकर हाथ पैर धोये। हाथ-पैर धोकर और आचमन-कुल्ला कर पूर्ण रूप से स्वच्छ और परम शुचिभूत—शुद्ध होकर मत्त गजराज की मुखाकृति जैसी एक विशाल श्वेतधवल रजतमय जल से भरी हुई भृंगार

(झारी) एवं वहाँ के उत्पल यावत् शतपत्र-सहस्रपत्र कमलों को लिया। फिर नंदा पुष्करिणी से बाहर निकला। बाहर निकलकर सिद्धायतन की ओर चलने के लिये उद्यत हुआ।

सिद्धायतन का प्रमार्जन

१९७—तए णं ते सूरियाभं देवं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ जाव सोलस आयरक्खदेव-साहस्सीओ अन्ने य बहवे सूरियाभविमाणवासिणो जाव देवीओ य अप्पेगतिया देवा उप्पलहत्थगा जाव सय-सहस्सपत्त-हत्थगा सूरियाभं देवं पिट्ठतो समणुगच्छंति।

तए णं तं सूरियाभं देवं बहवे आभिओगिया देवा य देवीओ य अप्पेगतिया कलसहत्थगा जाव अप्पेगतिया धूवकडुच्छुयहत्थगता हट्ठतुट्ठ जाव सूरियाभं देव पिट्ठतो समणुगच्छंति।

१९७—तब उस सूर्याभदेव के चार हजार सामानिक देव यावत् सोलह हजार आत्मरक्षक देव तथा कितने ही अन्य बहुत से सूर्याभविमानवासी देव और देवी भी हाथो मे उत्पल यावत् शतपथ-सहस्रपत्र कमलो को लेकर सूर्याभदेव के पीछे-पीछे चले।

तत्पश्चात् उस सूर्याभदेव के बहुत-से अभियोगिक देव और देवियाँ हाथों मे कलश यावत् धूप-दानो को लेकर हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसितहृदय होते हुए सूर्याभदेव के पीछे-पीछे चले।

१९८—तए णं से सूरियाभे देवे चउहिं सामाणिगसाहस्सीहिं जाव अन्नेहि य बहूहि य जाव देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव णातियरवेणं जेणेव सिद्धावतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता सिद्धायतणं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमाओ तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता जिणपडिमाणे आलोए पणामं करेति, करित्ता लोम-हत्थगं गिण्हति, गिण्हित्ता जिणपडिमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ, पमज्जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेइ, ण्हाणित्ता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिंपइ, अणुलिंपइत्ता सुरभिगंधका-साइएणं गायाइं लूहेति, लूहित्ता जिणपडिमाणं अहयाइं देवदूसजुयलाइं नियंसेइ, नियंसित्ता पुप्फारुहणं-मल्लारुहणं-गंधारुहणं-चुण्णारुहणं-वन्नारुहणं-आभरणारुहणं करेइ, करित्ता आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घा-रियमल्लदामकलाव करेइ, मल्लदामकलावं करेत्ता कयग्गहगहियकरयलपब्भट्ठविप्पमुक्केणं दसवद्ध-वन्नेणं कुसुमेणं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं करेति, करित्ता जिणपडिमाण पुरतो अच्छेहि सण्हेहिं रयया-मएहिं अच्छरसातंदुलेहिं अट्ठट्ठ मंगले आलिहइ, तं जहा—सोत्थियं जाव दप्पणं।

तयाणंतरं च णं चंदप्पभवइरवेरुलियविमलदंडं कंचणमणिरयणभत्तिचित्तं कालागुरुपवरकुंदु-रुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमघंतगंधुत्तमाणुविद्धं च धूववट्टिं विणिम्मुयंतं वेरुलियमय कडुच्छुयं पग्गहिय पयत्तेणं धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगंथजुत्तेहि अत्थजुत्तेहि अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ, संथुणित्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचित्ता दाहिणं जाणुं धरणि-तलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवाडेइ निवाडित्ता ईसिं पच्चुण्णमइ, पच्चुण्णमित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

१९८—तत्पश्चात् सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् और दूसरे बहुत से देवों और देवियो से परिवेष्टित होकर अपनी समस्त ऋद्धि, वैभव यावत् वाद्यों की तुमुल ध्वनिपूर्वक जहाँ सिद्धायतन था, वहाँ आया। पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछंदक और जिनप्रतिमाएँ थीं वहाँ आया। वहाँ आकर उसने जिनप्रतिमाओं को देखते ही प्रणाम करके

प्रमार्जनी (मयूरपिच्छ की पूंजनी) हाथ में ली और प्रमार्जनी को लेकर जिनप्रतिमाओं को प्रमार्जित किया (पूंजा)। प्रमार्जित करके सुरभि गन्धोदक से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। लेप करके काषायिक (कसैली) सुरभि गन्ध से सुवासित वस्त्र से उनको पोंछा। उन जिन-प्रतिमाओं को अखण्ड (अक्षत) देवदूष्य-युगल पहनाया। देवदूष्य पहना कर पुष्प, माला, गन्ध, चूर्ण, वर्ण, वस्त्र और आभूषण चढाये। इन सबको चढ़ाने के अनन्तर फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी-लम्बी गोल मालाये पहनाईं। मालाये पहनाकर पंचरगे पुष्पपुंजो को हाथ मे लेकर उनकी वर्षा की और मांडने मांडकर उस स्थान को सुशोभित किया। फिर उन जिनप्रतिमाओ के सन्मुख शुभ्र, सलौने, रजतमय अक्षत तन्दुलो—चावलों से आठ-आठ मंगलो का आलेखन किया, यथा— स्वतिक यावत् दर्पण।

तदनन्तर उन जिनप्रतिमाओं के सन्मुख श्रेष्ठ काले अगर, कुन्दरु, तुरुष्क और धूप की महकती सुगन्ध से व्याप्त और धूपवत्ती के समान सुरभिगन्ध को फैलाने वाले चन्द्रकांत मणि, वज्र-रत्न और वैडूर्य मणि की दंडी तथा स्वर्ण-मणिरत्नो से रचित चित्र-विचित्र रचनाओं से युक्त वैडूर्यमय धूपदान को लेकर धूप-क्षेप किया तथा विशुद्ध (काव्य-दोष से रहित) अपूर्व अर्थसम्पन्न अपुनरुक्त महिमाशाली एक सौ आठ छन्दों मे स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पग पीछे हटा, और फिर पीछे हटकर बाया घुटना ऊंचा किया और दायां घुटना जमीन पर टिकाकर तीन बार मस्तक को भूमितल पर नमाया। नमाकर कुछ ऊँचा उठाया, तथा मस्तक ऊंचा कर दोनों हाथ जोड़कर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—

अरिहंत-सिद्ध भगवन्तों की स्तुति

१९९—नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं, आदिगराणं, तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुण्डरीआणं, पुरिसवरगंध-हत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहिआणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोअगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं मग्गदयाणं, सरणदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, अप्पडिहयवर-नाणदंसणधराणं, विअट्टच्छउमाणं, जिणाणं, जावयाणं तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोअगाणं, सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं सिवं, अयलं, अरुअं, अणंतं, अक्खयं, अव्वाबाहं, अपुणराविति्तसिद्धि-गइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं; वंदइ नमंसइ।

१९९—अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो, श्रुत-चारित्र रूप धर्मकी आदि करनेवाले, तीर्थकर—तीर्थ की स्थापना करने वाले, स्वयंबुद्ध—गुरूपदेश के बिना स्वयं ही बोध को प्राप्त, पुरुषों में उत्तम कर्मशत्रुओ का विनाश करने में पराक्रमी होने के कारण पुरुषो में सिंह के समान, सौम्य और लावण्य-शाली होने से पुरुषों मे श्रेष्ठ पुंडरीक-कमल के समान, अपने पुण्य प्रभाव से ईति-व्याधि भीति—भय आदि को शांत, विनाश करने के कारण पुरुषों मे श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान, लोक मे उत्तम, लोक के नाथ, लोक का हित करने वाले, संसारीप्राणियों को सन्मार्ग दिखाने के कारण लोक में प्रदीप के समान केवलज्ञान द्वारा लोका-लोक को प्रकाशित करने वाले—वस्तु स्वरूप को वताने वाले, अभय दाता, श्रद्धा-ज्ञान रूप नेत्र के दाता, मोक्षमार्ग के दाता, शरणदाता, वोधिदाता, धर्मदाता, देशविरति सर्वविरतिरूप धर्म के उपदेशक, धर्म के नायक, धर्म के सारथी, सम्यक् धर्म के प्रवर्तक चातुर्गतिक

संसार का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती, अप्रतिहत—श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन के धारक, कर्मावरण या कषाय रूप छद्‌म के नाशक, रागादि शत्रुओं को जीतने वाले तथा अन्य जीवों को भी कर्म-शत्रुओं को जीतने के लिए प्रेरित करने वाले, संसारसागर को स्वयं तिरे हुए तथा दूसरों को भी तिरने का उपदेश देने वाले, बोध को प्राप्त तथा दूसरों को भी उपदेश द्वारा बोधि प्राप्त कराने वाले, स्वयं कर्ममुक्त एवं अन्यों को भी कर्ममुक्त होने का उपदेश देने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा शिव—उपद्रव रहित, अचल, नीरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध अपुनरावृत्ति रूप (जन्म-मरण रूप संसार से रहित) सिद्धगति नामक स्थान में विराजमान सिद्ध भगवन्तों को वन्दन—नमस्कार हो।

सूर्याभदेव द्वारा सिद्धायतन की देवच्छन्दक आदि की प्रमार्जना

२००—वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं परामुसइ, सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थेणं पमज्जति, दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ कयग्गहगहिय जाव[1] पुंजोवयारकलियं करेइ, करित्ता धूवं दलयइ, जेणेव सिद्धायतणस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छति, लोमहत्थगं परामुसइ, दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ, सरसेणं गोसीसचंणेणं चच्चए दलयइ, दलइत्ता पुप्फारुहणं मल्ला० जाव[2] आभरणारुहणं करेइ, करेत्ता आसत्तोसत्त जाव[3] धूवं दलयइ।

जेणेव दाहिणिल्ले दारे मुहमंडवे जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ लोमहत्थगं परामुसइ, बहुमज्झदेसभागं लोमहत्थेणं पमज्जइ दिव्वाए दगधाराए अब्भुक्खेइ, सरसेणं गोसीसचंदणेणं पंचंगुलितलं मंडलगं आलिहइ, कयग्गहगहिय जाव धूवं दलयइ।

जेणेव दाहिणिलस्स मुहमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं परामुसइ दारचेडीओ य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थेणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए०[4] सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं जाव आभरणारुहणं करेइ आसत्तोसत्त० कयगहग्गहिय० धूवं दलयइ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स उत्तरिल्ला खंभपंती तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थं परामुसइ थंभे य सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ जहा चेव पच्चत्थिमिल्लस्स दारस्स जाव धूवं दलयइ।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं परामुसति दारचेडीओ तं चेव सव्वं।

जेणेव दाहिणिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ दारचेडीओ तं चेव सव्वं।

जेणेव दाहिणिल्ले पेच्छाघरमंडवे, जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स बहुमज्झदेसभागे, जेणेव वइरामए अक्खाडए, जेणेव मणिपेढिया, जेणेव सीहासणे, तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं परामुसइ,

---

१. देखें सूत्र संख्या १९८ २ देखें सूत्र संख्या १९८ ३. देखें सूत्र संख्या १९८

४. दगधाराए के अनन्तर आगत० से 'अब्भुक्खेइ' शब्द ग्रहण करना चाहिये।

अक्खाडगं च मणिपेढियं च सीहासणं च लोमहत्थएणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीस-चंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त जाव धूवं दलेइ, जेणेव दाहिणिल्लस्स पेच्छाघरमंडवस्स पच्चत्थिमिल्ले दारे उत्तरिल्ले दारे तं चेव जं चेव पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव दाहिणे दारे तं चेव।

जेणेव दाहिणिल्ले चेइयथूमे तेणेव उवागच्छइ थूभं मणिपेढियं च दिव्वाए दगधाराए सरसेण गोसीसचंदणेणं चच्चए दलेइ पुप्फारु० आसत्तो० जाव धूवं दलेइ।

जेणेव पच्चत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव पच्चत्थिममिल्ला जिणपडिमा तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ला जिणपडिमा तं चेव सव्वं। जेणेव पुरत्थिमिल्ला मणिपेढिया जेणेव पुरत्थिमिल्ला जिण-पडिमा तेणेव उवागच्छइ तं चेव, दाहिणिल्ला मणिपेढिया दाहिणिल्ला जिणपडिमा तं चेव।

जेणेव दाहिणिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छइ तं चेव, जेणेव महिंदज्झए, जेणेव दाहिणिल्ला नंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति, लोमहत्थगं परामुसति, तोरणे य तिसोवाणपढिरूवए सालभंजियाओ य वालरूवए य लोमहत्थएणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं० पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० धूवं दलयति।

सिद्धाययणं अणुपयाहिणीकरेमाणे जेणेव उत्तरिल्ला णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छति तं चेव, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयरुक्खे तेणेव उवागच्छति, जेणेव उत्तरिल्ले चेइयथूभे तहेव, जेणेव पच्चत्थिमिल्ला पेढिया जेणेव पच्चत्थिमिल्ला जिणपडिमा तं चेव।

जेणेव उत्तरिल्ले पेच्छाघरमडवे तेणेव उवागच्छति जा चेव दाहिणिल्लवत्तव्वया सा चेव सव्वा पुरत्थिमिल्ले दारे, दाहिणिल्ला खंभपंती तं चेव सव्वं।

जेणेव उत्तरिल्ले मुहमंडवे जेणेव उत्तरिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तं चेव सव्वं, पच्चत्थिमिल्ले दारे तेणेव उत्तरिल्ले दारे दाहिणिल्ला खंभपंती सेसं तं चेव सव्वं।

जेणेव सिद्धायतणस्स उत्तरिल्ले दारे तं चेव, जेणेव सिद्धायतणस्स पुरत्थिमिल्ले दारे तेणेव उवागच्छइ तं चेव, जेणेव पुरत्थिमिल्ले मुहमंडवे जेणेव पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स बहुमज्झदेसभाए तेणेव उवागच्छइ तं चेव, पुरत्थिमिल्लस्स मुहमंडवस्स दाहिणिल्ले दारे पच्चत्थिमिल्ला खंभपंती उत्तरिल्ले दारे तं चेव पुरत्थिमिल्ले दारे तं चेव।

जेणेव पुरत्थिमिल्ले पेच्छाघरमंडवे, एवं थूभे, जिणपडिमाओ चेइयरुक्खा, महिंदज्झया णंदा-पुक्खरिणी तं चेव धूवं दलयइ।

जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छति, सभं सुहम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसइ, जेणेव माणवए चेइयखंभे जेणेव वइरामए गोलवट्टसमुग्गे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ, वइरामए गोलवट्टसमुग्गए लोमहत्थेणं पमज्जइ, वइरामए गोलवट्टसमुग्गए विहाडेइ, जिण-सगहाओ लोमहत्थेणं पमज्जइ, सुरभिणा गंधोदएणं पक्खालेइ, पक्खालित्ता अग्गेहिं वरेहिं गंधेहिं य मल्लेहि य अच्चेइ, धूणं दलयइ, जिणसकहाओ वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु पडिनिक्खवइ माणवगं चेइयखंभं लोमहत्थएणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं चच्चए दलयइ, पुप्फारुहणं जाव धूवं दलयइ, जेणेव सीहासणे तं चेव, जेणेव देवसयणिज्जे तं चेव, जेणेव खुड्डागमहिंदज्झए तं चेव।

जेणेव पहरणकोसे चोप्पालए तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं परामुसइ [पहरणकोसं चोप्पालं लोमहत्थएणं पमज्जइ, दिव्वाए दगधाराए सरसेणं गोसीसचंदणेणं दलेइ, पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० धूवं दलयइ।

जेणेव सभाए सुहम्माए बहुमज्झदेसभाए, जेणेव मणिपेढिया जेणेव देवसयणिज्जे तेणेव उवागच्छइ, लोमहत्थगं पारमुसइ, देवसयणिज्जं च मणिपेढियं च लोमहत्थएणं पमज्जइ जाव धूवं दलयइ।

जेणेव उववायसभाए दाहिणिल्ले दारे तहेव अभिसेयसभा सरिसं जाव पुरत्थिमिल्ला णंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ, तोरणे य तिसोवाणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य तहेव।

जेणेव अभिसेयसभा, तेणेव उवागच्छइ तहेव सीहासणं च मणिपेढियं च, सेसं तहेव आययण-सरिसं जाव पुरत्थिमिल्ला णंदा पुक्खरिणी। जेणेव अलंकारियसभा तेणेव उवागच्छइ जहा अभिसेय-सभा तहेव सव्वं।

जेणेव ववसायसभा तेणेव उवागच्छइ तहेव लोमहत्थयं परामुसति, पोत्थयरयणं लोमहत्थएणं पमज्जइ, पमज्जित्ता दिव्वाए दगधाराए अग्गेहिं वरेहि य गंधेहिं मल्लेहि य अच्चेति मणिपेढियं सीहासणं य सेसं तं चेव पुरत्थिमिल्ला नंदा पुक्खरिणी जेणेव हरए तेणेव उवागच्छइ तोरणे य तिसोवाणे य सालभंजियाओ य वालरूवए य तहेव। जेणेव बलिपीढं तेणेव उवागच्छइ बलिविसज्जणं करेइ, आभिओगिए देवे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी—

२००—सिद्ध भगवन्तों को वन्दन नमस्कार करने के पश्चात् सूर्याभदेव देवच्छन्दक और सिद्धायतन के मध्य देशभाग में आया। वहाँ आकर मोरपीछी उठाई और मोरपीछी से सिद्धायतन के अति मध्यदेशभाग को प्रमार्जित किया (पूंजा, झाड़ा-बुहारा) फिर दिव्य जल-धारा से सींचा, सरस गोशीर्ष चन्दन का लेप करके हाथे लगाये, मांडने-मांडे यावत् हाथ में लेकर पुष्पपुंज बिखेरे। पुष्प बिखेर कर धूप प्रक्षेप किया—और फिर सिद्धायतन के दक्षिण द्वार पर आकर मोरपीछी ली और उस मोरपीछी से द्वारशाखाओं पुतलियों एवं व्यालरूपों को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा सींची, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया, सन्मुख धूप जलाई, पुष्प चढ़ाये, मालाये चढ़ाई, यावत् आभूषण चढ़ाये। यह सब करके फिर ऊपर से नीचे तक लटकती हुई गोल-गोल लम्बी मालाओं से विभूषित किया।

धूपप्रक्षेप करने के बाद जहाँ दक्षिणद्वारवर्ती मुखमण्डप था और उसमें भी जहाँ उस दक्षिण दिशा के मुखमण्डप का अतिमध्य देशभाग था, वहाँ आया और मोरपीछी ली, मोरपीछी को लेकर उस अतिमध्य देशभाग को प्रमार्जित किया—बुहारा, दिव्य जलधारा सींची, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया—हाथे लगाये, मांडने मांडे तथा ग्रहीत पुष्प पुंजों को बिखेर कर उपचरित किया यावत् धूपक्षेप किया।

इसके बाद उस दक्षिणदिग्वर्ती मुखमण्डप के पश्चिमी द्वार पर आया, वहाँ आकर मोरपीछी ली। उस मोरपीछी से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्याल (सर्प) रूपों को पूंजा, दिव्य जलधारा से सींचा, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया। धूपक्षेप किया, पुष्प चढ़ाये यावत् आभूषण चढ़ाये। लम्बी-लम्बी गोल मालायें लटकाईं। कचग्रहवत् विमुक्त पुष्पपुंजों से उपचरित किया, धूप जलाई।

तत्पश्चात् उसी दक्षिणी मुखमण्डप की उत्तरदिशा में स्थित स्तम्भ-पंक्ति के निकट आया। वहाँ आकर लोमहस्तक—मोरपंखों से बनी प्रमार्जनी को उठाया, उससे स्तम्भों को, पुतलियो को और व्यालरूपो को प्रमार्जित किया तथा पश्चिमी द्वार के समान दिव्य जलधारा से सीचने आदि रूप सब कार्य धूप जलाने तक किये।

इसके बाद दक्षिणदिशावर्ती मुखमण्डप के पूर्वी द्वार पर आया, आकर लोमहस्तक हाथ मे लिया और उससे द्वारशाखाओं, पुतलियों सर्परूपों को साफ किया, दिव्य जलधारा सीची आदि सब कार्य धूप जलाने तक के किये।

तत्पश्चात् उस दक्षिण दिशावर्ती मुखमण्डप के दक्षिण द्वार पर आया और द्वारचेटियों आदि को साफ किया, जलधारा सीची आदि धूप जलाने तक करने योग्य पूर्वोक्त सब कार्य किये।

तदनन्तर जहाँ दाक्षिणात्य प्रेक्षागृहमण्डप था, एवं उस दक्षिणदिशावर्ती प्रेक्षागृहमण्डप का अतिमध्य देशभाग था और उसके मध्य में बना हुआ वज्रमय अक्षपाट तथा उस पर बनी मणिपीठिका एवं मणिपीठिका पर स्थापित सिहासन था, वहाँ आया और मोरपीछी लेकर उससे अक्षपाट, मणिपीठिका और सिंहासन को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिंचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया, धूपप्रक्षेप किया, पुष्प चढ़ाये तथा ऊपर से नीचे तक लटकती हुई लम्बी-लम्बी गोल-गोल मालाओं से विभूषित किया यावत् धूपक्षेप करने के बाद अनुक्रम से जहाँ उसी दक्षिणी प्रेक्षागृह-मण्डप के पश्चिमी द्वार एवं उत्तरी द्वार थे वहाँ आया और वहाँ आकर पूर्ववत् प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूपदान तक करने योग्य कार्य सम्पन्न किये। उसके बाद पूर्वी द्वार पर आया। यहाँ आकर भी प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूपदान तक के सब कार्य पूर्ववत् किये। तत्पश्चात् दक्षिणी द्वार पर आया, वहाँ आकर भी उसने प्रमार्जनादि कार्य से लेकर धूप दान तक के सब कार्य किये।

इसके पश्चात् दक्षिणदिशावर्ती चैत्यस्तूप के सन्मुख आया। वहाँ आकर स्तूप और मणिपीठिका को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिंचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया, धूप जलाई, पुष्प चढ़ाये, लम्बी-लम्बी मालायें लटकाई आदि सब कार्य सम्पन्न किये। अनन्तर जहाँ पश्चिम दिशा की मणिपीठिका थी, जहाँ पश्चिम दिशा में विराजमान जिनप्रतिमा थी वहाँ आकर प्रमार्जनादि कृत्य से लेकर धूप दान तक सब कार्य किये। इसके बाद उत्तरदिशावर्ती मणिपीठिका और जिनप्रतिमा के पास आया। आकर प्रमार्जन करने से लेकर धूपक्षेपपर्यन्त सब कार्य किये।

इसके पश्चात् जहाँ पूर्वदिशावर्ती मणिपीठिका थी तथा पूर्वदिशा में स्थापित जिनप्रतिमा थी, वहाँ आया। वहाँ आकर पूर्ववत् प्रमार्जन करना आदि धूप जलाने पर्यन्त सब कार्य किये। इसके बाद जहाँ दक्षिण दिशा की मणिपीठिका और दक्षिणदिशावर्ती जिनप्रतिमा थी वहां आया और पूर्ववत् धूप जलाने तक सब कार्य किये।

इसके पश्चात् दक्षिणदिशावर्ती चैत्यवृक्ष के पास आया। वहाँ आकर भी पूर्ववत् प्रमार्जनादि कार्य किये। इसके बाद जहाँ माहेन्द्रध्वज था, दक्षिण दिशा की नंदा पुष्करिणी थी, वहाँ आया। आकर मोरपीछी को हाथ में लिया और फिर तोरणों, त्रिसोपानों काष्ठपुतलियों और सर्परूपको को मोरपीछी से प्रमार्जित किया—पोंछा, दिव्य जलधारा सीची, सरस गोशीर्ष चंदन से चर्चित किया, पुष्प चढ़ाये, लम्बी-लम्बी पुष्पमालाओं से विभूषित किया और धूपक्षेप किया।

तदनन्तर सिद्धायतन की प्रदक्षिणा करके उत्तरदिशा की नंदा पुष्करिणी पर आया और वहाँ पर भी पूर्ववत् प्रमार्जनादि धूपक्षेप पर्यन्त कार्य किये। इसके बाद उत्तरदिशावर्ती चैत्यवृक्ष और चैत्यस्तम्भ के पास आया एवं पूर्ववत् प्रमार्जन से लेकर धूपक्षेप करने तक के कार्य किये। इसके पश्चात् जहाँ पश्चिमदिशावर्ती मणिपीठिका थी, पश्चिम दिशा में स्थापित प्रतिमा थी, वहाँ आकर भी पूर्ववत् धूपक्षेपपर्यन्त करने योग्य कार्य किये।

तत्पश्चात् वह उत्तर दिशा के प्रेक्षागृह मण्डप में आया और धूपक्षेपपर्यन्त दक्षिण दिशा के प्रेक्षागृहमण्डप जैसी समस्त वक्तव्यता यहाँ जानना चाहिये तथा वही सब पूर्वदिशावर्ती द्वार के लिये और दक्षिण दिशा की स्तम्भपंक्ति के लिये भी पूर्ववत् वही सब कार्य किये अर्थात् स्तम्भों, काष्ठ-पुतलियों और व्यालरूपों आदि के प्रमार्जन से लेकर धूपक्षेप तक सब कार्य किये।

इसके बाद वह उत्तर दिशा के मुखमण्डप और उस उत्तरदिशा के मुखमण्डप के बहुमध्य देशभाग (स्थान) में आया। यहाँ आकर पूर्ववत् अक्षपाटक, मणिपीठिका एवं सिंहासन आदि की प्रमार्जना से धूपक्षेपपर्यन्त सब कार्य किये। इसके बाद वह पश्चिमी द्वार पर आया, वहाँ पर भी द्वार-शाखाओं आदि के प्रमार्जनादि से लेकर धूप दान तक के सब कार्य किये। तत्पश्चात् उत्तरी द्वार और उसकी दक्षिण दिशा में स्थित स्तम्भपंक्ति के पास आया। वहाँ भी पूर्ववत् स्तम्भ पुतलियों एवं व्याल रूपों की संमार्जना, आदि से लेकर धूपदान तक के सब कार्य किये।

तदनन्तर सिद्धायतन के उत्तरी द्वार पर आया। यहाँ भी पुतलियों आदि के प्रमार्जन आदि से लेकर धूपक्षेप तक के सब कार्य किये। इसके अनन्तर सिद्धायतन के पूर्वदिशा के द्वार पर आया और यहाँ पर भी पूर्ववत् कार्य किये। इसके बाद जहाँ पूर्वदिशा का मुखमण्डप था और उस मुखमण्डप का अति-मध्य देशभाग था, वहाँ आया और अक्षपाट, मणिपीठिका, सिंहासन की प्रमार्जना करके धूपक्षेप तक के सब कार्य किये। इससे बाद जहाँ उस पूर्व दिशा के मुखमण्डप का दक्षिणी द्वार था और उसकी पश्चिम दिशा में स्थित स्तम्भपंक्ति थी वहां आया। फिर उत्तरदिशा के द्वार पर आया और पहले के समान इन स्थानों पर स्तम्भों, पुतलियों, व्यालरूपों वगैरह को प्रमार्जित्त किया आदि धूपदान तक के सभी कार्य किये। इसी प्रकार से पूर्व दिशा के द्वार पर आकर भी पूर्ववत् सब कार्य किये।

इसके अनन्तर पूर्व दिशा के प्रेक्षागृह-मण्डप में आया। यहाँ आकर अक्षपाटक, मणिपीठिका सिंहासन का प्रमार्जन आदि किया और फिर क्रमशः उस प्रेक्षागृहमण्डप के पश्चिम, उत्तर, पूर्व, एवं दक्षिण दिशावर्ती प्रत्येक द्वार पर जाकर उन-उनकी द्वारशाखाओं, पुतलियों, व्यालरूपों की प्रमार्जना करने से लेकर धूपदान तक के सव कार्य पूर्ववत् किये। इसी प्रकार स्तूप की, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इन चार दिशाओं में स्थित मणिपीठिकाओं की, जिनप्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की, माहेन्द्र-ध्वजों की, नन्दा पुष्करिणी की, त्रिसोपानपंक्ति की, पुतलियों की, व्यालरूपों की प्रमार्जना करने से लेकर धूपक्षेप तक के सव कार्य किये।

इसके पश्चात् जहाँ सुधर्मा सभा थी, वहाँ आया और पूर्वदिग्वर्ती द्वार से उस सुधर्मा सभा में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ माणवक चैत्यस्तम्भ था और उस स्तम्भ में जहाँ वज्रमय गोल समुद्गक रखे थे वहा आया। वहाँ आकर मोरपीछी उठाई और उस मोरपीछी से वज्रमय गोल समुद्गकों को प्रमार्जित कर उन्हे खोला। उनमें रखी हुई जिन-अस्थियों को लोमहस्तक से पोंछा,

सुरभि गंधोदक से उनका प्रक्षालन करके फिर सर्वोत्तम श्रेष्ठ गन्ध और मालाओं से उनकी अर्चना की, धूपक्षेप किया और उसके बाद उन जिन-अस्थियों को पुनः उन्हीं वज्रमय गोल समुद्गकों को बन्द कर रख दिया। इसके बाद मोरपीछी से माणवक चैत्यस्तम्भ को प्रमार्जित किया, दिव्य जलधारा से सिंचित किया, सरस गोशीर्ष चन्दन से चर्चित किया, उस पर पुष्प चढ़ाये यावत् धूपक्षेप किया। इसके पश्चात् सिंहासन और देवशैया के पास आया। वहाँ पर भी प्रमार्जना से लेकर धूपक्षेप तक के सब कार्य किये। इसके बाद क्षुद्र माहेन्द्रध्वज के पास आया और वहां भी पहले की तरह प्रमार्जना से लेकर धूपदान तक के सब कार्य किये।

इसके अनन्तर चौपाल नामक अपने प्रहरणकोश (आयुधशाला, शस्त्रभण्डार) मे आया। आकर मोर पंखों की प्रमार्जनिका—बुहारी हाथ में ली एवं उस प्रमार्जनिका से आयुधशाला चौपाल को प्रमार्जित किया। उसका दिव्य जलधारा से प्रक्षालन किया। वहाँ सरस गोशीर्ष चन्दन के हाथे लगाये, पुष्प आदि चढ़ाये और ऊपर से नीचे तक लटकती लम्बी-लम्बी मालाओं से उसे सजाया यावत् धूपदान पर्यन्त सर्व कार्य सम्पन्न किये।

इसके बाद सुधर्मा सभा के अतिमध्यदेश भाग में बनी हुई मणिपीठिका एवं देवशैया के पास आया और मोरपीछी लेकर उस देवशैया और मणिपीठिका को प्रमार्जित किया यावत् धूपक्षेप किया।

इसके पश्चात् पूर्वदिशा के द्वार से होकर उपपात सभा में प्रविष्ट हुआ। यहाँ पर भी पूर्ववत् उसके अतिमध्य भाग की प्रमार्जना आदि कार्य करके उपपात सभा के दक्षिणी द्वार पर आया। वहाँ आकर अभिषेकसभा (सुधर्मासभा) के समान यावत् पूर्ववत् पूर्वदिशा की नन्दा पुष्करिणी की अर्चना की। इसके बाद ह्रद पर आया और पहले की तरह तोरणों, त्रिसोपानों, काष्ठ-पुतलियों और व्याल-रूपों की मोरपीछी से प्रमार्जना की, उन्हें दिव्य जलधारा से सिंचित किया आदि धूपक्षेपपर्यन्त सर्व कार्य सम्पन्न किये।

इसके अनन्तर अभिषेक सभा में आया और यहाँ पर भी पहले की तरह सिंहासन मणि-पीठिका को मोरपीछी से प्रमार्जित किया, जलधारा से सिंचित किया आदि धूप जलाने तक के सब कार्य किये। तत्पश्चात् दक्षिणद्वारादि के क्रम से पूर्व दिशावर्ती—नन्दापुष्करिणीपर्यन्त सिद्धायतन-वत् धूपप्रक्षेप तक के कार्य सम्पन्न किये।

इसके पश्चात् अलंकारसभा में आया और अभिषेकसभा की वक्तव्यता की तरह यहा धूप-दान तक के सब कार्य सम्पन्न किये।

इसके बाद व्यवसाय सभा में आया और मोरपीछी को उठाया। उस मोरपीछी से पुस्तक-रत्न को पोंछा, फिर उस पर दिव्य जल छिड़का और सर्वोत्तम श्रेष्ठ गन्ध और मालाओं से उसकी अर्चना की इसके बाद मणिपीठिका की, सिंहासन की अति मध्य देशभाग की प्रमार्जना की, आदि धूपदान तक के सर्व कार्य किये। तदनन्तर दक्षिणद्वारादि के क्रम से पूर्व नन्दा पुष्करिणी तक सिद्धायतन की तरह प्रमार्जना आदि कार्य किये। इसके बाद वह ह्रद पर आया। वहाँ आकर तोरणों, त्रिसोपानों, पुतलियों और व्यालरूपों की प्रमार्जना आदि धूपक्षेपपर्यन्त कार्य सम्पन्न किये।

इन सबकी अर्चना कर लेने के बाद वह बलिपीठ के पास आया और बलि-विसर्जन करके अपने आभियोगिक देवों को बुलाया और बुलाकर उनको यह आज्ञा दी—

आभियोगिक देवों द्वारा आज्ञापालन

२०१—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु तिएसु चउक्केसु चच्चरेसु चउमुहेसु महापहेसु पागारेसु अट्टालएसु चरियासु दारेसु गोपुरेसु तोरणेसु आरामेसु उज्जामेसु वणेसु वणराईसु काणणेसु वणसंडेसु अच्चणियं करेह, अच्चणियं करेत्ता एवमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणह ।

२०१—हे देवानुप्रियो ! तुम लोग जाओ और शीघ्रातिशीघ्र सूर्याभ विमान के शृंगाटकों (सिंघाड़े की आकृति जैसे त्रिकोण स्थानों) में, त्रिकों (तिराहों) में, चतुष्कों (चौकों) में, चत्वरों में, चतुर्मुखों (चारों ओर द्वार वाले स्थानों) में, राजमार्गों में, प्राकारों मे, अट्टालिकाओ में, चरिकाओं में, द्वारों में, गोपुरों में, तोरणों, आरामों, उद्यानों, वनों, वनराजियों, काननों, वनखण्डों में जा-जा कर अर्चनिका करो और अर्चनिका करके शीघ्र ही यह आज्ञा मुझे वापस लौटाओ, अर्थात् आज्ञानुसार कार्य करने की मुझे सूचना दो ।

२०२—तए णं ते आभिओगिआ देवा सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ता समाणा जाव पडिसुणित्ता सूरियाभे विमाणे सिंघाडएसु-तिएसु-चउक्कएसु-चच्चरेसु-चउम्मुहेसु-महापहेसु-पागारेसु-अट्टालएसु-चरियासु-दारेसु-गोपुरेसु-तोरणेसु-आरामेसु-उज्जाणेसु-वणेसु-वणरातीसु-काणणेसु-वणसंडेसु अच्चणियं करेन्ति, जेणेव सुरियाभे देवे जाव पच्चप्पिणंति ।

२०२—तदनन्तर उन आभियोगिक देवों ने सूर्याभदेव की इस आज्ञा को सुनकर यावत् स्वीकार करके सूर्याभ विमान के शृंगाटकों, त्रिकों, चतुष्कों, चत्वरों, चतुर्मुखों, राजमार्गो, प्राकारों, अट्टालिकाओं, चरिकाओं, द्वारों, गोपुरों, तोरणों, आरामों, उद्यानों, वनों, वनराजियों और वनखण्डों की अर्चनिका की और अर्चनिका करके सूर्याभदेव के पास आकर आज्ञा वापस लौटाई—आज्ञानुसार कार्य हो जाने की सूचना दी ।

२०३—तते णं से सूरियाभे देवे जेणेव णंदा पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, नंदापुक्खरिणिं पुरत्थिमिल्लेणं तिसोपाणपडिरूवएणं पच्चोरुहति, हत्थपाए पक्खालेइ, णंदाओ पुक्खरिणीओ पच्चुत्तरेइ, जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव पहारित्थ गमणाए ।

२०३—तदनन्तर वह सूर्याभदेव जहाँ नन्दा पुष्करिणी थी, वहाँ आया और पूर्व दिशावर्ती त्रिसोपानों से नन्दा पुष्करिणी में उतरा । हाथ पैरों को धोया और फिर नन्दा पुष्करिणी से बाहर निकला । निकल कर सुधर्मा सभा की ओर चलने के लिए उद्यत हुआ ।

२०४—तए णं सूरियाभे देवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं जाव[१] सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं, अन्नेहि य बहूहिं सूरियाभविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं देवीहिं य सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव[२] नाइयरवेणं जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ, सभं सुधम्मं पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं

१. देखें सूत्र संख्या ७
२. देखें सूत्र संख्या १९

अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ, सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे सण्णिसण्णे।

२०४—इसके बाद सूर्याभदेव चार हजार सामानिक देवों यावत् (परिवार सहित चार अग्र महिषियों, तीन परिषदाओं, सात अनीकों-सेनाओं, सात अनिकाधिपतियों सोलह हजार आत्मरक्षक देवों तथा और दूसरे भी बहुत से सूर्याभ विमानवासी देव-देवियों से परिवेष्टित होकर सर्व ऋद्धि यावत् तुमुल वाद्यध्वनि पूर्वक जहाँ सुधर्मा सभा थी वहाँ आया और पूर्व दिशा के द्वार से सुधर्मा सभा में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर सिंहासन के समीप आया और पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया।

सूर्याभदेव का सभा-वैभव

२०५—तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरत्थिमेणं दिसिभाएणं चत्तारि य सामाणियसाहस्सीओ चउसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि अग्गमहिस्सीओ चउसु भद्दासणेसु निसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणपुरत्थिमेणं अब्भितरियपरिसाए अट्ठ देवसाहस्सीओ अट्ठसु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए दस देवसाहस्सीओ दससु, भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स दाहिणपच्चत्थिमेणं बाहिरियाए परिसाए बारस देवसाहस्सीओ बारससु भद्दासणसाहस्सीसु निसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स पच्चत्थिमेणं सत्त अणियाहिवइणो सत्तहिं भद्दासणेहिं णिसीयंति।

तए णं तस्स सूरियाभस्स देवस्स चउद्दिसिं सोलस आयरक्खदेवसाहस्सीओ सोलसहिं भद्दासणसाहस्सीहिं णिसीयंति, तंजहा—पुरत्थिमिल्लेणं चत्तारि साहस्सीओ०।

ते णं आयरक्खा सन्नद्धबद्धवम्मियकवया, उप्पीलियसरासणपट्टिया, पिणद्धगेविज्जा आविद्धविमलवरचिंधपट्टा, गहियाउहपहरणा, तिणयाणि तिसंधियाइं वयरामयकोडीणि धणूइं पगिज्झ पडियाइयकंडकलावा णीलपाणिणो, पीतपाणिणो, रत्तपाणिणो, चावपाणिणो-चारुपाणिणो, चम्मपाणिणो, दंडपाणिणो, खग्गपाणिणो, पासपाणिणो, नीलपीयरत्तचावचारुचम्मदंडखग्गपासधरा, आयरक्ख रक्खोवगा, गुत्ता, गुत्तापालिया जुत्ता, जुत्तपालिया पत्तेयं-पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया चिट्ठंति।

२०५—तदन्तर उस सूर्याभदेव की पश्चिमोत्तर और उत्तरपूर्व दिशा में स्थापित चार हजार भद्रासनों पर चार हजार सामानिक देव वैठे।

उसके वाद सूर्याभदेव की दिशा में चार भद्रासनों पर चार अग्रमहिषियाँ वैठीं।

तत्पश्चात् सूर्याभ देव के दक्षिण-पूर्वदिक् कोण में अभ्यन्तर परिषद् के आठ हजार देव आठ हजार भद्रासनों पर बैठे।

सूर्याभदेव की दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् के दस हजार देव दस हजार भद्रासनो पर बैठे।

तदनन्तर सूर्याभ देव के दक्षिण-पश्चिम दिग् भाग में बाह्य परिषद् के बारह हजार देव बारह हजार भद्रासनों पर बैठे।

तत्पश्चात् सूर्याभदेव की पश्चिम दिशा में सात अनीकाधिपति सात भद्रासनों पर बैठे।

इसके बाद सूर्याभदेव की चारों दिशाओं में सोलह हजार आत्मरक्षक देव पूर्व दिशा मे चार हजार, दक्षिण दिशा में चार हजार, पश्चिम दिशा मे चार हजार और उत्तर दिशा में चार हजार, इस प्रकार सोलह हजार भद्रासनों पर बैठे।

वे सभी आत्मरक्षक देव अंगरक्षा के लिये गाढबन्धन से बद्ध कवच को शरीर पर धारण करके, बाण एवं प्रत्यंचा से सन्नद्ध धनुष को हाथों में लेकर, गले में ग्रैवेयक नामक आभूषण-विशेष को पहनकर, अपने-अपने विमल और श्रेष्ठ चिह्नपट्टको को धारण करके, आयुध और पहरणों से सुसज्जित हो, तीन स्थानो पर नमित और जुड़े हुये वज्रमय अग्र भाग वाले धनुष, दंड और बाणों को लेकर, नील-पीत-लाल प्रभा वाले बाण, धनुष चारु (शस्त्र-विशेष) चमड़े के गोफन, दड, तलवार, पाश-जाल को लेकर एकाग्रमन से रक्षा करने में तत्पर, स्वामी-आज्ञा का पालन करने मे सावधान, गुप्त-आदेश पालन करने में तत्पर, सेवकोचित गुणों से युक्त, अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये उद्यत, विनयपूर्वक अपनी आचार-मर्यादा के अनुसार किंकर—सेवक जैसे होकर स्थित थे।

सूर्याभदेव विषयक गौतम की जिज्ञासा

२०६ प्र०—सूरियाभस्स णं भंते! देवस्स केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?

गोयमा! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता।

प्र०—सूरियाभस्स णं भंते! देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगाणं देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?

उ—गोयमा! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता।

महिड्ढीए महज्जुतीए, महब्बले, महायसे, महासोक्खे, महाणुभागे सूरियाभे देवे।

अहो णं भंते! सूरियाभे देवे महिड्ढीए जाव महाणुभागे।

सूरियाभेणं भंते! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी, सा दिव्वा देवज्जुई, से दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे, किण्णा पत्ते, किण्णा अभिसमन्नागए? पुव्वभवे के आसी? किंनामए वा? को वा गुत्तेणं? कयरंसि वा गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंवंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आगरंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा सन्निवेसंसि वा? किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा किं वा किच्चा, किं वा समायरित्ता, कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मयं सुवयणं सुच्चा निसम्म जं णं सूरियाभेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी जाव देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए?

२०६—सूर्याभदेव के समस्त चरित को सुनने के पश्चात् भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर से निवेदन किया—

प्र.—भदन्त ! सूर्याभदेव की भवस्थिति कितने काल की है ?

उ.—गौतम ! सूर्याभदेव की भवस्थिति चार पल्योपम की है।

प्र.—भगवन् ! सूर्याभदेव की सामानिक परिषद् के देवों की स्थिति कितने काल की है।

उ.—गौतम ! उनकी चार पल्योपम की स्थिति है।

यह सूर्याभ देव महाऋद्धि, महाद्युति, महान् बल, महायश, महासौख्य और महाप्रभाव वाला है।

भगवान् के इस कथन को सुनकर गौतम प्रभु ने आश्चर्य चकित होकर कहा—अहो भदन्त ! वह सूर्याभदेव ऐसा महाऋद्धि, यावत् महाप्रभावशाली है। उन्होंने पुनः प्रश्न किया—

भगवन् ! सूर्याभदेव को इस प्रकार की वह दिव्य देवऋषि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देव-प्रभाव कैसे मिला है ? उसने कैसे प्राप्त किया ? किस तरह से अधिगत किया है, स्वामी बना है ? वह सूर्याभदेव पूर्वभव में कौन था ? उसका क्या नाम और गोत्र था ? वह किस ग्राम, नगर, निगम (व्यापारप्रधान नगर) राजधानी, खेट (ऊँचे प्राकार से वेष्टित नगर), कर्बट (छोटे प्राकार से घिरी वस्ती), मडंब (जिसके आसपास चारों ओर एक योजन तक कोई दूसरा गाँव न हो), पत्तन, द्रोणमुख (जल और स्थलमार्ग से जुड़ा नगर), आकर (खानों वाला स्थान, नगर), आश्रम ऋषि-महर्षि प्रधान स्थान), संबाह (संबाध—जहाँ यात्री पड़ाव डालते हों, ग्वाले आदि बसते हों), संनिवेश सामान्य जनों की बस्ती का निवासी था ? इसने ऐसा क्या दान में दिया, ऐसा अन्त-प्रान्तादि विरस आहार खाया, ऐसा क्या कार्य किया, कैसा आचरण किया और तथारूप श्रमण अथवा माहण से ऐसा कौनसा धार्मिक आर्य सुवचन सुना कि जिससे सूर्याभदेव ने यह दिव्य देवऋद्धि यावत् देवप्रभाव उपार्जित किया है, प्राप्त किया है और अधिगत किया है ?

केकय अर्ध जनपद और प्रदेशी राजा

२०७—'गोयमाइ' समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—

एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे केयइअद्धे नामं जणवए होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे सव्वोउयफलसमिद्धे रम्मे नंदणवणप्पगासे पासाईए जाव (दरिस-णिज्जे, अभिरूवे) पडिरूवे।

तत्थ णं केयइअद्धे जणवए सेयविया णामं नगरी होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धा जाव[1] पडिरूवा।

---

१. देखें सूत्र संख्या १

तीसे णं सेयवियाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे एत्थ णं मिगवणे णामं उज्जाणे होत्था—रम्मे नंदणवणप्पगासे, सव्वोउयफलसमिद्धे, सुभसुरभिसीयलाए छायाए सव्वओ चेव समणुबद्धे पासादीए जाव पडिरूवे।

तत्थ णं सेयवियाए णगरीय पएसी णामं राया होत्था, महयाहिमवंत जाव[1] विहरइ। अधम्मिए, अधम्मिट्ठे, अधम्मक्खाई, अधम्माणुए, अधम्मपलोई, अधम्मपजणणे, अधम्मसीलसमुयायारे, अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे 'हण'-'छिंद'-भिंद-पवत्तए, लोहियपाणी, पावे, रुद्दे, खुद्दे, साहस्सीए उक्कंचण-वंचण-माया-नियडि-कूड-कवड-सायिसंजोगबहुले, निस्सीले, निव्वए, निग्गुणे, निम्मेरे, निप्पच्चक्खाणपोसहोववासे, बहूणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खी-सिरिसवाण घायाए वहाए उच्छायणयाए अधम्मकेऊ, समुट्ठिए, गुरूणं णो अब्भुट्ठेति, णो विणयं पउंजइ, सयस्स वि य णं जणवयस्स णो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेइ।

२०७—हे गौतम! इस प्रकार गौतम स्वामी को सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—

हे गौतम! उस काल और उस समय में (इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे रूप काल एवं केशीस्वामी कुमार श्रमण के विचरने के समय में) इसी जंबूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र मे केकय-अर्ध (केकयि-अर्ध) नामक जनपद—देश था। जो भवनादिक वैभव से युक्त, स्तिमित-स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित और समृद्ध—धनधान्यादि वैभव से सम्पन्न—परिपूर्ण था। सर्व ऋतुओं के फल-फूलों से समृद्ध, रमणीय, नन्दनवन के समान मनोरम, प्रासादिक—मन को प्रसन्न करने वाला, यावत् (दर्शनीय, बारंबार देखने योग्य प्रतिरूप) अतीव मनोहर था।

उस केकय-अर्ध जनपद में सेयविया नाम की नगरी थी। यह नगरी भी ऋद्धि-सम्पन्न स्तमित—शत्रुभय से मुक्त एवं समृद्धिशाली यावत् प्रतिरूप थी।

उस सेयविया नगरी के बाहर ईशान कोण में मृगवन नामक उद्यान था। यह उद्यान रमणीय, नन्दनवन के समान सर्व ऋतुओं के फल-फूलों से समृद्ध, शुभ—सुखकारी, सुरभिगंध और शीतल छाया से समनुबद्ध (व्याप्त) प्रासादिक यावत् प्रतिरूप—असाधारण शोभा से सम्पन्न था।

उस सेयविया नगरी के राजा का नाम प्रदेशी था। प्रदेशी राजा महाहिमवान्, मलय पर्वत, मन्दर एवं महेन्द्र पर्वत जैसा महान् था। किन्तु वह अधार्मिक—(धर्म विरोधी), अधर्मिष्ठ (अधर्मप्रेमी), अधर्माख्यायी (अधर्म का कथन और प्रचार करने वाला), अधर्मानुग (अधर्म का अनुसरण करने वाला), अधर्मप्रलोकी (सर्वत्र अधर्म का अवलोकन करने वाला), अधर्मप्रजनक (विशेष रूप से अधार्मिक आचार-विचारों का जनक—प्रचार करने वाला—प्रजा को अधर्माचरण की ओर प्रवृत्त करने वाला) अधर्मशीलसमुदाचारी (अधर्ममय स्वभाव और आचारवाला) तथा अधर्म से ही आजीविका चलाने वाला था। वह सदैव 'मारो, छेदन करो, भेदन करो' इस प्रकार की आज्ञा का प्रवर्तक था। अर्थात् मारो आदि वचनों के द्वारा अपने आश्रितों को जीवों की हिंसा वगैरह के कार्यों में लगाये रखता था। उसके हाथ सदा रक्त से भरे रहते थे। साक्षात् पाप का अवतार था।

---

१. देखें सूत्र संख्या ४

प्रकृति से प्रचण्ड-क्रोधी, रौद्र—भयानक और क्षुद्र—अधम था। वह साहसिक (विना विचारे प्रवृत्ति करनेवाला) था। उत्कंचन—धूर्त, वदमाशों और ठगों को प्रोत्साहन देने वाला, उकसाने वाला था। लांच—रिश्वत लेनेवाला, वंचक—दूसरों को ठगने वाला, धोखा देने वाला, मायावी, कपटी—वकवृत्ति वाला, कूट-कपट करने में चतुर और अनेक प्रकार के झगड़ा-फिसाद रचकर दूसरों को दुःख देने वाला था। निश्शील—शील रहित था। निर्व्रत--हिसादि पापों से विरत न होने से व्रतरहित था, क्षमा आदि गुणों का अभाव होने से निर्गुण था, परस्त्रीवर्जन आदि रूप मर्यादा से रहित होने से निर्मर्याद था, कभी भी उसके मन में प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास आदि करने का विचार नहीं आता था। अनेक द्विपद-मनुष्यादि, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृप—सर्प आदि की हत्या करने, उन्हें मारने, प्राणरहित करने, विनाश करने से साक्षात् अधर्म की ध्वजा जैसा था, अथवा अधर्म रूपी केतुग्रह था। गुरुजनों—माता पिता आदि को देखकर भी उनका आदर करने के लिए आसन से खड़ा नहीं होता था, उनका विनय नहीं करता था और जनपद को प्रजाजनों से राजकर लेकर भी उनका सम्यक् प्रकार से—यथार्थ रूप में पालन और रक्षण नहीं करता था।

विवेचन—'केकय-अर्ध'—शास्त्रों में साढ़े पच्चीस (२५।।) आर्य देशों और उन देशों की एक—एक राजधानी के नामों का उल्लेख है। पच्चीस देश तो पूर्ण रूप से आर्य थे किन्तु केकय देश का आधा भाग आर्य था। बौद्ध ग्रंथों में भी केकय देश का उल्लेख है। उस देश का वर्तमान स्थान उत्तर में पेशावर (पाकिस्तान) के आसपास होना चाहिये, ऐसा इतिहासवेत्ताओं का मंतव्य है। परन्तु अभी भी उसके नाम और भौगोलिक स्थिति का निश्चित निर्णय नही हो सका है।

मूल पाठ में 'अद्धे' शब्द है, जिसकी टीकाकार ने 'केकया नाम अर्धम्' लिखकर मूल शब्द की व्याख्या की है। राजा दशरथ की एक रानी का नाम "कैकयी" था। जो इस केकय देश की थी, जिससे उसका नाम कैकयी पड़ा हो, यह संभव है।

'सेयविया'—केकय देश की राजधानी के रूप में इस नगरी का उल्लेख सूत्रों में किया गया है। आवश्यक सूत्र में बताया है कि श्रमण भगवान् महावीर छद्मस्थ-अवस्था में विहार करते हुए उत्तर वाचाल प्रदेश में गये और वहां से "सेयविया" गये। इस नगरी के श्रमणोपासक राजा प्रदेशी ने भगवान् की महिमा की और उसके पश्चात् भगवान् वहां से सुरभिपुर पधारे। परन्तु वर्तमान में यह नगरी कहाँ है, एतद् विषयक कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

दीघनिकाय (बौद्ध ग्रन्थ) के 'पायासि सुत्तंत' में इस नगरी का नाम 'सेतव्या' बताया है और कौशल देश में विहार करते हुए कुमार कश्यप इस नगरी में आये थे, यह सूचित करके इसे कोसल देश का नगर बताया है—'येन सेतव्या नाम कोसलानं नगरं तद् अवसरि' (—दीघ-निकाय भाग २)।

· जैन दृष्टि से कोशल देश अयोध्या और उसके आस-पास का प्रदेश माना गया है।

सेयविया का किसी किसी ने "श्वेतविका" यह भी संस्कृत रूपान्तर किया है।

'पएसी'—सूत्र में उल्लिखित इस शब्द का टीकाकार आचार्य ने 'प्रदेशी' संस्कृत भाषान्तर किया है और आवश्यक सूत्रों में "पदेशी" शब्द का प्रयोग किया है।

इस राजा सम्बन्धी जो वर्णन इस "रायपसेणइय" सूत्र में आगे किया जाने वाला है, उससे मिलता-जुलता वर्णन दीघनिकाय के, 'पायासि सुत्तंत' में भी किया गया है। इसमें मुख्य प्रश्नकार

राजा पयासी है और उसका वंश राजन्य एवं सम्बन्ध कोशल वंश के राजा 'पसेनदि' के साथ बताया है। 'रायपसेणइय' सूत्र में जिस प्रकार से राजा पयेसी को अत्यन्त पापिष्ठ के रूप में वर्णित किया है, वैसा तो दीर्घनिकाय में नही कहा है, किन्तु वहाँ इतना उल्लेख अवश्य है कि इस राजा के विचार पापमय थे और यह मानता था कि परलोक नही, औपपातिक सत्ता नही है और सुकृत-दुष्कृत का किसी प्रकार का फल-विपाक नही है (—दीघनिकाय भाग २)।

इस राजा के विषय में और कोई ऐतिहासिक जानकारी नही मिलती है।

रानी सूर्यकान्ता और युवराज सूर्यकान्त

२०८—तस्स णं पएसिस्स रन्नो सूरियकंता नामं देवी होत्था, सुकुमालपाणिपाया धारिणी वण्णओ[1]। पएसिणा रन्ना सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दे फरिसे रसे रूवे जाव (गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुभवमाणा) विहरइ।

तस्स णं पएसिस्स रण्णो जेट्ठे पुत्ते सूरियकंताए देवीए अत्तए सूरियकंते नामं कुमारे होत्था, सुकुमालपाणिपाए जाव पडिरूवे।

से णं सूरियकंते कुमारे जुवराया वि होत्था, पएसिस्स रन्नो रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च पुरं च अंतेउरं च सयमेव पच्चुवेक्खमाणे पच्चुवेक्खमाणे विहरइ।

२०८—उस प्रदेशी राजा की सूर्यकान्ता नाम की रानी थी, जो सुकुमाल हाथ पैर आदि अंगोपांग वाली थी, इत्यादि धारिणी रानी के समान इसका वर्णन करना चाहिए। वह प्रदेशी राजा के प्रति अनुरक्त--अतीव स्नेहशील थी, उससे कभी विरक्त नही होती थी और इष्ट प्रिय—शब्द, स्पर्श, रस, (यावत् गन्धमूलक) अनेक प्रकार के मनुष्य सम्बन्धी कामभोगो को भोगती हुई रहती थी।

उस प्रदेशी राजा का ज्येष्ठ पुत्र और सूर्यकान्ता रानी का आत्मज सूर्यकान्तनामक राजकुमार था। वह सुकोमल हाथ पैर वाला, अतीव मनोहर था।

वह सूर्यकान्त कुमार युवराज भी था। वह प्रदेशी राजा के राज्य (शासन), राष्ट्र (देश), बल (सेना), वाहन (रथ, हाथी, अश्व आदि) कोश, कोठार (अन्न-भण्डार) पुर और अंत:पुर की स्वयं देख भाल किया करता था।

चित्त सारथी

२०९—तस्स णं पएसिस्स रन्नो जेट्ठे भाउयवयंसए चित्ते णामं सारही होत्था, अड्ढे जाव[2] बहुजणस्स अपरिभूए, साम-दंड-भेय-उवप्पयाण-अत्थसत्थ-ईहा-मइविसारए, उप्पत्तियाए-वेणतियाए-कम्मयाए-पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेए, पएसिस्स रण्णो वहुसु कज्जेसु य कारणेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, मेढी, पमाणं, आहारे, आलंवणं, चक्खू, मेढिभूए, पमाणभूए, आहारभूए, चक्खुभूए, सव्वट्ठाणसव्वभूमियासु लद्धपच्चए विदिण्णविचारे रज्जधुराचिंतए आवि होत्था।

---

१. धारिणी रानी के लिये देखिये सूत्र संख्या ५

२. देखें सूत्र संख्या ४

उस प्रदेशी राजा का उम्र में बड़ा (ज्येष्ठ) भाई एवं मित्र सरीखा चित्त नामक सारथी था। वह समृद्धिशाली यावत् (दीप्त-तेजस्वी, प्रसिद्ध, विशाल भवनों, अनेक सैकड़ोंशय्या-आसन-यान-रथ आदि तथा विपुल धन, सोने-चाँदी का स्वामी, अर्थोपार्जन के उपायों का ज्ञाता था। उसके यहां इतना भोजन-पान बनता था कि खाने के बाद भी बचा रहता था। दास, दासी, गायें, भैंसे, भेड़े बहुत बड़ी संख्या में उसके यहां थी) और बहुत से लोगों के द्वारा भी पराभव को प्राप्त नही करने वाला था। साम–दण्ड-भेद और उपप्रदान नीति, अर्थशास्त्र एवं विचार-विमर्श प्रधान बुद्धि में विशारद—कुशल था। औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त था। प्रदेशी राजा के द्वारा अपने बहुत से कार्यों में, कार्य में सफलता मिलने के उपायों में, कौटुम्बिक कार्यो में, मन्त्रणा (सलाह) में, गुप्त कार्यो में, रहस्यमय गोपनीय प्रसंगों में, निश्चय—निर्णय करने में, राज्य सम्बन्धी व्यवहार-विधानों में पूछने योग्य था, बार-बार विशेष रूप से पूछने योग्य था। अर्थात् सभी छोटे-बड़े कार्यो में उससे सलाह ली जाती थी। वह सबके लिये मेढी (खलिहान के केन्द्र में गाड़ा हुआ स्तम्भ, जिसके चारों ओर घूमकर बैल धान्य कुचलते है) के समान था, प्रमाण था, पृथ्वी के समान आधार—आश्रय था, रस्सी के समान आलम्बन था, नेत्र के समान मार्गदर्शक था, मेढीभूत था, प्रमाणभूत था, आधार और अवलम्बनभूत था एवं चक्षुभूत था। सभी स्थानों—सन्धि-विग्रह आदि कार्यों में और सभी भूमिकाओं—मन्त्री, अमात्य आदि पदों में प्रतिष्ठा-प्राप्त था। सबको विचार देने वाला था अर्थात् सभी का विश्वासपात्र था तथा चक्र की धुरा के समान राज्य-संचालक था—सकल राज्य कार्यों का प्रेक्षक था।

विवेचन—उक्त वर्णन से यह प्रतीत होता है कि चित्त सारथी अतिनिपुण राजनीतिज्ञ, राज्य-व्यवस्था करने में प्रवीण एवं अत्यन्त बुद्धिशाली था। उसे औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त बताया है। इन चार प्रकार की बुद्धियों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) औत्पत्तिकी बुद्धि—अदृष्ट, अननुभूत और अश्रुत किसी विषय को एकदम समझ लेने, तथा विषम समस्या के समाधान का तत्क्षण उपाय खोज लेने वाली बुद्धि या अकस्मात्, सहसा, तत्काल उत्पन्न होने वाली सूझ।

(२) वैनयिकी—गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा, विनय करने से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(३) कार्मिकी—कार्य करते-करते अनुभव-अभ्यास से प्राप्त होने वाली दक्षता, निपुणता। इसको कर्मजा अथवा कर्मसमुत्था बुद्धि भी कहते है।

(४) पारिणामिकी—उम्र के परिपाक से अर्जित विभिन्न अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

उक्त चार बुद्धियाँ मतिज्ञान के श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित इन दो मूल विभागों में से दूसरे विभाग के अन्तर्गत हैं। जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कार के निमित्त से उत्पन्न किन्तु वर्तमान मे श्रुतनिरपेक्ष होता है, उसे श्रुतनिश्रित कहते है एवं जिसमें श्रुतज्ञान के सस्कार की किंचित्-मात्र भी अपेक्षा नहीं होती है वह अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान कहलाता है।

कुणाला जनपद, श्रावस्ती नगरी, जितशत्रु राजा

२१२—तेणं कालेणं तेणं समयेणं कुणाला नामं जणवए होत्था, रिद्धत्थिमियसमिद्धे। तत्थ णं

कुणालाए जणवए सावत्थी नामं नयरी होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धा जाव[1] पडिरूवा।

तीसे णं सावत्थीए णगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए कोट्ठए नामं चेइए होत्था, पोराणे जाव[2] पासादीए।

तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पएसिस्स रन्नो अंतेवासी जियसत्तू नामं राया होत्था, महया-हिमवंत जाव विहरइ।

२१०—उस काल और उस समय में कुणाला नामक जनपद-देश था। वह देश वैभवसपन्न, स्तिमित-स्वपरचक्र (शत्रुओं) के भय से मुक्त और धन-धान्य से समृद्ध था।

उस कुणाला जनपद में श्रावस्ती नाम की नगरी थी, जो ऋद्ध, स्तिमित, समृद्ध यावत् (देखने योग्य, मन को प्रसन्न करने वाली, अभिरूप-मनोहर और) प्रतिरूप-अतीव मनोहर थी।

उस श्रावस्ती नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा (ईशान दिक्कोण) में कोष्ठक नाम का चैत्य था। यह चैत्य अत्यन्त प्राचीन यावत् प्रतिरूप था।

उस श्रावस्ती नगरी मे प्रदेशी राजा का अन्तेवासी जैसा अर्थात् अधीनस्थ—आज्ञापालक जितशत्रु नामक राजा था, जो महाहिमवन्त आदि पर्वतों के समान प्रख्यात था।

विवेचन—दीघनिकाय के 'महासुदस्सन सुत्तत' मे श्रावस्ती नगरी को उस समय का एक महानगर बताया है। प्राचीन भूगोलशोधकों का अभिमत है कि वर्तमान में सेहट-मेहट के नाम से जो ग्राम जाना जाता है, वह प्राचीन श्रावस्ती नगरी है।

चित्त सारथी का श्रावस्ती की ओर प्रयाण

२११—तए णं से पएसी राया अन्नया कयाइ महत्थं महग्घं महरिहं विउलं रायारिहं पाहुडं सज्जावेइ, सज्जावित्ता चित्तं सारहिं सद्दावेति, सद्दावित्ता एवं वयासी—

गच्छ णं चित्ता! तुमं सावत्थिं नगरिं जियसत्तुस्स रण्णो इमं महत्थं जाव (महग्घं, महरिहं रायारिहं) पाहुडं उवणेहि, जाइं तत्थ रायकज्जाणि य रायकिच्चाणि य रायनीतिओ य रायववहारा य ताइं जियसत्तुणा सद्धिं सयमेव पच्चुवेक्खमाणे विहराहि त्ति कट्टु विसज्जिए।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठ जाव (तुट्ठ-चित्तमाणंदिए-पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवस-विसप्पमाण-हियए करयल-परिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं देवो तहत्ति' आणाए विणएणं वयणं) पडिसुणेत्ता तं महत्थं जाव पाहुडं गेण्हइ, पएसिस्स रण्णो जाव पडिणिक्खमइ सेयवियं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तं महत्थं जाव पाहुडं ठवेइ, कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सच्छत्तं जाव चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह जाव पच्चप्पिणह। तए णं ते कोडुंबियपुरिसा तहेव पडिसुणित्ता खिप्पामेव सच्छत्तं जाव जुद्धसज्जं चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेन्ति, तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति।

---

१. देखें सूत्र संख्या १

२. देखें सूत्र संख्या २

तए णं से चित्ते सारही कोडुंबियपुरिसाण अंतिए एयमट्ठं जाव हियए ण्हाए, कयबलिकम्मे, कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सन्नद्धबद्धवम्मियकवए, उप्पीलियसरासणपट्टिए, पिणद्धगेविज्जविमलवरचिंधपट्टे, गहियाउहपहरणे तं महत्थं जाव पाहुडं गेण्हइ, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ चाउग्घंटं आसरहं दुरूहेति।

बहूहिं पुरिसेहिं सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरेज्जमाणेणं महया भडचडगररहपहकरविंदपरिक्खित्ते साओ गिहाओ णिग्गच्छइ सेयवियं नगरिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, सुहेहिं वासेहिं पायरासेहिं नाइविकिट्ठेहिं अंतरा वासेहिं वसमाणे-वसमाणे केइयअद्धस्स जणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव कुणालाजणवए जेणेव सावत्थी नयरी तेणेव उवागच्छइ, सावत्थीए नयरीए मज्झंमज्झेणं अणुपविसइ। जेणेव जियसत्तुस्स रण्णो गिहे, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तुरए निगिण्हइ, रहं ठवेति, रहाओ पच्चोरुहइ।

तं महत्थं जाव पाहुडं गिण्हइ जेणेव अब्भितरिया उवट्ठाणसाला जेणेव जियसत्तू राया तेणेव उवागच्छइ, जियसत्तुं रायं करयलपरिग्गहियं जाव[1] कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, तं महत्थं जाव पाहुडं उवणेइ।

तए णं से जियसत्तू राया चित्तस्स सारहिस्स तं महत्थं जाव पाहुडं पडिच्छइ, चित्तं सारहिं सक्कारेइ सम्माणेइ पडिविसज्जेइ रायमग्गमोगाढं च से आवासं दलयइ।

२११—तत्पश्चात् किसी एक समय प्रदेशी राजा ने महार्थ (विशिष्ट प्रयोजनयुक्त) बहुमूल्य, महान् पुरुषों के योग्य, विपुल, राजाओं को देने योग्य प्राभृत (उपहार) सजाया—तैयार किया। सजाकर चित्त सारथी को बुलाया और बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—

हे चित्त! तुम श्रावस्ती नगरी जाओ और वहाँ जितशत्रु राजा को यह महार्थ यावत् (महान पुरुषों के अनुरूप और राजा के योग्य मूल्यवान्) भेंट दे आओ तथा जितशत्रु राजा के साथ रहकर स्वयं वहाँ की शासन-व्यवस्था, राजा की दैनिकचर्या, राजनीति और राजव्यवहार को देखो, सुनो और अनुभव करो—ऐसा कहकर विदा किया।

तब वह चित्त सारथी प्रदेशी राजा की इस आज्ञा को सुनकर हर्षित हुआ यावत् (संतुष्ट हुआ, चित्त में आनन्दित, मन में अनुरागी हुआ, परमसौमनस्य भाव को प्राप्त हुआ एवं हर्षातिरेक से विकसित-हृदय होकर उसने दोनों हाथ जोड़ शिर पर आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके—'राजन्! ऐसा ही होगा' कहकर विनयपूर्वक आज्ञा को स्वीकार किया।) आज्ञा स्वीकार करके उस महार्थक यावत् उपहार को लिया और प्रदेशी राजा के पास से निकल कर बाहर आया। बाहर आकर सेयविया नगरी के बीचों-बीच से होता हुआ जहाँ अपना घर था, वहाँ आया। आकर उस महार्थक उपहार को एक तरफ रख दिया और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—

देवानुप्रियो! शीघ्र ही छत्र सहित यावत् चार घंटों वाला अश्वरथ जोतकर तैयार कर लाओ यावत् इस आज्ञा को वापस लौटाओ।

१. देखें सूत्र संख्या १३

तत्पश्चात् उन कौटुम्बिक पुरुषों ने चित्त सारथी की आज्ञा सुनकर आज्ञानुसार शीघ्र ही छत्रसहित यावत् युद्ध के लिये सजाये गये चातुर्घंटिक अश्वरथ को जोत कर उपस्थित कर दिया और आज्ञा वापस लौटाई, अर्थात् रथ तैयार हो जाने की सूचना दी।

कौटुम्बिक पुरुषों का यह कथन सुनकर चित्त सारथी हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् विकसितहृदय होते हुए उसने स्नान किया, बलिकर्म (कुलदेवता की अर्चना की, अथवा पक्षियों को दाना डाला), कौतुक (तिलक आदि) मंगल-प्रायश्चित्त किये और फिर अच्छी तरह से शरीर पर कवच बांधा। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाई, गले में ग्रैवेयक और अपने श्रेष्ठ संकेतपट्टक को धारण किया एवं आयुध तथा प्रहरणों को ग्रहण कर, वह महार्थक यावत् उपहार लेकर वहाँ आया जहाँ चातुर्घंट अश्वरथ खड़ा था। आकर उस चातुर्घंट अश्वरथ पर आरूढ हुआ।

तत्पश्चात् सन्नद्ध यावत् आयुध एवं प्रहरणों से सुसज्जित बहुत से पुरुषों से परिवृत हो, कोरंट पुष्प की मालाओं से विभूषित छत्र को धारण कर, सुभटों और रथों के समूह के साथ अपने घर से रवाना हुआ और श्वेताम्बिका नगरी के बीचोंबीच से निकल कर सुखपूर्वक रात्रि-विश्राम, प्रातः कलेवा, अति दूर नहीं किन्तु पास-पास अन्तरावास (पड़ाव) करते और जगह-जगह ठहरते-ठहरते केकयअर्ध जनपद के बीचोंबीच से होता हुआ जहाँ कुणाला जनपद था, जहाँ श्रावस्ती नगरी थी, वहाँ आ पहुँचा। वहाँ आकर श्रावस्ती नगरी के मध्यभाग में प्रविष्ट हुआ। इसके बाद जहाँ जितशत्रु राजा का प्रासाद था और जहाँ राजा की बाह्य उपस्थानशाला थी, वहाँ जाकर घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया और फिर रथ से नीचे उतरा।

तदनन्तर उस महार्थक यावत् भेंट को लेकर आभ्यन्तर उपस्थानशाला (बैठक) में जहाँ जितशत्रु राजा बैठा था, वहाँ आया। वहाँ दोनों हाथ जोड़ यावत् जय-विजय शब्दों से जितशत्रु राजा का अभिनन्दन किया और फिर उस महार्थक यावत् उपहार को भेंट किया।

तब जितशत्रु राजा ने चित्त सारथी द्वारा भेंट किये गये इस महार्थक यावत् उपहार को स्वीकार किया एवं चित्त सारथी का सत्कार-सम्मान किया और विदा करके विश्राम करने के लिए राजमार्ग पर आवास स्थान दिया।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में बताया कि श्रावस्ती का राजा जितशत्रु श्वेताम्बिका के राजा प्रदेशी का अन्तेवासी था अर्थात् अधीनस्थ राजा था। तब प्रश्न होता है कि अधीनस्थ राजा होते हुए भी राजा प्रदेशी का जितशत्रु राजा को भेंट भेजने और चित्त सारथी को श्रावस्ती जाकर राजव्यवस्था देखने के संकेत का क्या कारण था? प्रतीत होता है, अनेक बार अधीनस्थ राजा अपने से मुख्य राजा की अपेक्षा बल, सेना, कोष और शक्ति से इतर बातों में बढ़ने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं और अवसर देख उसे अपदस्थ करके स्वयं उसके राज्य पर अधिकार करने जाने का प्रयत्न करते हैं। इस स्थिति का पता जब उस मुख्य राजा को लगता है, तब वह राजनीति का अवलंबन लेकर उसकी छानबीन करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में दूसरे-दूसरे उपायों की तरह भेंट भेजना भी एक उपाय है। यही बात प्रदेशी राजा द्वारा कहे गये इन शब्दों से ध्वनित होती है—

'तुम यह भेंट ले जाओ तथा जितशत्रु राजा के साथ रहकर स्वयं वहाँ की शासनव्यवस्था, राजा की दैनिक चर्या, राजनीति और व्यवहार को देखो सुनो और अनुभव करो।'

२१२—तए णं से चित्ते सारही विसज्जिते समाणे जियसत्तुस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ, जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, सावत्थिं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ, तुरए निगिण्हइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ, ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइ वत्थाइं पवरपरिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जिमियभुत्तत्तरागए वि य णं समाणे पुव्वावरण्ह-कालसमयंसि गंधव्वेहि य णाडगेहि य उवनच्चिज्जमाणे उवनच्चिज्जमाणे, उवगाइज्जमाणे, उवगाइज्ज-माणे, उवलालिज्जमाणे उवलालिज्जमाणे इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणे विहरइ।

२१२—तत्पश्चात् चित्त सारथी विदाई लेकर जितशत्रु राजा के पास से निकला और जहाँ बाह्य उपस्थानशाला थी, चार घंटों वाला अश्वरथ खड़ा किया था, वहाँ आया। आकर उस चातुर्घंट अश्वरथ पर सवार हुआ। फिर श्रावस्ती नगरी के बीचोंबीच से होता हुआ राजमार्ग पर अपने ठहरने के लिये निश्चित किये गये आवास-स्थान पर आया। वहाँ घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया और नीचे उतरा। इसके पश्चात् उसने स्नान किया, बलिकर्म किया और कौतुक, मंगल प्रायश्चित्त करके शुद्ध और उचित—योग्य मांगलिक वस्त्र पहने एवं अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। भोजन आदि करके तीसरे प्रहर गंधर्वों, नर्तकों और नाट्यकारों के संगीत, नृत्य और नाट्याभिनयों को सुनते-देखते हुए तथा इष्ट—अभिलषित शब्द, स्पर्श, रस, रूप एवं गंधमूलक पांच प्रकार के मनुष्य संबंधी कामभोगों को भोगते हुए विचरने लगा।

श्रावस्ती नगरी में केशी कुमारश्रमण का पदार्पण

२१३—तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे केसी नाम कुमारसमणे जातिसंपण्णे कुल-संपण्णे बलसंपण्णे रूवसंपण्णे विणयसंपण्णे नाणसंपण्णे दंसणसंपण्णे चरित्तसंपण्णे लज्जासंपण्णे लाघव-संपण्णे लज्जालाघवसंपण्णे ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जियकोहे जियमाणे जियमाए जियलोहे जियणिद्दे जिंतिदिए जियपरीसहे जीवियास-मरणभयविप्पमुक्के तवप्पहाणे गुणप्पहाणे करणप्पहाणे चरणप्पहाणे निग्गहप्पहाणे निच्छयप्पहाणे अज्जवप्पहाणे मद्दवप्पहाणे लाघवप्पहाणे खंतिप्पहाणे गुत्तिप्पहाणे मुत्तिप्पहाणे विज्जप्पहाणे मंतप्पहाणे बंभप्पहाणे वेयप्पहाणे नयप्पहाणे नियमप्पहाणे सच्च-प्पहाणे सोयप्पहाणे नाणप्पहाणे दंसणप्पहाणे चरित्तप्पहाणे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभ-चेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव सावत्थी नयरी, जेणेव कोट्ठए चेइए, तेणेव उवागच्छइ, सावत्थी नयरीए बहिया कोट्ठए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हइ, उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं विहरइ।

२१३—उस काल और उस समय में जातिसंपन्न—उत्तम मातृपक्ष वाले, कुल संपन्न—उत्तम पितृपक्ष वाले, आत्मबल से युक्त, अनुत्तर विमानवासी देवों से भी अधिक रूपवान् (शरीर-सौन्दर्य-शाली), विनयवान्, सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चरित्र के धारक, लज्जावान्—पाप कार्यों के प्रति भीरु, लाघववान्, (द्रव्य से अल्प उपधि वाले और भाव से ऋद्धि, रस और साता रूप तीन गौरवों से रहित), लज्जालाघवसंपन्न, ओजस्वी—मानसिक तेज से संपन्न, तेजस्वी—शारीरिक कांति से देदीप्यमान,

वचस्वी—सार्थक वचन बोलने वाले, यशस्वी, क्रोध को जीतने वाले, मान को जीतने वाले, माया को जीतने वाले, लोभ को जीतने वाले, जीवित रहने की आकांक्षा एवं मृत्यु के भय से विमुक्त, तप:प्रधान अर्थात् उत्कृष्ट तप करने वाले, गुणप्रधान अर्थात् उत्कृष्ट संयम गुण के धारक, करणप्रधान (पिंडविशुद्धि आदि करणसत्तरी में प्रधान), चरणप्रधान (महाव्रत आदि चरणसत्तरी में प्रधान), निग्रह-प्रधान (मन और इन्द्रियो की अनाचार मे प्रवृत्ति को रोकने में सदैव सावधान), तत्त्व का निश्चय करने में प्रधान, आर्जवप्रधान (माया का निग्रह करने वाले), मार्दवप्रधान (अभिमानरहित), लाघवप्रधान अर्थात् क्रिया करने के कौशल में दक्ष, क्षमाप्रधान अर्थात् क्रोध का निग्रह करने में प्रधान, गुप्तिप्रधान (मन, वचन, काय के संयमी), मुक्ति (निर्लोभता) में प्रधान, विद्याप्रधान (देवता-अधिष्ठित प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं में प्रधान), मंत्रप्रधान (हरिणेगमैषी आदि देवों से अधिष्ठित अथवा साधना से प्राप्त होने वाली विद्याओं में प्रधान), ब्रह्मचर्य अथवा समस्त कुशल अनुष्ठानों में प्रधान, वेदप्रधान अर्थात् लौकिक और लोकोत्तर आगमों में निष्णात, नयप्रधान अर्थात् समस्त वाचनिक अपेक्षाओं के मर्मज्ञ, नियमप्रधान—विचित्र अभिग्रहों को धारण करने में कुशल, सत्यप्रधान, शौचप्रधान (द्रव्य और भाव से ममत्व रहित), ज्ञानप्रधान, दर्शनप्रधान, चारित्रप्रधान, उदार, घोर परीषहों, इन्द्रियों और कषायों आदि आन्तरिक शत्रुओं का निग्रह करने में कठोर, घोरव्रती—अप्रमत्त भाव से महाव्रतों का पालन करने वाले, घोरतपस्वी—महातपस्वी, घोर ब्रह्मचर्यवासी—उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, शरीरसंस्कार के त्यागी, विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में ही समाये रखने वाले, चौदह पूर्वो के ज्ञाता, मतिज्ञानादि मन:पर्यायज्ञानपर्यन्त चार ज्ञानों के धनी पार्श्वापत्य (भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्यपरम्परा के) केशी नामक कुमारश्रमण (कुमार अवस्था में दीक्षित साधु) पाँच सौ अनगारों से परिवृत्त होकर अनुक्रम से चलते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए जहाँ श्रावस्ती नगरी थी, जहाँ कोष्ठक चैत्य था, वहाँ पधारे एवं श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक चैत्य में यथोचित अवग्रह को ग्रहण किया अर्थात् स्थान की याचना की और फिर अवग्रह ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

विवेचन—मूल पाठ में आगत 'करणप्पहाणे' एव चरणप्पहाणे' पद मे करण और चरण शब्द करणसत्तरी और चरणसत्तरी के बोधक है। इन दोनों का तात्पर्य है—करण के सत्तर भेद और चरण के सत्तर भेद। प्रयोजन होने पर साधु जिन नियमों का सेवन करते है उन्हें करण अथवा करणगुण कहते हैं और जिन नियमों का निरंतर आचरण किया जाता है, वे चरण अथवा चरणगुण कहलाते है।

करण के सत्तर भेद इस प्रकार है—

पिंडविसोही समिइ भावण पडिमा य इन्दियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणं तु ॥

—ओघनिर्युक्ति गा० ३

आहार, वस्त्र, पात्र और शय्या की शुद्ध गवेषणा, पाँच समिति, अनित्य आदि बारह भावनाएं, बारह प्रतिमाएँ पंच इन्द्रियों का निग्रह, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्ति एवं चार प्रकार के अभिग्रह (ये करण गुण के सत्तर भेद हैं)।

चरण के सत्तर भेद इस प्रकार है—

वय समणधम्म संजम वेयावच्चं च बम्भगुत्तीओ।
णाणाइतियं तव कोहनिग्गहाई चरणमेयं ।।

पांच महाव्रत, क्षमा आदि दस प्रकार का यतिधर्म, सत्रह प्रकार का संयम, आचार्य आदि का दस प्रकार का वैयावृत्य, नौ ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना, बारह प्रकार का तप, क्रोधादि चार कषायों का निग्रह (ये चरणगुण के सत्तर भेद है)।

दर्शनार्थ परिषदा का गमन और चित्त की जिज्ञासा

२१४—तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउमुह-महापहपहेसु महया जणसद्दे इ वा जाणबूहे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणउम्मी इ वा जणउक्कलिया इ वा जणसन्निवाए इ वा जाव (बहुजणो अण्णमण्णं एवं आइक्खइ एवं भासेइ एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जे केसी नाम कुमारसमणे जाइसंपन्ने जाव[1] गामाणुगामं दूइज्जमाणे इह मागए, इह संपत्ते, इह समोसढे, इहेव सावत्थीए नयरीए बहिया कोट्ठए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया! तहारूवाणं समणाणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंगपुण अभिगमण-वंदन-णमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए? एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग! पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए? तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं वंदामो णमंसामो सक्काणेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासामो (एयं णं इहभवे पेच्चभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ-त्ति कट्टु परिसा निग्गया, केसी नामं कुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलियउडे अभिमुहे विणएणं) परिसा पज्जुवासइ।

२१४—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्रमण का पदार्पण होने के पश्चात्) श्रावस्ती नगरी के शृंगाटकों (त्रिकोण वाले स्थानो), त्रिको (तिराहो). चतुष्कों (चौराहो), चत्वरों (चौको), चतुर्मुखो (चारों तरफ द्वार वाले स्थान-विशेषों), राजमार्गो और मार्गो (गलियों) में लोग आपस में चर्चा करने लगे, लोगों के झुंड इकट्ठे होने लगे, लोगों के बोलने की घोंघाट सुनाई पड़ने लगी, जनकोलाहल होने लगा, भीड़ के कारण लोग आपस में टकराने लगे, एक के बाद एक लोगों के टोले आते दिखाई देने लगे, इधर-उधर से आकर लोग एक स्थान पर इकट्ठे होने लगे, यावत् (बहुत से लोग परस्पर एक दूसरे से कहने लगे, बोलने लगे, प्ररूपणा-करने लगे—हे देवानुप्रियो! जाति आदि से संपन्न-श्रेष्ठ पार्श्वापत्य केशी कुमारश्रमण अनुक्रम से गमन करते हुए, ग्रामानुग्राम—एक गाव से दूसरे गांव मे—विचरते हुए आज यहां आये हैं, प्राप्त हुए हैं, पधार गए है और इसी श्रावस्ती नगरी के बाहर कोष्ठक चैत्य में यथारूप (साधुमर्यादा के अनुरूप) अवग्रह—आज्ञा लेकर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे हैं।

अतएव हे देवानुप्रियो! जब तथारूप श्रमण भगवन्तों के नाम और गोत्र के सुनने से ही महाफल प्राप्त होता है, तब उनके समीप जाने, उनकी वंदना करने, उनसे प्रश्न पूछने और उनकी

१. देखें सूत्र संख्या २१३

पर्युपासना—सेवा करने से प्राप्त होने वाले अनुपम फल के लिये तो कहना ही क्या है ! आर्य धर्म के एक सुवचन के सुनने से जब महाफल प्राप्त होता है, तब हे आयुष्मन् ! विपुल अर्थों को ग्रहण करने से प्राप्त होने वाले फल के विषय में तो कहना ही क्या है ? इसलिये हे देवानुप्रियो ! हम उनके पास चलें; उनको वंदन-नमस्कार करें, उनका सत्कार करे, भक्तिपूर्वक सम्मान करें एवं कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, चैत्यरूप उनकी विनयपूर्वक पर्युपासना करें। यह वंदन-नमस्कार करना हमें इस भव तथा परभव में हितकारी है, सुखप्रद है, क्षेम-कुशल एवं परमनिश्रेयस्—कल्याण का साधन रूप होगा तथा इसी प्रकार अनुगामी रूप से जन्म-जन्मान्तर में भी सुख देने का निमित्त बनेगा—ऐसा विचार कर परिषदा (जनसमुदाय) निकली और केशी कुमारश्रमण के पास पहुँच कर दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके न तो अधिक दूर और न अधिक निकट किन्तु उनके सम्मुख यथायोग्य स्थान पर बैठकर शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए सविनय अंजलि करके) पर्युपासना—सेवा करने लगी।

२१५—तए णं तस्स सारहिस्स तं महाजणसद्दं च जणकलकलं च सुणेत्ता य पासेत्ता य इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (चिंतिए, पत्थिए मणोगते संकप्पे) समुप्पज्जित्था, किं णं अज्ज सावत्थीए णयरीए इंदमहे इ वा, खंदमहे इ वा, रुद्दमहे इ वा, मउंदमहे इ वा, सिवमहे इ वा, वेसमणमहे इ वा, नागमहे इ वा, जक्खमहे इ वा, भूयमहे इ वा, थूममहे इ वा, चेइयमहे इ वा, रुक्खमहे इ वा, गिरिमहे इ वा, दरिमहे इ वा, अगडमहे इ वा, नईमहे इ वा, सरमहे इ वा, सागरमहे इ वा, जं णं इमे बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरव्वा जाव (खत्तिया माहणा भडा जोहा मल्लई मल्लइपुत्ता लेच्छइ, लेच्छइपुत्ता) इब्भा इब्भपुत्ता अण्णे य बहवे राया-ईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभितियो ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सिरसाकंठेमालकडा आविद्धमणिसुवण्णा कप्पियहार-अद्धहार-तिसरपालंबपलंबमाण-कडिसुत्तयकयसोहाहरणा चंदणोलित्तगायसरीरा पुरिसवग्गुरापरिखित्ता महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं एगदिसाए जहा उववाइए जाव अप्पेगतिया हयगया गयगया जाव (रहगया सिवियागया संदमाणिया अप्पेगतिया) पायचारविहरेणं महया महया वंदावंदएहिं निग्गच्छंति, एवं संपेहेइ, संपेहित्ता कंचुइज्जपुरिसं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

किं णं देवाणुप्पिया ! अज्ज सावत्थीए नगरीए इंदमहे इ वा जाव सागरमहे इ वा जेणं इमे बहवे उग्गा भोगा० णिग्गच्छंति ?

२१५—तब लोगों की बातचीत, जनकोलाहल सुनकर तथा जनसमूह को देखकर चित्त सारथी को इस प्रकार का यह आन्तरिक यावत् (चिन्तित, प्रार्थित—इष्ट और मनोगतसंकल्प-विचार) उत्पन्न हुआ कि क्या आज श्रावस्ती नगरी में इन्द्रमह (इन्द्र-निमित्तक उत्सव—इन्द्रमहोत्सव) है ? अथवा स्कन्द (कार्तिकेय) मह है ? या रुद्रमह, मुकुन्दमह, शिवमह, वैश्रमण (कुबेर) मह, नागमह (नाग सम्बन्धी उत्सव), यक्षमह, भूतमह, स्तूपमह, चैत्यमह, वृक्षमह, गिरिमह, दरि (गुफा) मह, कूपमह, नदीमह, सर (तालाब) मह, अथवा सागरमह है ? कि जिससे ये बहुत से उग्रवंशीय, उग्रवंशीयकुमार, भोगवंशीय, राजन्यवंशीय, इक्ष्वाकुवंशीय, ज्ञातवंशीय, कौरववंशीय यावत् (क्षत्रिय—सामान्य राजकुल के सम्बन्धी, माहण-ब्राह्मण, सुभट, योधा, मल्लक्षत्रिय (मल्लिक गणराज्य से संबंधित), मल्लपुत्र, लिच्छवी क्षत्रिय लिच्छवी पुत्र), इभ्य, इभ्यपुत्र तथा दूसरे भी अनेक राजा (मांडलिक राजा) ईश्वर

युवराज) तलवर (जागीरदार), माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्यश्रेष्ठी (महाधनी—हाथी प्रमाण धन से संपन्न सेठ), सेनापति, सार्थवाह आदि सभी स्नान कर, बलिकर्म कर, कौतुक-मंगल-प्रायश्चित कर, मस्तक और गले में मालाएँ धारण कर, मणिजटित स्वर्ण के आभूषणो से शरीर को विभूषित कर, गले में हार, (अठारह लड़ का हार), अर्धहार, तिलड़ी, झूमका, और कमर में लटकते हुए कटिसूत्र (करधनी) पहनकर, शरीर पर चंदन का लेप कर, आनंदातिरेक से सिहनाद और कलकल ध्वनि से श्रावस्ती नगरी को गुंजाते हुए जनसमूह के साथ एक ही दिशा में मुख करके जा रहे है आदि वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार यहां जानना चाहिये। यावत् उनमें से कितने ही घोड़ो पर सवार होकर, कई हाथी पर सवार होकर, कोई रथों में बैठ कर, या पालखी में बैठ कर स्यदमानिका मे बैठकर और कितने ही अपने अपने समुदाय बनाकर पैदल ही जा रहे है। ऐसा विचार किया और विचार करके कंचुकी पुरुष (द्वारपाल) को बुलाकर उससे पूछा—

देवानुप्रिय! आज क्या श्रावस्ती नगरी में इन्द्र-महोत्सव है यावत् सागरयात्रा है कि जिससे ये बहुत से उग्रवशीय भोगवंशीय आदि सभी लोग अपने-अपने घरों से निकलकर एक ही दिशा में जा रहे हैं?

२१६—तए णं से कंचुईपुरिसे केसिस्स कुमारसमणस्स आगमणगहियविणिच्छए चित्तं सारहिं करयलपरिग्गहियं जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी—णो खलु देवाणुप्पिया! अज्ज सावत्थीए णयरीए इंदमहे इ वा जाव सागरमहे इ वा जे णं इमे बहवे जाव[1] विंदाविंदएहिं निग्गच्छंति, एवं खलु भो देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जे केसी नामं कुमारसमणे जाइसंपन्ने जाव[2] दूइज्जमाणे इहमागए जाव विहरइ। तेणं अज्ज सावत्थीए नयरीए बहवे उग्गा जाव इब्भा इब्भपुत्ता अप्पेगतिया वंदणवत्तियाए जाव महया वंदावंदएहि णिग्गच्छंति।

२१६—तब उस कंचुकी पुरुष ने केशी कुमारश्रमण के पदार्पण होने के निश्चित समाचार जान कर दोनो हाथ जोड़ यावत् जय-विजय शब्दों से वधाकर चित्तसारथी से निवेदन किया—देवानुप्रिय! आज श्रावस्ती नगरी में इन्द्र-महोत्सव यावत् समुद्रयात्रा आदि नही है कि जिससे ये बहुत से उग्रवंशीय आदि लोग अपने-अपने समुदाय बनाकर निकल रहे है। परन्तु हे देवानुप्रिय! बात यह है कि आज जाति आदि से संपन्न पार्श्वापत्य केशी नामक कुमारश्रमण यावत् एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार करते हुए यहाँ पधारे है यावत् कोष्ठक चैत्य मे विराजमान हैं। इसी कारण आज श्रावस्ती नगरी के ये अनेक उग्रवंशीय यावत् इब्भ, इब्भपुत्र आदि वंदना आदि करने के विचार से बड़े-बडे समुदायों मे अपने घरों से निकल रहे है।

चित्त सारथी का दर्शनार्थ गमन

२१७—तए णं से चित्ते सारही कंचुइपुरिसस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ-जाव-हियए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह जाव सच्छत्तं उवट्ठवेंति।

---

१. देखें सूत्र संख्या २१५ २. देखें सूत्र संख्या २१३

२१७—तत्पश्चात् कंचुकी पुरुष से यह बात सुन-समझ कर चित्त सारथी ने हृदय-तुष्ट यावत् हर्षविभोर-हृदय होते हुए कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया। बुलाकर उनसे कहा—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही चार घंटों वाले अश्वरथ को जोतकर उपस्थित करो। यावत् वे कौटुम्बिक पुरुष छत्रसहित अश्वरथ को जोतकर लाये।

२१८—तए णं से चित्ते सारही ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ सकोरिंटमल्लदामेणं छत्तेण धरिज्जमाणेणं महया भडचडगरेण विंदपरिखित्ते सावत्थीनगरीय मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ। निग्गच्छित्ता जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव केसिकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छित्ता केसिकुमारसमणस्स अदूरसामंते तुरए णिगिण्हइ रहं ठवेइ य, ठवित्ता पच्चोरुहति। पच्चोरुहित्ता जेणेव केसिकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता केसिकुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणं-पयाहिणं करेइ, करित्ता वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता णच्चासण्णे णाति दूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे विणएणं पज्जुवासइ।

२१८—तदनन्तर चित्त सारथी ने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक मंगल प्रायश्चित्त किया, शुद्ध एवं सभोचित मांगलिक वस्त्रों को पहना, अल्प किन्तु बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया और उसके बाद वह चार घण्टों वाले अश्वरथ के पास आया। आकर उस चातुर्घंट अश्वरथ पर आरूढ हुआ एव कोरंट पुष्पों की मालाओं से सुशोभित छत्र धारण करके सुभटों के विशाल समुदाय के साथ श्रावस्ती नगरी के बीचों-बीच होकर निकला। निकलकर जहाँ कोष्ठक नामक चैत्य था और उसमे भी जहाँ केशी कुमारश्रमण विराज रहे थे, वहाँ आया। आकर केशी कुमारश्रमण से कुछ दूर घोड़ों को रोका और रथ खड़ा किया। रथ खड़ा कर उससे नीचे उतरा। उतर कर जहाँ केशी कुमारश्रमण थे, वहाँ आया। आकर दक्षिण दिशा से प्रारभ कर केशी कुमार-श्रमण की तीन वार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके न अत्यन्त समीप और न अति दूर किन्तु समुचित स्थान पर सम्मुख बैठकर धर्मोपदेश सुनने की इच्छा से नमस्कार करता हुआ विनयपूर्वक अंजलि करके पर्युपासना करने लगा।

केशी श्रमण की देशना

२१९—तए णं से केसिकुमारसमणे चित्तस्स सारहिस्स तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ। तं जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं। तए णं सा महतिमहालिया महच्चपरिसा केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा-निसम्म जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

२१९—तत्पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी और उस अतिविशाल परिषद् को चार याम धर्म का उपदेश दिया। उन चातुर्यामों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) समस्त प्राणातिपात (हिसा) से विरमण (विरत होना), (२) समस्त मृषावाद (असत्य से विरत होना, (३) समस्त अदत्तादान से विरत होना, (४) समस्त बहिर्धादान (मैथुन-परिग्रह से विरत होना।

इसके बाद वह अतिविशाल परिषद् (जनसमूह) केशी कुमारश्रमण से धर्मदेशना सुनकर एवं हृदय में धारण कर—मनन कर जिस दिशा से आई थी, उसी ओर लौट गई, अर्थात् वह आगत जनसमूह अपने-अपने घरों को वापस लौट गया।

विवेचन—कुमारश्रमण केशी पार्श्वनाथ के अनुयायी थे और भगवान् पार्श्व ने चार यामो की प्ररूपणा की है। अतः इन्होने चार यामों (महाव्रतों) का उपदेश दिया। लेकिन भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित पंच महाव्रतों से सख्या-भेद के सिवाय इन चार महाव्रतों के आशय में अन्य कोई अन्तर नहीं है। स्थानांगसूत्र टीका में 'बहिद्धा' का अर्थ मैथुन और 'आदान' का अर्थ परिग्रह वताया है। अथवा स्त्री-परिग्रह एव अन्य किसी भी प्रकार का परिग्रह बहिद्धादान में गर्भित है।

२२०—तए णं से चित्ते सारही केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठ-जाव-हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता केसिं कुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणंपयाहिणं करेइ, वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासी—

सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।

पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।

रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।

अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं।

एवमेयं निग्गंथं पावयणं।

तहमेयं भंते ! ०[1] अवितहमेयं भंते ! ० असंदिद्धमेयं०, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते ! जं णं तुब्भे वदह त्ति कट्टु वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता एवं वयासी—जहा णं देवाणुप्पियाणं अंतिए बहवे उग्गा जाव इब्भा इब्भपुत्ता चिच्चा हिरण्णं, चिच्चा सुवण्णं एवं धणं-धन्नं-बलं-वाहणं-कोसं कोट्ठागारं पुरं अंतेउरं, चिच्चा विउलं धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवाल संतसारसावएज्जं विच्छड्डित्ता विगोवइत्ता दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वयंति, णो खलु अहं ता संचाएमि चिच्चा हिरण्णं तं चेव जाव पव्वइत्तए। अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंध करेहि।

२२०—तदनन्तर वह चित्त सारथी केशी कुमारश्रमण से धर्म श्रवण कर एवं उसे हृदय में धारण कर हृष्ट-तुष्ट होता हुआ यावत् (चित्त में आनन्द का अनुभव करता हुआ, प्रीति-अनुराग युक्त होता हुआ, सौम्यभावों वाला होता हुआ और हर्षातिरेक से विकसित) हृदय होता हुआ अपने आसन से उठा। उठकर केशी कुमारश्रमण की तीन वार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा है। भगवन् ! इस पर प्रतीति (विश्वास) करता हूँ। भदन्त ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचता है अर्थात् तदनुरूप आचरण करने का आकांक्षी हूँ। हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन को अंगीकार करना चाहता हूँ ! भगवन् !

१. यहां ० 'निगन्थं पावयणं' का वोधक संकेत है।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ऐसा ही है। भगवन् ! यह तथ्य-यथार्थ है। भगवन् ! यह अवितथ-सत्य है। असंदिग्ध है—शंका-संदेह से रहित है। मुझे इच्छित है अर्थात् मैने इसकी इच्छा की है। मुझे इच्छित, प्रतीच्छित है अर्थात् मै इसकी पुनः पुनः इच्छा करता हूँ। भगवन् ! यह वैसा ही है जैसा आप निरूपण—कथन करते हैं। ऐसा कहकर वन्दन-नमस्कार किया और नमस्कार करके पुनः बोला-

देवानुप्रिय ! जिस तरह से आपके पास अनेक उग्रवंशीय, भोगवंशीय यावत् इभ्य एव इभ्य-पुत्र आदि हिरण्य—चांदी का त्याग कर, स्वर्ण को छोड़कर तथा धन, धान्य, बल, वाहन, कोश, कोठार, पुर-नगर, अन्तःपुर का त्याग कर और विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, शिलाप्रवाल (मूंगा) आदि सारभूत द्रव्यों का ममत्व छोड़कर, उन सबको दीन-दरिद्रों में वितरित कर, पुत्रादि में बँटवारा कर, मुंडित होकर, गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अनगारधर्म मे प्रव्रजित हुए हैं, उस प्रकार चाँदी का त्याग कर यावत् प्रव्रजित होने मे तो मै समर्थ नही हूँ। मैं आप देवानुप्रिय के पास पच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत मूलक वारह प्रकार का गृहीधर्म (श्रावकधर्म) अंगीकार करना चाहता हूँ।

चित्त सारथी की भावना को जानकर केशी कुमारश्रमण ने कहा—देवानुप्रिय ! जिससे तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो, किन्तु प्रतिवंध—विलम्व मत करो।

विवेचन—चित्त सारथी संसारभीरु था और प्रदेशी राजा के पाप कार्यों से खेदभिन्न रहता था। लेकिन अपनी मानसिक, पारिवारिक और प्रजाजनों की स्थिति को देखकर तत्काल उसे यह सम्भव प्रतीत नहीं हुआ कि अनगार-प्रव्रज्या अंगीकार कर लूं। इसीलिए उसने निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति भावपूर्ण शव्दों में अपनी आन्तरिक श्रद्धा का निवेदन किया।

केशी कुमारश्रमण के समक्ष जव चित्त सारथी ने अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त करते हुए अपने विचारों को प्रकट किया तो केशी कुमारश्रमण ने अपने मध्यस्थभाव के अनुसार कहा—अहासुहं देवाणुप्पिया ! और फिर यह जानकर कि यह भव्य आत्मा ससारसागर से पार होने की अभिलाषी है, इसे पथप्रदर्शन एवं तदनुकूल निमित्तों का वोध कराने की आवश्यकता है। विना पथप्रदर्शन के भटक सकती है तो हलका सा संकेत भी उन्होंने कर दिया कि 'मा पडिवंध करेहि।'

सारांश यह हुआ कि इच्छानुसार चित्त सारथी श्रावकधर्म ग्रहण करना चाहे तो कर ले। क्योकि जीवनशुद्धि के लिये कम-से-कम इतना त्याग तो प्रत्येक मनुष्य को करना ही चाहिए।

२२१—तए णं से चित्ते सारही केसिकुमारसमणस्स अंतिय पंचाणुव्वतियं जाव गिहिधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। तए णं से चित्ते सारही केसिकुमारसमणं वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव पहारेत्थ गमणाए। चाउग्घंटं आसरहं दुरुहइ, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

२२१—तव चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण के पास पांच अणुव्रत यावत् (सात शिक्षाव्रत रूप) श्रावक धर्म को अंगीकार किया।

तत्पश्चात् चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण को वन्दना की, नमस्कार किया, [illegible] करके जहां चार घंटों वाला अश्वरथ था, उस ओर चलने को तत्पर—उन्मुख हुआ। [illegible] घंटो वाले अश्वरथ पर आरूढ हुआ, फिर जिस ओर से आया था, वापस उसी ओर [illegible]

विवेचन—श्रावक धर्म पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतरूप है। ये दोनों मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते हैं। इनमें अणुव्रत श्रावक के मूलव्रत है और शिक्षाव्रत उनके पोषण, संवर्धन एवं रक्षण में सहायक वाड़रूप व्रत हैं। अणुव्रतों के बिना जैसे इन शिक्षाव्रतों का महत्त्व नही है, उसी प्रकार इनके बिना अणुव्रतों का यथारूप में अभ्यास, पालन नही किया जा सकता है। शिक्षाव्रतों के अभ्यास से अणुव्रतों में उत्तरोत्तर स्थिरता आती जाती है।

पाँच अणुव्रत इस प्रकार है—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, स्वदार-संतोषव्रत, परिग्रह-परिमाणव्रत। १. प्राणातिपात (शरीर, इन्द्रिय, आदि द्रव्यप्राणों और चैतन्यरूप भावप्राणो का घात करना) से विरत-निवृत्त होना। इस व्रत मे निरपराधी त्रसजीवों की संकल्पपूर्वक विराधना का त्याग करके निष्प्रयोजन स्थावर-एकेन्द्रिय जीवो का भी प्राणव्यपरोपण (हनन) नही किया जाता है। २. मृषावाद (असत्य) से निवृत्त होना। ३. अदत्तादान (चोरी) से निवृत होना। ४. स्वदारसंतोष—अपनी परिणीता पत्नी से अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ मैथुनसेवन न करना। ५. परिग्रह का परिमाण करना।

सात शिक्षाव्रतों का दो प्रकारों में विभाजन है—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार हैं। गुणव्रत अणुव्रतों के गुणात्मक विकास में सहायक एवं साधक के चारित्रगुणों की वृद्धि करने वाले हैं और शिक्षाव्रत अणुव्रतों के अभ्यास एवं साधना मे स्थिरता लाने में उपयोगी है।

२२२—तए णं से चित्ते सारही समणोवासए जाए अहिगयजीवाजीवे, उवलद्ध पुण्ण-पावे; आसव-संवर-निज्जर-किरियाहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसले असहिज्जे देवासुर-णाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाईहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जे, निग्गंथे पावयणे णिस्संकिए, णिक्कंखिए, णिव्वितिगिच्छे, लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे अहिगयट्ठे विणिच्छियट्ठे अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ते—'अयमाउसो! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे', ऊसियफलिहे अवंगुयदुवारे चियत्तंतेउरघरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे, समणेणिग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारेणं-वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसह-भेसज्जेणं पडिलाभेमाणे, अहापरिग्गहेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे, जाइं तत्थ रायकज्जाणि य जाव[1] रायववहाराणि य ताइं जियसत्तुणा रण्णा सद्धिं सयमेव पच्चुवेक्ख-माणे पच्चुवेक्खमाणे विहरइ।

२२२—तब वह चित्त सारथी श्रमणोपासक हो गया। उसने जीव-अजीव पदार्थों का स्वरूप समझ लिया था, पुण्य-पाप के भेद को जान लिया था, वह आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण (क्रिया का आधार, जिसके आधार से क्रिया की जाये), बंध, मोक्ष के स्वरूप को जानने में कुशल हो गया था, दूसरे की सहायता का अनिच्छुक (आत्मनिर्भर) था अर्थात् कुतीर्थिकों के कुतर्कों के खंडन में पर की सहायता की अपेक्षा वाला नही रहा। देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गंधर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनतिक्रमणीय था, अर्थात् विचलित किये जा सकने योग्य नही था। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निःशंक—शंकारहित था, आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकांक्षा रहित था। अथवा अन्य मतों की आकांक्षा उसके चित्त में नहीं थी, विचिकित्सा—फल

---

१. देखें सूत्र संख्या २११

के प्रति संशय रहित था, लब्धार्थ—(गुरुजनों से) यथार्थ तत्त्व का बोध प्राप्त कर लिया था, ग्रहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए था, विनिश्चितार्थ—निश्चित रूप से उस अर्थ को आत्मसात् कर लिया था एवं अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्मानुराग से भरा था अर्थात् उसकी रग-रग में निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति प्रेम और अनुराग व्याप्त था। वह दूसरों को सम्बोधित करते हुए कहता था कि—आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, यही परमार्थ है, इसके सिवाय अन्य—अन्यतीर्थिक के कथन कुगतिप्रापक होने से अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं। असद् विचारों से रहित हो जाने के कारण उसका हृदय स्फटिक की तरह निर्मल हो गया था। निर्ग्रन्थ श्रमणों का भिक्षा के निमित्त सरलता से प्रवेश हो सकने के विचार से उसके घर का द्वार अर्गलारहित था अर्थात् सुपात्र दान के लिये उसका द्वार सदा खुला रहता था। सभी के घरों, यहाँ तक कि अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश शंकारहित होने से प्रीतिजनक था। चतुर्दशी, अष्टमी, उद्दिष्ट—अमावस्या एवं पूर्णिमा को परिपूर्ण पौषधव्रत का समीचीन रूप से पालन करते हुए, श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक, एषणीय—स्वीकार करने योग्य—निर्दोष अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, आसन, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन (रजोहरण), औषध, भेषज से प्रतिलाभित करते हुए एवं यथाविधि ग्रहण किये हुए तपःकर्म से आत्मा को भावित—शुद्ध करते हुए जितशत्रु राजा के साथ रहकर स्वयं उस श्रावस्ती नगरी के राज्यकार्यों यावत् राज्यव्यवहारों का बारम्बार अवलोकन-अनुभव करते हुए विचरने लगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे मनुष्य का चरित्र-चित्रण किया है, जो जीवनशुद्धि के निमित्त धार्मिक आचार-विचारों के अनुरूप प्रवृत्ति करता है।

२२३—तए णं से जियसत्तुराया अन्नया कयाइ महत्थं जाव पाहुडं सज्जेइ, चित्तं सारहिं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—गच्छाहि णं तुमं चित्ता! सेयवियं नगरिं, पएसिस्स रन्नो इमं महत्थं जाव पाहुडं उवणेहि। मम पाउग्गं च णं जहाभणियं अवितहमसंदिद्धं वयणं विन्नवेहि त्ति कट्टु विसज्जिए।

२२३—तत्पश्चात् अर्थात् चित्त सारथी को श्रावस्ती नगरी में रहते-रहते पर्याप्त समय हो जाने के पश्चात् जितशत्रु राजा ने किसी समय महाप्रयोजनसाधक यावत् प्राभृत (उपहार) तैयार किया और चित्त सारथी को बुलाया। बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—हे चित्त! तुम वापस सेयविया नगरी जाओ और महाप्रयोजनसाधक यावत् इस उपहार को प्रदेशी राजा के सन्मुख भेंट करना तथा मेरी ओर से विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना कि आपने मेरे लिये जो संदेश भिजवाया है, उसे उसी प्रकार अवितथ—सत्य, प्रामाणिक एवं असंदिग्ध रूप से स्वीकार करता हूँ। ऐसा कहकर चित्त सारथी को सम्मानपूर्वक विदा किया।

चित्त की केशी कुमारश्रमण से सेयविया पधारने की प्रार्थना

२२४—तए णं से चित्ते सारही जियसत्तुणा रन्ना विसज्जिए समाणे तं महत्थं जाव (महग्घं महरिहं, रायरिहं पाहुडं), गिण्हइ जाव जियसत्तुस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ। सावत्थीनयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ। जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ, तं महत्थं जाव ठवेइ, ण्हाए जाव (कयबलिकम्मे, कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवर परिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकिय) सरीरे सकोरंट०[1] महया०[2] पायचारविहारेणं महया पुरिसवग्गुरापरिक्खित्ते...

१. यहां '०' से 'सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं' पाठ का ग्रहण किया है।
२. यहां '०' से 'महयाभडचडगररहपहकरविंदपरिक्खित्ते' पद का ग्रहण किया है।

मोगाढाओ आवासाओ निग्गच्छइ, सावत्थीनगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छति, जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छति, केसी कुमारसमणस्स अन्तिए धम्मं सोच्चा जाव (निसम्म हट्ठ-तुट्ठ-चित्तमाणंदिए-पीइमणे-परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेत्ता केसि कुमारसमणं तिक्खुत्तो आयाहिणंपयाहिणं करेइ, करित्ता वंदई णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता) एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! जियसत्तुणा रन्ना पएसिस्स रन्नो इमं महत्थं जाव उवणेहि त्ति कट्टु विसज्जिए, तं गच्छामि णं अहं भंते ! सेयवियं नगरिं, पासादीया णं भंते ! सेयविया णगरी, एवं दरिसणिज्जा णं भंते ! सेयविया णगरी, अभिरूवा णं भंते ! सेयविया नगरी, पडिरूवा णं भंते ! सेयविया नगरी, समोसरह णं भंते ! तुब्भे सेयवियं नगरिं।

२२४—तत्पश्चात् जितशत्रु राजा द्वारा विदा किये गये चित्त सारथी ने उस महाप्रयोजन-साधक यावत् उपहार को ग्रहण किया यावत् जितशत्रु राजा के पास से रवाना होकर श्रावस्ती नगरी के बीचों-बीच से निकला। निकल कर राजमार्ग पर स्थित अपने आवास में आया और उस महार्थक यावत् उपहार को एक ओर रखा। फिर स्नान किया, यावत् शरीर को विभूषित किया, कोरट पुष्प की मालाओं से युक्त छत्र को धारण कर विशाल जनसमुदाय के साथ पैदल ही राजमार्ग स्थित आवासगृह से निकला और श्रावस्ती नगरी के बीचों-बीच से चलता हुआ वहाँ आया जहाँ कोष्ठक चैत्य था, उसमें भी जहाँ केशी कुमारश्रमण विराजमान थे। वहाँ आकर केशी कुमारश्रमण से धर्म सुनकर यावत् (उसका मनन कर हर्षित, परितुष्ट, चित्त में आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ, सौम्य मानसिक भावों से युक्त एवं हर्षातिरेक से विकसितहृदय होकर अपने आसन से उठा, और उठकर केशी कुमारश्रमण की तीनवार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार करके) इस प्रकार निवेदन किया—

भगवन् ! 'प्रदेशी राजा के लिए यह महार्थक यावत् उपहार ले जाओ' कहकर जितशत्रु राजा ने आज मुझे विदा किया है। अतएव हे भदन्त ! मैं सेयविया नगरी लौट रहा हूँ। हे भदन्त ! सेयविया नगरी प्रासादीया—मन को आनन्द देने वाली है। भगवन् ! सेयविया नगरी दर्शनीय—देखने योग्य है। भदन्त ! सेयविया नगरी अभिरूपा—मनोहर है। भगवन् ! सेयविया नगरी प्रतिरूपा—अतीव मनोहर है। अतएव हे भदन्त ! आप सेयविया नगरी में पधारने की कृपा करें।

२२५—तए णं से केसी कुमारसमणे चित्तेणं सारहिणा एवं वुत्ते समाणे चित्तस्स सारहिस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं से चित्ते सारही केसी कुमारसमणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते ! जियसत्तुणा रन्ना पएसिस्स रण्णो इमं महत्थं जाव विसज्जिए, तं चेव जाव समासरह णं भंते ! तुब्भे सेयवियं नगरिं।

२२५—इस प्रकार से चित्त सारथी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भी केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी के कथन का आदर नहीं किया अर्थात् उसे स्वीकार नहीं किया। वे मौन रहे।

तब चित्त सारथी ने पुनः दूसरी और तीसरी बार भी इसी प्रकार कहा—हे भदन्त ! प्रदेशी राजा के लिए महाप्रयोजन साधक उपहार देकर जितशत्रु राजा ने मुझे विदा कर दिया है। अतएव मैं लौट रहा हूँ। सेयविया नगरी प्रासादिक है, आप वहाँ पधारने की अवश्य कृपा करें।

केशी कुमारश्रमण का उत्तर

२२६—तए णं केसी कुमारसमणे चित्तेण सारहिणा दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे चित्तं सारहिं एवं वयासी—चित्ता ! से जहानामए वणसंडे सिया—किण्हे किण्होभासे जाव पडिरूवे, से णूणं चित्ता ! से वणसंडे बहूणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खी-सिरीसिवाणं अभिगमणिज्जे ?

हंता अभिगमणिज्जे ।

तंसि च णं चित्ता ! वणसंडंसि बहवे भिलुंगा नाम पावसउणा परिवसंति, जे णं तेसिं बहूणं दुपय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खी-सिरीसिवाण ठियाणं चेव मंससोणियं आहारेति । से णूणं चित्ता ! से वणसंडे तेसिं णं बहूणं दुपय जाव सिरीसिवाणं अभिगमणिज्जे ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

कम्हा णं ?

भंते ! सोवसग्गे ।

एवामेव चित्ता ! तुब्भं पि सेवियाए णयरीए पएसी नामं राया परिवसइ अधम्मिए जाव (अधम्मिट्ठे-अधम्मक्खाई-अधम्माणुए-अधम्मपलोई-अधम्मपजणणे-अधम्मसीलसमुयायारे-अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे 'हण'-'छिंद'-'भिंद'-पवत्तए, लोहिय-पाणी, पावे, चंडे, रुद्दे, खुद्दे, साहस्सीए, उक्कंचण-वंचण-माया-नियडि-कूड-कवड-सायिसंपओग-बहुले, निस्सीले, निव्वए, निग्गुणे, निम्मेरे, निप्पच्चक्खा-णपोसहोववासे, बहूणं दुप्पय-चउप्पयमिय-पसु-पक्खी-सिरिसवाण घायाए बहाए उच्छायणयाए अधम्मकेऊ, समुट्ठिए गुरूण णो अब्भुट्ठेति, णो विणयं पउंजइ, सयस्स वि य णं जणवयस्स) णो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तइ, तं कहं णं अहं चित्ता ! सेयवियाए नगरीए समोसरिस्सामि ?

२२६—चित्त सारथी द्वारा दूसरी और तीसरी बार भी इसी प्रकार से विनति किये जाने पर केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! जैसे कोई एक कृष्णवर्ण एवं कृष्णप्रभा वाला अर्थात् हरा-भरा यावत् अतीव मनमोहक सघन छाया वाला वनखंड हो तो हे चित्त ! वह वनखंड अनेक द्विपद (मनुष्य आदि), चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृपों आदि के गमन योग्य—रहने लायक है, अथवा नहीं है ?

चित्त ने उत्तर दिया—हां, भदन्त ! वह उनके गमन योग्य—वास करने योग्य—होता है।

इसके पश्चात् पुन: केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से पूछा—और यदि उसी वनखण्ड में, हे चित्त ! उन बहुत-से द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सर्प आदि प्राणियों के रक्त-मांस को खाने वाले भीलुंगा नमक पापशकुन (पशुओं का शिकार करने वाले पापिष्ठ भील) रहते हों तो क्या वह वनखंड उन अनेक द्विपदों यावत् सरीसृपों के रहने योग्य हो सकता है ?

चित्त ने उत्तर दिया—यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् ऐसी स्थिति में वह वास करने योग्य नहीं हो सकता है।

पुन: केशी कुमारश्रमण ने पूछा—क्यों ? अर्थात् वह उनके लिये अभिगमनीय—प्रवेश करने योग्य, रहने योग्य क्यों नहीं हो सकता ?

चित्त सारथी—क्योंकि भदन्त ! वह वनखंड उपसर्ग (त्रास, भय, दुःख) सहित होने से रहने योग्य नहीं है।

यह सुनकर केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी को समझाने के लिये कहा—इसी प्रकार हे चित्त ! तुम्हारी सेयविया नगरी कितनी ही अच्छी हो, परन्तु वहाँ भी प्रदेशी नामक राजा रहता है। वह अधार्मिक यावत् (अधर्म को प्रिय मानने वाला, अधर्म का कथन और प्रचार करने वाला, अधर्म का अनुसरण करने वाला, सर्वत्र अधर्म-प्रवृत्तियो को भी देखने वाला, विशेषरूप में अधार्मिक आचार-विचारों का प्रचार करने वाला अथवा अधर्ममय प्रवृत्तियों का प्रचलन—उत्पन्न करने वाला, प्रजा को अधर्माचरण की ओर प्रेरित करने वाला, अधर्ममयस्वभाव और आचार वाला, अधर्म से ही आजीविका चलाने वाला है। अपने आश्रितों को सदैव जीवों को मारने, छेदने, भेदने की आज्ञा देने वाला है। उसके हाथ सदा खून से भरे रहते है। वह साक्षात् पाप का अवतार है। स्वभाव से प्रचंड क्रोधी, भयानक, क्षुद्र--अधम और बिना विचारे प्रवृत्ति करने वाला है। धूर्त-बदमाशों को प्रोत्साहन देने वाला, उकसाने वाला, लांच—रिश्वत लेने वाला, वंचक—धोखा देने वाला, मायावी, कपटी, वकवृत्तिवत् प्रवृत्ति करने वाला, कूटकपट करने में चतुर और किसी-न-किसी उपाय से दूसरों को दुःख देने वाला है। शील और व्रतों से रहित है, क्षमा आदि गुणों का अभाव होने से निर्गुण है, निर्मर्याद है, उसके मन में प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास आदि करने का विचार ही नहीं आता है। अनेक द्विपद, चतुष्पद—मृग, पशु, पक्षी, सर्प आदि सरीसृपों की हत्या करने, उन्हें मारने, प्राणरहित करने, उनका विनाश करने से साक्षात् अधर्मरूप केतु—जैसा है। गुरुजनों का कभी विनय नहीं करता है, उनको आदर देने के लिये आसन से भी खड़ा नही होता और) प्रजाजनों से राज-कर लेकर भी उनका अच्छी तरह से पालन-पोषण और रक्षण नही करता है। अतएव हे चित्त ! मैं उस सेयाविया नगरी में कैसे आ सकता हूँ ?

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में साधु की विहारचर्या का संकेत किया है कि साधु को उन ग्राम, नगर या जनपदों में नही जाना चाहिये, जहाँ राज्य-व्यवस्था उचित नही हो, राजभय से प्रजा का जीवन संकट में हो, शासक अन्यायी हो अथवा दुर्भिक्ष महामारी का प्रकोप हो, युद्ध की आशंका हो, युद्ध हो रहा हो। क्योंकि ऐसे स्थानों में यथाकल्प साध्वाचार का पालन किया जाना संभव नहीं है।

२२७—तए णं से चित्ते सारही केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—

किं णं भंते ! तुब्भं पएसिणा रन्ना कायव्वं ? अत्थि णं भंते ! सेयवियाए नगरीए अन्ने बहवे ईसर-तलवर जाव सत्थवाहपभिइओ जे णं देवाणुप्पियं वंदिस्संति नमंसिस्संति जाव पज्जुवासिस्संति विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभिस्संति, पाडिहारिएण पीढ-फलग-सेज्जा-संथारेणं उव-निमंतिस्संति।

तए णं से केसी कुमारसमणे चित्तं सारहिं एवं वयासी—अवि या इं चित्ता ! जाणिस्सामो।

२२७—इस उत्तर को सुनकर चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण से निवेदन किया—हे भदन्त ! आपको प्रदेशी राजा से क्या करना है—क्या लेना-देना है ? भगवन् ! सेयविया नगरी में दूसरे राजा, ईश्वर, तलवर यावत् सार्थवाह आदि बहुत से जन हैं, जो आप देवानुप्रिय को वंदन

करेंगे, नमस्कार करेंगे यावत् आपकी पर्युपासना करेंगे। विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार से प्रतिलाभित करेंगे, तथा प्रातिहारिक (वापस लौटाने योग्य) पीठ, फलक, शैय्या, संस्तारक ग्रहण करने के लिये उपनिमंत्रित करेंगे अर्थात् प्रार्थना करेंगे।

तब केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! ध्यान में रखेंगे अर्थात् तुम्हारा आमंत्रण ध्यान में रहेगा।

चित्त की उद्यानपालकों को आज्ञा

२२८—तए णं से चित्ते सारही केसि कुमारसमणं वंदइ नमंसइ, केसिस्स कुमारसमणस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, जेणेव सावत्थी णगरी जेणेव रायमग्गमोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह, जहा सेयवियाए नगरीए निग्गच्छइ तहेव जाव[1] वसमाणे कुणालाजणवयस्स मज्झंमज्झेणं जेणेव केइयअद्धे, जेणेव सेयविया नगरी, जेणेव मियवणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ। उज्जाणपालए सद्दावेइ एवं वयासी—

जया णं देवाणुप्पिया ! पासावच्चिज्जे केसी नाम कुमारसमणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागच्छिज्जा तया णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! केसि कुमारसमणं वंदिज्जाह, नमंसिज्जाह, वंदित्ता नमंसित्ता अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेज्जाह, पडिहारिएणं पीढ-फलग जाव उवनिमंतिज्जाह, एयमाणत्तियं खिप्पामेव पच्चप्पिणेज्जाह।

तए णं ते उज्जाणपालगा चित्तेणं सारहिणा एवं वुत्ता समाणा हट्ठ-तुट्ठ जाव हियया करयल-परिग्गहियं जाव एवं वयासी—तहत्ति, आणाए विणएणं वयणं पडिसुणंति।

२२८—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्रमण से आश्वासन मिलने के पश्चात्) चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण को वंदना की, नमस्कार किया और केशी कुमारश्रमण के पास से एवं कोष्ठक चैत्य से बाहर निकला। निकलकर जहाँ श्रावस्ती नगरी थी, जहाँ राजमार्ग पर स्थित अपना आवास था, वहाँ आया और कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर उनसे कहा—

हे देवानुप्रियो ! शीघ्र ही चार घंटों वाला अश्वरथ जोतकर लाओ। इसके बाद जिस प्रकार पहले सेयविया नगरी से प्रस्थान किया था उसी प्रकार श्रावस्ती नगरी से निकल कर यावत् बीच-बीच में विश्राम करता हुआ—पड़ाव डालता हुआ, कुणाला जनपद के मध्य भाग में से चलता हुआ जहाँ केकय-अर्ध देश था, उसमें जहाँ सेयविया नगरी थी और जहाँ उस नगरी का मृगवन नामक उद्यान था, वहाँ आ पहुँचा। वहाँ आकर उद्यानपालकों (चौकीदारों एवं मालियों) को बुलाकर इस प्रकार कहा—

हे देवानुप्रियो ! जब पार्श्वापत्य (भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में विचरने वाले) केशी नामक कुमारश्रमण श्रमणचर्यानुसार अनुक्रम से विचरते हुए, ग्रामानुग्राम विहार करते हुए यहाँ पधारें तब देवानुप्रियो ! तुम केशी कुमारश्रमण को वंदना करना, नमस्कार करना। वंदना-नमस्कार करके उन्हें यथाप्रतिरूप-साधुकल्पानुसार वसतिका की आज्ञा देना तथा प्रातिहारिक पीठ, फलक आदि

1. देखें सूत्र संख्या २११

के लिए उपनिमंत्रित करना —प्रार्थना करना और इसके बाद मेरी इस आज्ञा को शीघ्र ही मुझे वापस लौटाना अर्थात् जब केशी कुमारश्रमण का यहाँ पदार्पण हो जाये तो उनके आगमन की मुझे सूचना देना।

चित्त सारथी की इस आज्ञा को सुनकर वे उद्यानपालक हर्षित हुए, सन्तुष्ट हुए यावत् विकसितहृदय होते हुए दोनों हाथ जोड़ यावत् इस प्रकार बोले—

हे स्वामिन्! 'आपकी आज्ञा प्रमाण' और यह कहकर उसकी आज्ञा को विनयपूर्वक स्वीकार किया।

२२९—तए णं चित्ते सारही जेणेव सेयविया णगरी तेणेव उवागच्छइ, सेयविय नगरिं मज्झंमज्झेणं अणुपविसइ, जेणेव पएसिस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तुरए णिगिण्हइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरूहइ, तं महत्थं जाव गेण्हइ, जेणेव पएसी राया तेणेव उवागच्छइ, पएसिं रायं करयल जाव वद्धावेत्ता तं महत्थं जाव (महग्घं, महरिहं, रायरिहं पाहुडं) उवणेइ।

तए णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स तं महत्थं जाव पडिच्छइ चित्तं सारहिं सक्कारेइ सम्माणेइ पडिविसज्जेइ।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रण्णा विसज्जिए समाणे हट्ठ जाव हियए पएसिस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमइ, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, सेयवियं नगरिं मज्झंमज्झेणं जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, तुरए णिगिण्हइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ ण्हाए जाव उप्पिं पासायवरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धएहिं नाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणे उवगाइज्जमाणे उवलालिज्जमाणे इट्ठे सद्दफरिस जाव विहरइ।

२२९—तत्पश्चात् चित्त सारथी सेयविया नगरी में आ पहुँचा। सेयविया नगरी के मध्य भाग में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर जहाँ प्रदेशी राजा का भवन था, जहाँ भवन की बाह्य उपस्थानशाला थी, वहाँ आया। आकर घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया, रथ से नीचे उतरा और उस महार्थक यावत् भेंट को लेकर जहाँ प्रदेशी राजा था, वहाँ पहुँचा। पहुँच कर दोनों हाथ जोड़ यावत् जय-विजय शब्दों से वधाकर प्रदेशी राजा के सन्मुख उस महार्थक यावत् (महर्घ, महान पुरुषों के योग्य, राजाओं के अनुरूप भेंट) को उपस्थित किया।

इसके बाद प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से वह महार्थक यावत् भेंट स्वीकार की और सत्कार-सम्मान करके चित्त सारथी को विदा किया।

प्रदेशी राजा से विदा लेकर चित्त सारथी हृष्ट यावत् विकसितहृदय हो प्रदेशी राजा के पास से निकला और जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ था, वहाँ आया। उस चातुर्घंट अश्वरथ पर आरूढ़ हुआ तथा सेयविया नगरी के बीचों-बीच से गुजर कर अपने घर आया। घर आकर घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया और रथ से नीचे उतरा। इसके बाद स्नान करके यावत् श्रेष्ठ प्रासाद के ऊपर जोर-जोर से बजाये जा रहे मृदंगों की ध्वनिपूर्वक उत्तम तरुणियों द्वारा किये जा रहे बत्तीस प्रकार के नाटकों आदि के नृत्य, गान और क्रीड़ा (लीला) को सुनता, देखता और हर्षित होता हुआ मनोज्ञ

ब्द, स्पर्श यावत् (रस, रूप और गंध बहुल मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों को भोगता हुआ) चरने लगा।

शी कुमारश्रमण का सेयविया में पदार्पण

२३०—तए णं केसी कुमारसमणे अण्णया कयाइ पाडिहारियं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं च्चप्पिणइ सावत्थीओ नगरीओ कोट्ठगाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ पंचहिं अणगार सएहिं जाव हरमाणे जेणेव केइयअद्धे जणवए जेणेव सेयविया नगरी, जेणेव मियवणे उज्जाणे, तेणेव उवागच्छइ, हापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

२३०—तत्पश्चात् किसी समय प्रातिहारिक (वापिस लौटाने योग्य) पीठ, फलक, शय्या, स्तारक आदि उन-उनके स्वामियों को सौपकर केशी कुमारश्रमण श्रावस्ती नगरी और कोष्ठक चैत्य बाहर निकले। निकलकर पांच सौ अन्तेवासी अनगारों के साथ यावत् विहार करते हुए जहाँ केकय-र्ध जनपद था, उसमें जहाँ सेयविया नगरी थी और उस नगरी का मृगवन नामक उद्यान था, वहाँ ाये। यथाप्रतिरूप अवग्रह (वसतिका की आज्ञा—अनुमति) लेकर संयम एवं तप से आत्मा को ावित करते हुए विचरने लगे।

विवेचन—पीठ आदि को लौटाने के उपर्युक्त उल्लेख से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में ाधु पीठ, फलक, संस्तारक आदि स्वयं गृहस्थ के यहाँ से गवेषणापूर्वक मांग कर लाते थे और उपयोग र लेने के बाद स्वयं ही उनके स्वामियों को वापस लौटाते थे।

२३१—तए णं सेयवियाए नगरीए सिंघाडग महया जणसद्दे वा०[1] परिसा णिग्गच्छइ। तए णं ते उज्जाणपालगा इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हियया जेणेव केसी कुमारसमणे तेणेव उवागच्छन्ति, केसिं कुमारसमणं वंदंति नमंसंति, अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणंति, पाडिहारिएणं जाव संथारएणं उवनिमंतंति, णामं गोयं पुच्छंति, ओधारेंति, एगंतं अवक्कमंति, अन्नमन्नं एवं वयासी—जस्स णं देवाणुप्पिया! चित्ते सारही दंसणं कंखइ, दंसणं पत्थेइ, दंसणं पीहेइ, दंसणं अभिलसइ, जस्स णं णामगोयस्स वि सवणयाए हट्ठतुट्ठ जाव हियए भवति, से णं एस केसी कुमार-समणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसढे इहेव सेयवियाए णगरीए बहिया मियवणे उज्जाणे अहापडिरूवं जाव विहरइ। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! चित्तस्स सारहिस्स एयमट्ठं पियं निवेएमो, पियं से भवउ। अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेति।

जेणेव सेयविया णगरी जेणेव चित्तस्स सारहिस्स गिहे, जेणेव चित्तसारही तेणेव उवागच्छंति, चित्तं सारहिं करयल जाव वद्धावेंति एवं वयासी—जस्स णं देवाणुप्पिया! दंसणं कंखंति जाव अभिलसंति, जस्स णं णामगोयस्स वि सवणयाए हट्ठ जाव भवह, से णं अयं केसी कुमारसमणे पुव्वाणु-पुव्विं चरमाणे समोसढे जाव विहरइ।

२३१—तत्पश्चात् (केशी कुमारश्रमण का आगमन होने के पश्चात्) सेयविया नगरी के शृंगाटकों आदि स्थानों पर लोगों में वातचीत होने लगी यावत् परिषद् वंदना करने निकली। वे

---

१. देखें सूत्र संख्या २१४

उद्यानपालक भी इस संवाद को सुनकर और समझ कर हर्षित, सन्तुष्ट हुए यावत् विकसित-हृदय होते हुए जहाँ केशी कुमारश्रमण थे, वहाँ आये। आकर केशी कुमारश्रमण को वन्दना की, नमस्कार किया एवं यथाप्रतिरूप अवग्रह (स्थान सम्बन्धी अनुमति) प्रदान की। प्रातिहारिक यावत् संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिये उपनिमंत्रित किया अर्थात् उनसे लेने की प्रार्थना की।

इसके बाद उन्होंने नाम एवं गोत्र पूछकर (चित्त सारथी की आज्ञा का) स्मरण किया फिर एकान्त में वे परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार बातचीत करने लगे—'देवानुप्रियो! चित्त सारथी जिनके दर्शन की आकांक्षा करते हैं, जिनके दर्शन की प्रार्थना करते हैं, जिनके दर्शन की स्पृहा—चाहना करते हैं, जिनके दर्शन की अभिलाषा करते है, जिनका नाम, गोत्र सुनते ही हर्षित, सन्तुष्ट यावत् विकसितहृदय होते हैं, ये वही केशी कुमारश्रमण पूर्वानुपूर्वी से गमन करते हुए, एक गांव से दूसरे गांव में विहार करते हुए यहाँ आये हैं, यहाँ प्राप्त हुए हैं, यहाँ पधारे हैं तथा इसी सेयविया नगरी के बाहर मृगवन उद्यान में यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके यावत् विराजते है। अतएव हे देवानुप्रियो! हम चले और चित्त सारथी के प्रिय इस अर्थ को (केशी कुमारश्रमण के आगमन होने के समाचार को) उनसे निवेदन करें। हमारा यह निवेदन उन्हें बहुत ही प्रिय लगेगा।' एक दूसरे ने इस विचार को स्वीकार किया।

इसके बाद वे वहाँ आये जहाँ सेयविया नगरी, चित्त सारथी का घर तथा घर में जहाँ चित्त सारथी था। वहाँ आकर दोनों हाथ जोड़ यावत् चित्त सारथी को बधाया और इस प्रकार निवेदन किया—देवानुप्रिय! आपको जिनके दर्शन की इच्छा है यावत् आप अभिलाषा करते हैं और जिनके नाम एवं गोत्र को सुनकर आप हर्षित होते है, ऐसे केशी कुमारश्रमण पूर्वानुपूर्वी से विचरते हुए यहाँ (मृगवन उद्यान में) पधार गये हैं यावत् विचर रहे है।

चित्त का प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने का निवेदन

२३२—तए णं से चित्ते सारही तेसिं उज्जाणपालगाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव आसणाओ अब्भुट्ठेति, पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पाउयाओ ओमुयइ, एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ, अंजलिमउलियग्गहत्थे केसिकुमारसमणाभिमुहे सत्तट्ठ पयाइं अणुगच्छइ करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव[1] संपत्ताणं नमोऽत्थु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स। वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासउ मे त्ति कट्टु वंदइ नमंसइ।

ते उज्जाणपालए विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ सम्माणेइ विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ, पडिविसज्जेइ।

कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ एवं वयासी—खिप्पामेव भो! देवाणुप्पिया चाउग्घंटं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेह जाव पच्चप्पिणह।

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा जाव खिप्पामेव सच्छत्तं सज्झयं जाव उवट्ठवित्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति। तए णं से चित्ते सारही कोडुंबियपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव-

१. देखें सूत्र संख्या १९९

हियए ण्हाए कयबलिकम्मे जाव सरीरे जेणेव चाउग्घंटे जाव दुरूहित्ता सकोरंट० महया भडचडगरेणं तं चेव जाव पज्जुवासइ धम्मकहाए जाव।

२३२—तब वह चित्त सारथी उन उद्यानपालकों से इस संवाद को सुनकर एवं हृदय में धारण कर हर्षित, संतुष्ट हुआ। चित्त में आनंदित हुआ, मन में प्रीति हुई। परम सौमनस्य को प्राप्त हुआ। हर्षातिरेक से विकसितहृदय होता हुआ अपने आसन से उठा, पादपीठ से नीचे उतरा, पादुकाएं उतारीं, एकशाटिक उत्तरासंग किया और मुकुलित हस्ताग्रपूर्वक अंजलि करके जिस ओर केशी कुमारश्रमण विराजमान थे, उस ओर सात-आठ डग चला और फिर दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगा—

अरिहंत भगवन्तों को नमस्कार हो यावत् सिद्धगति को प्राप्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य, मेरे धर्मोपदेशक केशी कुमारश्रमण को नमस्कार हो। उनकी मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान वे भगवान् यहाँ विद्यमान मुझे देखें, इस प्रकार कहकर वंदन-नमस्कार किया।

इसके पश्चात् उन उद्यानपालकों का विपुल वस्त्र, गंध, माला, अलंकारों से सत्कार-सन्मान किया तथा जीविकायोग्य विपुल प्रीतिदान (पारितोषिक) देकर उन्हें विदा किया। तदनन्तर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाया और उनको आज्ञा दी—हे देवानुप्रियो! शीघ्र ही तुम चार घंटों वाला अश्वरथ जोतकर उपस्थित करो यावत् हमें इसकी सूचना दो।

तब वे कौटुम्बिक पुरुष यावत् शीघ्र ही छत्र एवं ध्वजा-पताकाओं से शोभित रथ को उपस्थित कर आज्ञा वापस लौटाते हैं—रथ लाने की सूचना देते हैं।

कौटुम्बिक पुरुषों से रथ लाने की बात सुनकर एवं हृदय में धारण कर हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसितहृदय होते हुए चित्त सारथी ने स्नान किया, बलिकर्म किया यावत् आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। जहाँ चार घण्टों वाला रथ था, वहाँ आया और उस पर आरूढ होकर कोरंट पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र को धारण कर विशाल सुभटों के समुदाय सहित रवाना हुआ। वहाँ पहुंच कर पर्यु पासना करने लगा। केशी कुमारश्रमण ने धर्मोपदेश दिया। इत्यादि कथन पहले के समान यहाँ समझ लेना चाहिये।

२३३—तए णं से चित्ते सारही केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे तहेव एवं वयासी—एवं खलु भंते! अम्हं पएसी राया अधम्मिए जाव[1] सयस्स वि णं जणवयस्स नो सम्मं करभरवित्ति पवत्तेइ, तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्खेज्जा बहुगुणतरं खलु होज्जा पएसिस्स रण्णो तेसिं च बहूणं दुपयचउप्पयमियपसुपक्खीसिरीसवाणं, तेसिं च बहूणं समण-माहणभिक्खुयाणं, तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स बहुगुणतरं होज्जा सयस्स वि य णं जणवयस्स।

२३३—तत्पश्चात् धर्म श्रवण कर और हृदय में धारण कर हर्षित, सन्तुष्ट, चित्त मे आनंदित, अनुरागी, परम सौम्यभाव युक्त एवं हर्षातिरेक से विकसितहृदय होकर चित्त सारथी ने केशी कुमार-श्रमण से निवेदन किया—

हे भदन्त! हमारा प्रदेशी राजा अधार्मिक है, यावत् राजकर लेकर भी समीचीन रूप से

१. देखें सूत्र संख्या २२६

अपने जनपद का पालन एवं रक्षण नहीं करता है। अतएव आप देवानुप्रिय ! यदि प्रदेशी राजा को धर्म का आख्यान करेंगे—धर्मोपदेश देंगे तो प्रदेशी राजा के लिये, साथ ही अनेक द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, सरीसृपों आदि के लिये तथा बहुत से श्रमणों, माहणों एवं भिक्षुओं आदि के लिये बहुत-बहुत गुणकारी—हितावह, लाभदायक होगा। हे देवानुप्रिय ! यदि वह धर्मोपदेश प्रदेशी के लिये हितकर हो जाता है तो उससे जनपद—देश को भी बहुत लाभ होगा।

केशी कुमारश्रमण का उत्तर

२३४—तए णं केसी कुमारसमणे चित्तं सारहिं एवं वयासी—

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं चित्ता ! जीवा केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्जा सवणयाए, तं जहा—

(१) आरामगयं वा उज्जाणगयं वा समणं वा माहणं वा णो अभिगच्छइ, णो वंदइ, णो णमंसइ, णो सक्कारेइ, णो सम्माणेइ, णो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेइ, नो अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छइ, एएणं ठाणेणं चित्ता ! जीवा केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभंति सवणयाए।

(२) उवस्सयगयं समणं वा तं चेव जाव एतेण वि ठाणेणं चित्ता ! जीवा केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभंति सवणयाए।

(३) गोयरग्गगयं समणं वा माहणं वा जाव नो पज्जुवासइ, णो विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभइ० णो अट्ठाइं जाव पुच्छइ, एएणं ठाणेणं चित्ता ! केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभइ सवणयाए।

(४) जत्थ वि य णं समणेण वा माहणेण वा सद्धिं अभिसमागच्छइ, तत्थ वि णं हत्थेण वा वत्थेण वा छत्तेण वा अप्पाणं आवरित्ता चिट्ठइ, नो अट्ठाइं जाव पुच्छइ, एएण वि ठाणेणं चित्ता ! जीवे केवलिपन्नत्तं धम्मं णो लभइ सवणयाए। एएहिं च णं चित्ता ! चउहिं ठाणेहिं जीवे णो लभइ केवलिपन्नत्तं धम्मं सवणयाए।

चउहिं ठाणेहिं चित्ता ! जीवे केवलिपन्नत्तं धम्मं लभइ सवणयाए तं जहा—(१) आरामगयं वा उज्जाणगयं वा समणं वा माहणं वा वंदइ नमंसइ जाव (सक्कारेइ, सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं) पज्जुवासइ अट्ठाइं जाव (हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं) पुच्छइ, एएणं वि जाव लभइ सवणयाए एवं (२) उवस्सयगयं (३) गोयरग्गगयं समणं वा जाव पज्जुवासइ विउलेणं जाव (असण-पाण-खाइम-साइमेणं) पडिलाभेइ, अट्ठाइं जाव पुच्छइ एएण वि० (४) जत्थ वि य णं समणेण वा माहणेण वा अभिसमागच्छइ तत्थ वि य णं णो हत्थेण वा जाव (वत्थेण वा, छत्तेण वा अप्पाणं) आवरेत्ताणं चिट्ठइ, एएण वि ठाणेणं चित्ता ! जीवे केवलिपन्नत्तं धम्मं लभइ सवणयाए।

तुज्झं च णं चित्ता ! पएसी राया आरामगयं वा तं चेव सव्वं भाणियव्वं आइल्लएणं गमएणं जाव अप्पाणं आवरेत्ता चिट्ठइ, तं कहं णं चित्ता ! पएसिस्स रन्नो धम्ममाइक्खिस्सामो ?

२३४—चित्त सारथी की भावना को सुनने के अनन्तर केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी को समझाया—

हे चित्त ! जीव निश्चय ही इन चार कारणों से केवलि-भाषित धर्म को सुनने का लाभ प्राप्त नहीं कर पाता है। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. आराम (बाग) में अथवा उद्यान में स्थित श्रमण या माहन के अभिमुख जो नहीं जाता है, मधुर वचनों से जो उनकी स्तुति नहीं करता है, मस्तक नमाकर उनको नमस्कार नहीं करता है, अभ्युत्थानादि द्वारा (आसन से उठकर) उनका सत्कार नहीं करता है, उनका सम्मान नहीं करता है तथा कल्याण स्वरूप, मंगल स्वरूप, देव स्वरूप, विशिष्ट ज्ञान स्वरूप मानकर जो उनकी पर्युपासना नहीं करता है; जो अर्थ—जीवाजीवादि पदार्थों को, हेतुओं (मुक्ति के उपायों) को जानने की इच्छा से प्रश्नों को, कारणों (संसारबन्ध के कारणों) को, व्याख्याओं (तत्वों का पूर्ण ज्ञान करने के लिये उनके स्वरूप) को नहीं पूछता है, तो हे चित्त ! वह जीव केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को सुन नहीं पाता है।

२. उपाश्रय में स्थित श्रमण आदि का वन्दन, नमन, सत्कार-संमान आदि करने के निमित्त जो उनके समक्ष नहीं जाता यावत् उनसे व्याकरण (तत्त्व का विवेचन) नहीं पूछता, तो इस कारण भी हे चित्त ! वह जीव केवलि-भाषित धर्म को सुन नहीं पाता है।

३. गोचरी—भिक्षा के लिये गांव में गये हुए श्रमण अथवा माहन का सत्कार आदि करने के निमित्त जो उनके समक्ष नहीं जाता यावत् उनकी पर्युपासना नहीं करता तथा विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार से उन्हें प्रतिलाभित नहीं करता, एवं शास्त्र के अर्थ यावत् व्याख्या को उनसे नही पूछता, तो ऐसा जीव भी हे चित्त ! केवली भगवान् द्वारा निरूपित धर्म को सुन नहीं पाता है।

४. कहीं श्रमण या माहन का सुयोग मिल जाने पर भी वहां अपने आप को छिपाने के लिये अथवा पहचाना न जाऊँ, इस विचार से, वस्त्र से, छत्ते से स्वयं को आवृत कर लेता है, ढाँक लेता है एवं उनसे अर्थ आदि नहीं पूछता है, तो इस कारण से भी हे चित्त ! वह जीव केवलिप्रज्ञप्त धर्म श्रवण करने का अवसर प्राप्त नहीं कर सकता है।

उक्त चार कारणों से हे चित्त ! जीव केवलिभाषित धर्म श्रवण करने का लाभ नही ले पाता है, किन्तु हे चित्त ! इन चार कारणों से जीव केवलिप्रज्ञप्त धर्म को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. आराम में अथवा उद्यान में पधारे हुए श्रमण या माहन को जो वन्दन करता है, नमस्कार करता है यावत् (सत्कार संमान करता है और कल्याणरूप मंगलरूप देवरूप एवं ज्ञानरूप मानकर) उनकी पर्युपासना करता है, अर्थों को यावत् (हेतुओं, प्रश्नों, कारणों, व्याख्याओं को) पूछता है तो हे चित्त ! वह जीव केवलिप्ररूपित धर्म को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है।

२. इसी प्रकार जो जीव उपाश्रय में रहे हुए श्रमण या माहन को वन्दन-नमस्कार करता है यावत् उनकी पर्युपासना करता हुआ अर्थों आदि को पूछता है तो वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म को सुन सकता है।

३. इसी प्रकार जो जीव गोचरी—भिक्षाचर्या के लिये गए हुए श्रमण या माहन को वन्दन-नमस्कार करता है यावत् उनकी पर्युपासना करता है तथा विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य से

आहार से) उन्हें प्रतिलाभित करता है, उनसे अर्थो आदि को पूछता है, वह जीव इस निमित्त से भी केवलिभाषित अर्थ को सुनने का अवसर प्राप्त कर सकता है।

४. इसी प्रकार जो जीव जहाँ कहीं श्रमण या माहन का सुयोग मिलने पर हाथों, वस्त्रों, छत्ता आदि से स्वयं को छिपाता नहीं है, हे चित्त ! वह जीव केवलिप्रज्ञप्त धर्म सुनने का लाभ प्राप्त कर सकता है।

लेकिन हे चित्त ! तुम्हारा प्रदेशी राजा जब बाग में पधारे हुए श्रमण या माहन के सन्मुख ही नही आता है यावत् अपने को आच्छादित कर लेता है, तो फिर हे चित्त ! प्रदेशी राजा को मैं कैसे धर्म का उपदेश दे सकूँगा ? (यहाँ पूर्व के चारों कारण समझ लेना चाहिए।)

प्रदेशी राजा को लाने हेतु चित्त की युक्ति

२३५—तए णं से चित्ते सारही केसिकुमारसमणं एवं वयासी—एवं खलु भंते ! अण्णया कयाइं कंबोएहिं चत्तारि आसा उवणयं उवणीया, ते मए पएसिस्स रण्णो अन्नया चेव उवणीया, तं एएणं खलु भंते ! कारणेणं अहं पएसिं रायं देवाणुप्पियाणं अंतिए हव्वमाणेस्सामो, तं मा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे पएसिस्स रन्नो धम्ममाइक्खमाणा गिलाएज्जाह, अगिलाए णं भंते ! तुब्भे पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्खेज्जाह, छंदेणं भंते ! तुब्भे पएसिस्स रण्णो धम्ममाइक्खेज्जाह।

तए णं से केसी कुमारसमणे चित्तं सारहिं एवं वयासी—अवि या इं चित्ता ! जाणिस्सामो।

तए णं से चित्ते सारही केसिं कुमारसमणं वंदइ नमंसइ, जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

२३५—केशी कुमारश्रमण के कथन को सुनने के अनन्तर चित्त सारथी ने उन से निवेदन किया—हे भदन्त ! किसी समय कंबोज देशवासियों ने चार घोड़े उपहार रूप भेंट किये थे। मैंने उनको प्रदेशी राजा के यहां भिजवा दिया था, तो भगवन् ! इन घोड़ों के बहाने मैं शीघ्र ही प्रदेशी राजा को आपके पास लाऊँगा। तब हे देवानुप्रिय ! आप प्रदेशी राजा को धर्मकथा कहते हुए लेशमात्र भी ग्लानि मत करना—खेदखिन्न, उदासीन न होना। हे भदन्त ! आप अग्लानभाव से प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश देना। हे भगवन् ! आप स्वेच्छानुसार प्रदेशी राजा को धर्म का कथन करना।

तब केशी कुमारश्रमण ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! अवसर—प्रसंग आने पर देखा जायेगा।

तत्पश्चात् चित्त सारथी ने केशी कुमारश्रमण को वन्दना की, नमस्कार किया और फिर जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ खड़ा था, वहाँ आया। आकर उस चार घंटों वाले अश्वरथ पर आरूढ हुआ। फिर जिस दिशा से आया था उसी ओर लौट गया।

२३६—तए णं से चित्ते सारही कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियंमि अहापंडुरे पभाए कयनियमावस्सए सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते साओ गिहाओ णिग्गच्छइ, जेणेव पएसिस्स रन्नो गिहे, जेणेव पएसी राया तेणेव उवागच्छइ, पएसिं रायं करयल-जाव त्ति कट्टु

जएणं विजएणं वद्धावेइ, एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं कंबोएहिं चत्तारि आसा उवणयं उवणीया, ते य मए देवाणुप्पियाणं अण्णया चेव विणइया। तं एह णं सामी ! ते आसे चिट्ठं पासह।

तए णं से पएसी राया चित्तं सारहिं एवं वयासी—गच्छाहि णं तुमं चित्ता ! तेहिं चेव चउहिं आसेहिं आसरहं जुत्तामेव उवट्ठवेहि जाव पच्चप्पिणाहि।

तए णं से चित्ते सारही पएसिणा रन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ-जाव-हियए उवट्ठवेइ, एयमाणत्तियं पच्चप्पिणइ।

तए णं से पएसी राया चित्तस्स सारहिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ निग्गच्छइ। जेणामेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरूहइ, सेयवियाए नगरीए मज्झमज्झेणं णिग्गच्छइ।

तए णं से चित्ते सारही तं रहं णेगाइं जोयणाइं उब्भामेइ। तए णं से पएसी राया उण्हेण य तण्हाए य रहवाएणं परिकिलंते समाणे चित्तं सारहिं एवं वयासी—चित्ता ! परिकिलंते मे सरीरे, परावत्तेहि रहं।

तए णं से चित्ते सारही रहं परावत्तेइ। जेणेव मियवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ, पएसिं रायं एवं वयासी—एस णं सामी ! मियवणे उज्जाणे, एत्थ णं आसाणं समं किलामं सम्मं अवणेमो।

तए णं से पएसी राया चित्तं सारहिं एवं वदासी—एवं होउ चित्ता !

२३६—तत्पश्चात् कल (आगामी दिन) रात्रि के प्रभात रूप में परिवर्तित हो जाने से जब कोमल उत्पल कमल विकसित हो चुके और धूप भी सुनहरी हो गई तब नियम एवं आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जाज्वल्यमान तेज सहित सहस्ररश्मि दिनकर के चमकने के बाद चित्त सारथी अपने घर से निकला। जहाँ प्रदेशी राजा का भवन था, उसमें भी जहाँ प्रदेशी राजा था, वहाँ आया। आकर दोनों हाथ जोड़ यावत् अंजलि करके जय-विजय शब्दों से प्रदेशी राजा का अभिनन्दन किया और इस प्रकार बोला—कंबोज देशवासियों ने देवानुप्रिय के लिए जो चार घोड़े उपहार-स्वरूप भेजे थे, उन्हें मैंने आप देवानुप्रिय के योग्य प्रशिक्षित कर दिया है। अतएव स्वामिन् ! आज आप पधारिए और उन घोड़ों की गति आदि चेष्टाओं का निरीक्षण कीजिये।

तब प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! तुम जाओ और उन्हीं चार घोड़ों को जोतकर अश्वरथ को यहाँ लाओ यावत् मेरी इस आज्ञा को वापस मुझे लौटाओ अर्थात् रथ आने की मुझे सूचना दो।

चित्त सारथी प्रदेशी राजा के कथन को सुनकर हर्षित एवं सन्तुष्ट हुआ। यावत् विकसित-हृदय होते हुए उसने अश्वरथ उपस्थित किया और रथ ले आने की सूचना राजा को दी।

तत्पश्चात् वह प्रदेशी राजा चित्त सारथी की बात सुनकर और हृदय में धारण कर हृष्ट-तुष्ट हुआ यावत् मूल्यवान् अल्प आभूषणों से शरीर को अलंकृत करके अपने भवन से निकला और जहाँ चार घंटों वाला अश्वरथ था, वहाँ आया। आकर उस चार घंटों वाले अश्वरथ पर आरूढ़ होकर सेयविया नगरी के बीचों-बीच से निकला।

चित्त सारथी ने उस रथ को अनेक योजनों अर्थात् बहुत दूर तक बड़ी तेज चाल से दौड़ाया—चलाया। तब गरमी, प्यास और रथ की चाल से लगती हवा से व्याकुल-परेशान-खिन्न होकर प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त! मेरा शरीर थक गया है। रथ को वापस लौटा लो।

तब चित्त सारथी ने रथ को लौटाया और वहाँ आया जहाँ मृगवन उद्यान था। वहाँ आकर प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे स्वामिन्! यह मृगवन उद्यान है, यहाँ रथ को रोक कर हम घोड़ों के श्रम और अपनी थकावट को अच्छी तरह से दूर कर ले।

इस पर प्रदेशी राजा ने कहा—हे चित्त! ठीक, ऐसा ही करो।

केशी कुमारश्रमण को देखकर प्रदेशी का चिन्तन

२३७—तए णं से चित्ते सारही जेणेव मियवणे, उज्जाणे, जेणेव केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरसामंते तेणेव उवागच्छइ, तुरए णिगिण्हेइ, रहं ठवेइ, रहाओ पच्चोरुहइ, तुरए मोएति, पएसिं रायं एवं वयासी—एह णं सामी! आसाणं समं किलामं सम्मं अवणेमो।

तए णं से पएसी राया रहाओ पच्चोरूहइ, चित्तेण सारहिणा सद्धिं आसाणं समं किलामं सम्मं अवणेमाणे पासइ जत्थ केसीकुमारसमणं महइमहालियाए महच्चपरिसाए मज्झगए महया सद्देणं धम्ममाइक्खमाणं, पासइत्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जड्डा खलु भो! जड्डं पज्जुवासंति, मुंडा खलु भो! मुंडं पज्जुवासंति, मूढा खलु भो! मूढं पज्जुवासंति, अपंडिया खलु भो! अपंडियं पज्जुवासंति, निव्विण्णाणा खलु भो! निव्विण्णाणं पज्जुवासति। से केस णं एस पुरिसे जड्डे मुंडे मूढे अपंडिए निव्विण्णाणे, सिरीए हिरीए उवगए उत्तप्पसरीरे। एस णं पुरिसे किमाहारमाहारेइ? किं परिणामेइ? किं खाइ, किं पियइ, किं दलइ, किं पयच्छइ, जं णं एस एमहालियाए मणुस्सपरिसाए मज्झगए महया सद्देणं बूयाए? एवं संपेहेइ चित्तं सारहिं एवं वयासी—

चित्ता! जड्डा खलु भो! जड्डं पज्जुवासंति जाव बूयाए, साए वि णं उज्जाणभूमीए नो संचाएमि सम्मं पकामं पवियरित्तए!

२३७—राजा के 'हाँ' कहने पर चित्त सारथी ने मृगवन उद्यान की ओर रथ को मोड़ा और फिर उस स्थान पर आया जो केशी कुमारश्रमण के निवासस्थान के पास था। वहाँ घोड़ों को रोका, रथ को खड़ा किया, रथ से उतरा और फिर घोड़ों को खोलकर—छोड़कर प्रदेशी राजा से कहा—है स्वामिन्! हम यहाँ घोड़ों के श्रम और अपनी थकावट को दूर कर लें।

यह सुनकर प्रदेशी राजा रथ से नीचे उतरा, और चित्त सारथी के साथ घोड़ो की थकावट और अपनी व्याकुलता को मिटाते हुए उस ओर देखा जहाँ केशी कुमारश्रमण अतिविशाल परिषद् के बीच बैठकर उच्च ध्वनि से धर्मोपदेश कर रहे थे। यह देखकर उसे मन-ही-मन यह विचार एवं संकल्प उत्पन्न हुआ—

जड़ ही जड़ की पर्युपासना करते है! मुंड ही मुंड की उपासना करते हैं! मूढ ही मूढों की उपासना करते हैं! अपंडित ही अपंडित की उपासना करते हैं! और अज्ञानी ही अज्ञानी की उपासना-समान करते हैं! परन्तु यह कौन पुरुष है जो जड़, मुंड, मूढ, अपंडित और अज्ञानी होते

हुए भी श्री-ह्री से सम्पन्न है, शारीरिक कांति से सुशोभित है ? यह पुष्प किस प्रकार का आहार करता है ? किस रूप में खाये हुए भोजन को परिणमाता है ? यह क्या खाता है, क्या पीता है, लोगों को क्या देता है, विशेष रूप से उन्हें क्या वितरित करता है—बाँटता है—समझाता है ? यह पुरुष इतने विशाल मानव-समूह के बीच बैठकर जोर-जोर से बोल रहा है। उसने ऐसा विचार किया और चित्त सारथी से कहा—

चित्त ! जड़ पुरुष ही जड़ की पर्युपासना करते हैं आदि। यह कौन पुरुष है जो ऊँची ध्वनि से बोल रहा है ? इसके कारण हम अपनी ही उद्यानभूमि में भी इच्छानुसार घूम-फिर नहीं सकते हैं।

२३८—तए णं से चित्ते सारही पएसीरायं एवं वयासी—एस णं सामी ! पासावच्चिज्जे केसी नामं कुमारसमणे जाइसंपण्णे जाव[1] चउनाणोवगए आधोऽवहिए अण्णजीविए।

तए णं से पएसी राया चित्तं सारहिं एवं वयासी—आहोहियं णं वदासि चित्ता ! अण्णजीवियत्तं णं वदासि चित्ता !

हंता, सामी ! आहोहिअं णं वयामि, अण्णजीवियत्तं णं वयामि सामी !
अभिगमणिज्जे णं चित्ता ! एस पुरिसे ?
हंता ! सामी ! अभिगमणिज्जे।
अभिगच्छामो णं चित्ता ! अम्हे एयं पुरिसं ?
हंता सामी ! अभिगच्छामो।

२३८—तब चित्त सारथी ने प्रदेशी राजा से कहा—स्वामिन् ! ये पार्श्वापत्य (भगवान् पार्श्वनाथ की आचार—परम्परा के अनुगामी) केशी कुमारश्रमण हैं, जो जातिसम्पन्न यावत् मतिज्ञान आदि चार ज्ञानों के धारक हैं। ये आधोऽवधिज्ञान (परमावधि से कुछ न्यून अवधिज्ञान) से सम्पन्न एवं (एषणीय) अन्नजीवी हैं।

तब आश्चर्यचकित हो प्रदेशी राजा ने चित्त सारथी से कहा—हे चित्त ! यह पुरुष आधोऽवधिज्ञान-सम्पन्न है और अन्नजीवी है ?

चित्त—हाँ स्वामिन् ! ये आधोऽवधिज्ञानसम्पन्न एवं अन्नजीवी हैं।

प्रदेशी—हे चित्त ! तो क्या यह पुरुष अभिगमनीय है अर्थात् इस पुरुष के पास जाकर बैठना चाहिये।

चित्त—हाँ स्वामिन् ! अभिगमनीय है।

प्रदेशी—तो फिर, चित्त ! हम इस पुरुष के पास चलें।

चित्त—हाँ स्वामिन् ! चले।

२३९—तए णं से पएसी राया चित्तेण सारहिणा सद्धिं जेणेव केसीकुमारसमणे तेणेव उवागच्छइ, केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी—तुब्भे णं भंते ! आहोहिया अण्णजीविया ?

---

१. देखें सूत्र संख्या २१३

तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वदासी—पएसी ! से जहाणामए अंकवाणिया इ वा, संखवाणिया इ वा, दंतवाणिया इ वा, सुंकं भंसिउंकामा णो सम्मं पंथं पुच्छइ, एवामेव पएसी ! तुब्भे वि विणयं भंसेउकामो नो सम्मं पुच्छसि। से णूणं तव पएसी ममं पासित्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था-जड्डा खलु भो ! जड्डं पज्जुवासंति, जाव पवियरित्तए, से णूणं पएसी अट्ठे समत्थे ?

हंता ! अत्थि।

२३९—तत्पश्चात् चित्त सारथी के साथ प्रदेशी राजा, जहाँ केशी कुमारश्रमण विराजमान थे, वहाँ आया और केशी कुमारमश्रमण से कुछ दूर खड़े होकर बोला—हे भदन्त ! क्या आप आधोऽवधिज्ञानधारी है ? क्या आप अन्नजीवी हैं ?

तब केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! जैसे कोई अंकवणिक् (अंकरत्न का व्यापारी) अथवा शंखवणिक्, दन्तवणिक्, राजकर न देने के विचार से सीधा मार्ग नही पूछता, इसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम भी विनयप्रतिपत्ति नहीं करने की भावना से प्रेरित होकर मुझ से योग्य रीति से नहीं पूछ रहे हो। हे प्रदेशी ! मुझे देखकर क्या तुम्हें यह विचार समुत्पन्न नही हुआ था, कि ये जड़ जड़ की पर्युपासना करते हैं, यावत् मैं अपनी ही भूमि में स्वेच्छापूर्वक घूम-फिर नहीं सकता हूँ ? प्रदेशी ! मेरा यह कथन सत्य है ?

प्रदेशी—हाँ आपका कहना सत्य है अर्थात् मेरे मन में ऐसा विचार आया था।

२४०—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वदासी—से केणट्ठेणं भंते ! तुज्झं नाणे वा दंसणे वा जेणं तुज्झे मम एयारूवं अज्झत्थियं जाव संकप्पं समुप्पण्णं जाणह पासह ?

२४०—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—भदन्त ! तुम्हें ऐसा कौनसा ज्ञान और दर्शन है कि जिसके द्वारा आपने मेरे इस प्रकार के आन्तरिक यावत् मनोगत संकल्प को जाना और देखा ?

२४१—तए णं से केसीकुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—एवं खलु पएसी ! अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवणाणे केवलणाणे।

से किं तं आभिणिबोहियनाणे ?

आभिणिबोहियनाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—उग्गओ ईहा अवाए धारणा।

से किं तं उग्गहे ?

उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, जहा नंदीए जाव से त्तं धारणा, से त्तं आभिणिबोहियणाणे।

से किं तं सुयनाणे ?

सुयनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अंगपविट्ठं च, अंगबाहिरं च, सव्वं भाणियव्वं जाव दिट्ठिवाओ।

ओहिणाणं भवपच्चइयं, खओवसमियं जहा णंदीए।

मणपज्जवनाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उज्जुमई य, विउलमई य, तहेव केवलनाणं सव्वं भाणियव्वं ।

तत्थ णं जे से आभिणिबोहियनाणे से णं ममं अत्थि, तत्थ णं जे से सुयनाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से ओहिणाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से मणपज्जवनाणे से वि य ममं अत्थि, तत्थ णं जे से केवलनाणे से णं ममं नत्थि, से णं अरिहंताणं भगवंताणं ।

इच्चेएणं पएसी अहं तव चउव्विहेणं छउमत्थेणं णाणेणं इमेयारूवं अज्झत्थियं जाव समुप्पण्णं जाणामि पासामि ।

२४१—तब केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! निश्चय ही हम निर्ग्रन्थ श्रमणों के शास्त्रों में ज्ञान के पाँच प्रकार बतलाये हैं । वे पाँच यह हैं—(१) आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान), (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन:पर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान ।

प्रदेशी—आभिनिबोधिक ज्ञान कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्रमण—आभिनिबोधिकज्ञान चार प्रकार का है—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणा ।

प्रदेशी—अवग्रह कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्रमण—अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया है इत्यादि धारणा पर्यन्त आभिनिबोधिक ज्ञान का विवेचन नंदीसूत्र के अनुसार जानना चाहिए ।

प्रदेशी—श्रुतज्ञान कितने प्रकार का है ?

केशी कुमारश्रमण—श्रुतज्ञान दो प्रकार का है, यथा अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । दृष्टिवाद पर्यन्त श्रुतज्ञान के भेदों का समस्त वर्णन नन्दीसूत्र के अनुसार यहाँ करना चाहिए ।

भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक के भेद से अवधिज्ञान दो प्रकार का है । इनका विवेचन भी नंदीसूत्र के अनुसार यहाँ जान लेना चाहिए ।

मन.पर्यायज्ञान दो प्रकार का कहा गया है, यथा ऋजुमति और विपुलमति । नंदीसूत्र के अनुरूप इनका भी वर्णन यहाँ करना चाहिए ।

इसी प्रकार केवलज्ञान का भी वर्णन यहाँ करना चाहिए ।

इन पाँच ज्ञानों में से आभिनिबोधिक ज्ञान मुझे है, श्रुतज्ञान मुझे है, अवधिज्ञान भी मुझे है, मन:पर्याय ज्ञान भी मुझे प्राप्त है, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त नही है । वह केवलज्ञान अरिहंत भगवन्तों को होता है ।

इन चतुर्विध छाद्मस्थिक ज्ञानों के द्वारा हे प्रदेशी ! मैने तुम्हारे इस प्रकार के आन्तरिक यावत् मनोगत संकल्प को जाना और देखा है ।

विवेचन—सूत्र में जैनदर्शनमान्य आभिनिबोधिक (मति) आदि पांच ज्ञानों के नाम और उन ज्ञानों के कतिपय अवान्तर भेदों का उल्लेख करके शेष विस्तृत वर्णन नंदीसूत्र के अनुसार करने का संकेत किया गया है । नन्दीसूत्र के आधार से उन मति आदि पाँच ज्ञानों का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है—

ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। अतएव ज्ञानावरणकर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से आत्मा का जो बोध रूप व्यापार होता है, वह ज्ञान है। आभिनिबोधिक आदि के भेद से ज्ञान के पांच प्रकार है। उनके लक्षण इस प्रकार है—

आभिनिबोधिक ज्ञान—जो ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न हो और सन्मुख आये हुए पदार्थो के प्रतिनियत स्वरूप को देश काल, अवस्था की अपेक्षा इन्द्रियों के आश्रित होकर जाने, ऐसे बोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। इसका अपर नाम मतिज्ञान भी है। किन्तु अंतर यह है कि मति शब्द से ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण किया जाता है किन्तु आभिनिबोधिक शब्द ज्ञान के लिये ही प्रयुक्त होता है।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जिससे अर्थ की उपलब्धि हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है। इस ज्ञान का कारण शब्द है अतः उपचार से शब्द के ज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी—मूर्त पदार्थो का साक्षात् बोध करने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधि ज्ञान रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है अरूपी को नही, यही उसकी मर्यादा है। अथवा 'अव' शब्द अधो अर्थ का वाचक है। इसलिये जो ज्ञान अधोऽधो (नीचे-नीचे) विस्तृत जानने की शक्ति रखता है, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर जो ज्ञान मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञान—समनस्क-संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाये, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते है। यद्यपि मन और मानसिक आकार-प्रकारों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति अवधिज्ञान में भी है, किन्तु मनःपर्यायज्ञान मन के पर्यायों-आकार-प्रकारों को सूक्ष्म एवं निर्मल रूप मे प्रत्यक्ष कर सकता है, अवधिज्ञान नही।

केवलज्ञान—केवल शब्द एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण, इन अर्थो में प्रयुक्त होता है। अतः इन अर्थो के अनुसार केवलज्ञान की व्याख्या इस प्रकार है—

जिसके उत्पन्न होने पर क्षयोपशमजन्य मतिज्ञानादि (आभिनिबोधिकादि) चारों ज्ञानों का विलीनीकरण होकर एक ही ज्ञान शेष रह जाये, उसे केवलज्ञान कहते है। जो ज्ञान मन, इन्द्रिय आदि किसी की सहायता के बिना संपूर्ण मूर्त-अमूर्त (रूपी-अरूपी) ज्ञेय पदार्थो को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करने में सक्षम हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान विशुद्धतम हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सभी पदार्थो की प्रतिपूर्ण—समस्त पर्यायों को जानने की शक्ति वाला हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान अनन्त-अनन्त पदार्थो को जानने में सक्षम है, अथवा उत्पन्न होने के पश्चात् जिसका कभी अन्त न हो, ऐसे ज्ञान को केवलज्ञान कहते है। जो ज्ञान निरावरण, नित्य और शाश्वत हो, वह केवलज्ञान है।

इन पॉच प्रकार के ज्ञानों में से आदि के दो ज्ञान परोक्ष और अतिम तीन प्रत्यक्ष हैं। मन और इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष और जो ज्ञान साक्षात् आत्मा के द्वारा होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि मन और इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी

किसी अपेक्षा (लौकिक दृष्टि से) प्रत्यक्ष कहा जाता है, किन्तु वह ज्ञान मन और इन्द्रियों के आश्रित होने से परोक्ष ही है।

जब हम इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कोटि में ग्रहण करते हैं तो वहाँ यह आशय समझना चाहिए कि लोक-प्रतिपत्ति, व्यवहार की दृष्टि से वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, लेकिन यथार्थतः तो साक्षात् आत्मा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। इन दोनों दृष्टियो को ध्यान मे रखते हुए जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक और पारमार्थिक ये दो भेद किये हैं। नन्दीसूत्र मे इन दोनों के लिए क्रमशः इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग किया है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से इन्द्रियां पांच होने से इन्द्रियप्रत्यक्ष के पांच भेद है। कान से होने वाला ज्ञान श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष है, इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के लिए समझना चाहिये। अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान एवं केवलज्ञान ये तीन नोइन्द्रियप्रत्यक्ष है।

उक्त नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के तीन भेदों के से अवधिज्ञान के दो प्रकार है—भवप्रत्ययिक और क्षायोपशमिक। तत्तत् योनिविशेष के जन्म लेने पर जो ज्ञान उत्पन्न हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति में भव प्रधान कारण हो, ऐसा ज्ञान भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कहलाता है। यह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवों और नारकों को होता है। तपस्या आदि विशेष गुणो के कारण अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोप्रशम से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहते है। यह मनुष्यों और तिर्यचों में पाया जाता है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान १. आनुगामिक, २. अनानुगामिक, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. प्रतिपातिक और ६. अप्रतिपातिक के भेद से छह प्रकार का है।

क्षायोपशमिक अवधिज्ञान के उक्त छह भेदों में से आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है—१. अन्तगत और २. मध्यगत। इनमें से अन्तगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—१. पुरतः (आगे से) अन्तगत—जो अवधिज्ञान आगे-आगे संख्यात, असंख्यात योजनों तक पदार्थ को जाने, २. मार्गतः (पीछे से) अन्तगत—जो ज्ञान पीछे के संख्यात, असंख्यात योजनों तक के पदार्थ को जाने, ३. पार्श्वतः (दोनों पार्श्वों—बाजुओं) से अन्तगत—जो ज्ञान दोनों पार्श्वों में सख्यात, असख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र मे स्थित पदार्थों को जाने। जो ज्ञान चारों ओर के पदार्थो को जानते हुए ज्ञाता के साथ रहता है, उसे मध्यगत अवधिज्ञान कहते हैं।

अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस स्थान पर उत्पन्न होता है, उसी स्थान पर स्थित रहकर अवधिज्ञानी संख्यात, असंख्यात योजन प्रमाण सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध द्रव्यों को जानता है, अन्यत्र चले जाने पर नहीं जानता है।

जो अवधिज्ञान पारिणामिक विशुद्धि से उत्तरोत्तर दिशाओं और विदिशाओ मे बढ़ता जाता है, उसे वर्धमानक अवधिज्ञान कहते है। जो ज्ञान पारिणामिक संक्लेश के कारण उत्तरोत्तर हीन-हीन होता जाता है, वह हीयमान अवधिज्ञान है।

नारक, देव और तीर्थंकर अवधिज्ञान से युक्त ही होते हैं। वे सब दिशाओ-विदिशाओंवर्ती पदार्थों को जानते है, किन्तु सामान्य मनुष्यों और तिर्यचों के लिए ऐसा नियम नहीं है। वे सब दिशाओं में और एक दिशा में भी क्षयोपशम के अनुसार जानते हैं।

ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। अतएव ज्ञानावरणकर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से आत्मा का जो बोध रूप व्यापार होता है, वह ज्ञान है। आभिनिबोधिक आदि के भेद से ज्ञान के पांच प्रकार है। उनके लक्षण इस प्रकार है—

आभिनिबोधिक ज्ञान—जो ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न हो और सन्मुख आये हुए पदार्थों के प्रतिनियत स्वरूप को देश काल, अवस्था की अपेक्षा इन्द्रियों के आश्रित होकर जाने, ऐसे बोध को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते है। इसका अपर नाम मतिज्ञान भी है। किन्तु अंतर यह है कि मति शब्द से ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण किया जाता है किन्तु आभिनिबोधिक शब्द ज्ञान के लिये ही प्रयुक्त होता है।

श्रुतज्ञान—शब्द को सुनकर जिससे अर्थ की उपलब्धि हो, उसे श्रुतज्ञान कहते है। इस ज्ञान का कारण शब्द है अतः उपचार से शब्द के ज्ञान को भी श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए केवल आत्मा के द्वारा रूपी—मूर्त पदार्थो का साक्षात् बोध करने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अवधि शब्द का अर्थ मर्यादा भी होता है। अवधि ज्ञान रूपी पदार्थो को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है अरूपी को नही, यही उसकी मर्यादा है। अथवा 'अव' शब्द अधो अर्थ का वाचक है। इसलिये जो ज्ञान अधोऽधो (नीचे-नीचे) विस्तृत जानने की शक्ति रखता है, अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर जो ज्ञान मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यायज्ञान—समनस्क-संज्ञी जीव किसी भी वस्तु का चिन्तन-मनन मन से ही करते हैं। मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाये, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते है। यद्यपि मन और मानसिक आकार-प्रकारों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति अवधिज्ञान में भी है, किन्तु मनःपर्यायज्ञान मन के पर्यायों-आकार-प्रकारों को सूक्ष्म एवं निर्मल रूप में प्रत्यक्ष कर सकता है, अवधिज्ञान नही।

केवलज्ञान—केवल शब्द एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण, इन अर्थो में प्रयुक्त होता है। अतः इन अर्थो के अनुसार केवलज्ञान की व्याख्या इस प्रकार है—

जिसके उत्पन्न होने पर क्षयोपशमजन्य मतिज्ञानादि (आभिनिबोधिकादि) चारों ज्ञानो का विलीनीकरण होकर एक ही ज्ञान शेष रह जाये, उसे केवलज्ञान कहते है। जो ज्ञान मन, इन्द्रिय आदि किसी की सहायता के बिना संपूर्ण मूर्त-अमूर्त (रूपी-अरूपी) ज्ञेय पदार्थो को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करने में सक्षम हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान विशुद्धतम हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सभी पदार्थो की प्रतिपूर्ण—समस्त पर्यायों को जानने की शक्ति वाला हो, वह केवलज्ञान है। जो ज्ञान अनन्त-अनन्त पदार्थो को जानने में सक्षम है, अथवा उत्पन्न होने के पश्चात् जिसका कभी अन्त न हो, ऐसे ज्ञान को केवलज्ञान कहते है। जो ज्ञान निरावरण, नित्य और शाश्वत हो, वह केवलज्ञान है।

इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में से आदि के दो ज्ञान परोक्ष और अंतिम तीन प्रत्यक्ष हैं। मन और इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष और जो ज्ञान साक्षात् आत्मा के द्वारा होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यद्यपि मन और इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी

अर्थावग्रह में अभ्यस्तदशा तथा विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा है और व्यजनावग्रह अनभ्यस्तावस्था एवं क्षयोपशम की मदता में होता है। अर्थावग्रह का काल एक समय है, किन्तु व्यजनावग्रह का असंख्यात समय है।

२. अवग्रह के उत्तर और अवाय से पूर्व सद्भूत अर्थ की पर्यालोचना रूप चेष्टा को ईहा कहते है। अथवा अवग्रह से जाने हुए पदार्थ मे विशेष जानने की इच्छा अथवा अवग्रह द्वारा गृहीत सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए होने वाली विचारणा ईहा है। पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा होने से ईहा के तत्तत् नामक छह भेद हैं।

३. ईहा के द्वारा ग्रहण किये अर्थो का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, अवाय कहलाता है। ईहा की तरह इसके भी छह भेद हैं।

४. निर्णीत अर्थ का धारण करना अथवा कालान्तर में भी उसकी स्मृति हो आना धारणा है। पांच इन्द्रियों और मन से होने के कारण धारणा के भी छह भेद हैं।

अवग्रह आदि चारों में से अवग्रह का काल एक समय, ईहा और अवाय का अन्तर्मुहूर्त्त तथा धारणा का संख्यात, असंख्यात समय प्रमाण है। पांच इन्द्रियों और मन, इन छह निमित्तों से होने वाले अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के छह-छह भेद है तथा मन और चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होने का कारण व्यंजनावग्रह के चार भेद हैं। सब मिलाकर ये अट्ठाईस (२८) भेद हैं। ये सब पुन: विषय और क्षयोपशम की विविधता से १२-१२ प्रकार के हैं। जिससे अवग्रहादि रूप श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के कुल मिलाकर ३३६ भेद हो जाते है। अश्रुतनिश्रित के औत्पत्तिकीबुद्धि आदि चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के ३४० भेद होते है।

क्षायोपशमिक विविधता के बारह प्रकार ये है—

१-२. बहु-अल्पग्राही, ३-४. बहुविध-एकविधग्राही, ५-६. क्षिप्र-अक्षिप्रग्राही, ७-८. निश्रित-अनिश्रितग्राही, ९-१०. असंदिग्ध-संदिग्धग्राही, ११-१२. ध्रुव-अध्रुवग्राही।

श्रुतज्ञान के भेदों का विचार विस्तार और संक्षेप, इन दो दृष्टियों से किया गया है। विस्तार से श्रुतज्ञान के चौदह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

१-२ अक्षर-अनक्षर श्रुत, ३-४ संज्ञी-असंज्ञी श्रुत, ५-६ सम्यक्-मिथ्या श्रुत, ७-८ सादि-अनादि श्रुत, ९-१० सपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुत, ११-१२ गमिक-अगमिक श्रुत, १३-१४ अंग-प्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुत।

१-२. अक्षर-अनक्षर श्रुत—क्षर् संचलने धातु से अक्षर शब्द बनता है, 'न क्षरति-न चलति इत्यक्षरम्' अर्थात् जो अपने स्वरूप से चलित नही होता, उसे अक्षर कहते हैं। इसीलिये ज्ञान का नाम अक्षर है। इसके संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर, ये तीन भेद हैं। अक्षर की आकृति-संस्थान, बनावट को संज्ञाक्षर कहते हैं। उच्चारण किये जाने— बोले जाने वाले अक्षर व्यंजनाक्षर हैं और शब्द को सुनकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन होना लब्धि-अक्षर कहलाता है। अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का है। छींकना, श्वासोच्छ्वास आदि सब अनक्षरश्रुत रूप हैं।

मनःपर्यायज्ञान पर्याप्त, गर्भज संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज सम्यग्दृष्टि, ऋद्धिसम्पन्न अप्रमत्तसंयत मुनियों में ही पाया जाता है। इसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यायज्ञानी से विपुलमति मनःपर्यायज्ञान वाला अधिक-अधिक विशुद्धि, निर्मलता से पदार्थों को जानता है। वह मनुष्यक्षेत्र में रहे हुए प्राणियो के मन में परिचिन्तित अर्थ को जानने वाला है।

केवलज्ञान दो प्रकार का है—भवस्थ-केवलज्ञान और सिद्ध-केवलज्ञान। भवस्थ-केवलज्ञान सयोगिकेवलि और अयोगिकेवलि गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।

सिद्ध केवलज्ञान सिद्धों को होता है। उस के भी दो भेद हैं—१. अनन्तर-सिद्ध केवलज्ञान और २. परंपर-सिद्ध केवलज्ञान। जिन्हें सिद्ध हुए प्रथम ही समय है और जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गये है, उन्हें क्रमशः अनन्तरसिद्ध और परंपरसिद्ध कहते हैं और उनका केवलज्ञान अनन्तर-सिद्ध-केवलज्ञान एवं परंपरसिद्ध-केवलज्ञान कहलाता है।

द्रव्य से केवलज्ञानी सर्व द्रव्यों को जानता है, क्षेत्र से सर्व लोकालोक को जानता है, काल से भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालवर्ती द्रव्यों को जानता है और भाव से सर्व भावों—पर्यायो को जानता है।

पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञानों की संक्षेप में रूपरेखा बतलाने के अनन्तर अब परोक्ष ज्ञानों का वर्णन करते हैं।

आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित के भेद से दो प्रकार का है। श्रुतज्ञान के संस्कार के आधार से उत्पन्न होने वाले मतिज्ञान को क्षुतनिश्रित मतिज्ञान कहते है और जो तथाविध क्षयोपशमभाव से उत्पन्न हो, जिसमें श्रृतज्ञान के संस्कार की अपेक्षा न हो, वह अश्रुत-निश्रित मतिज्ञान है।

अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान चार प्रकार का है—

(१) औत्पत्तिकीबुद्धि—तथाविध क्षयोपशमभाव के कारण और शास्त्र-अभ्यास के बिना अचानक जिस बुद्धि की उत्पत्ति हो।

(२) वैनयिकीबुद्धि—गुरु आदि की विनय-भक्ति से उत्पन्न बुद्धि।

(३) कर्मजाबुद्धि—शिल्पादि के अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि।

(४) पारिणामिकीबुद्धि—चिरकालीन पूर्वापर पर्यालोचन से उत्पन्न बुद्धि।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के चार भेद हैं—(१) अवग्रह, (२) ईहा (३) अवाय, (४) धारणा।

१. जो अनिर्देश्य सामान्य मात्र अर्थ को जानता है, उसे अवग्रह कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अर्थावग्रह, व्यंजनावग्रह। जो सामान्य मात्र का ग्रहण होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। पाच इन्द्रियों और मन से अर्थावग्रह होने से अर्थावग्रह के छह भेद है। प्राप्यकारी श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा (जीभ) और स्पर्शन, इन चार इन्द्रियों से बद्ध—स्पृष्ट अर्थो का जो अत्यन्त अव्यक्त सामान्यात्मक ग्रहण हो, उसे व्यंजनावग्रह कहते है। इन चार इन्द्रियों से होने के कारण व्यंजनावग्रह के चार भेद है।

अर्थावग्रह में अभ्यस्तदशा तथा विशिष्ट क्षयोपशम की अपेक्षा है और व्यजनावग्रह अनभ्यस्तावस्था एवं क्षयोपशम की मदता में होता है। अर्थावग्रह का काल एक समय है, किन्तु व्यजनावग्रह का असख्यात समय है।

२. अवग्रह के उत्तर और अवाय से पूर्व सद्भूत अर्थ की पर्यालोचना रूप चेष्टा को ईहा कहते हैं। अथवा अवग्रह से जाने हुए पदार्थ मे विशेष जानने की इच्छा अथवा अवग्रह द्वारा गृहीत सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए होने वाली विचारणा ईहा है। पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा होने से ईहा के तत्तत् नामक छह भेद है।

३. ईहा के द्वारा ग्रहण किये अर्थों का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, अवाय कहलाता है। ईहा की तरह इसके भी छह भेद हैं।

४. निर्णीत अर्थ का धारण करना अथवा कालान्तर में भी उसकी स्मृति हो आना धारणा है। पांच इन्द्रियों और मन से होने के कारण धारणा के भी छह भेद हैं।

अवग्रह आदि चारों में से अवग्रह का काल एक समय, ईहा और अवाय का अन्तर्मुहूर्त्त तथा धारणा का संख्यात, असंख्यात समय प्रमाण है। पांच इन्द्रियों और मन, इन छह निमित्तो से होने वाले अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के छह-छह भेद है तथा मन और चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से होने का कारण व्यंजनावग्रह के चार भेद है। सब मिलाकर ये अट्ठाईस (२८) भेद हैं। ये सब पुनः विषय और क्षयोपशम की विविधता से १२-१२ प्रकार के है। जिससे अवग्रहादि रूप श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के कुल मिलाकर ३३६ भेद हो जाते है। अश्रुतनिश्रित के औत्पत्तिकीबुद्धि आदि चार भेदों को मिलाने से मतिज्ञान के ३४० भेद होते है।

क्षायोपशमिक विविधता के बारह प्रकार ये है—

१-२. बहु-अल्पग्राही, ३-४. बहुविध-एकविधग्राही, ५-६. क्षिप्र-अक्षिप्रग्राही, ७-८. निश्रित-अनिश्रितग्राही, ९-१०. असंदिग्ध-संदिग्धग्राही, ११-१२. ध्रुव-अध्रुवग्राही।

श्रुतज्ञान के भेदों का विचार विस्तार और संक्षेप, इन दो दृष्टियों से किया गया है। विस्तार से श्रुतज्ञान के चौदह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—

१-२ अक्षर-अनक्षर श्रुत, ३-४ संज्ञी-असंज्ञी श्रुत, ५-६ सम्यक्-मिथ्या श्रुत, ७-८ सादि-अनादि श्रुत, ९-१० सपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुत, ११-१२ गमिक-अगमिक श्रुत, १३-१४ अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुत।

१-२. अक्षर-अनक्षर श्रुत—क्षर् संचलने धातु से अक्षर शब्द बनता है, 'न क्षरति-न चलति इत्यक्षरम्' अर्थात् जो अपने स्वरूप से चलित नही होता, उसे अक्षर कहते हैं। इसीलिये ज्ञान का नाम अक्षर है। इसके संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्ध्यक्षर, ये तीन भेद हैं। अक्षर की आकृति-संस्थान, बनावट को संज्ञाक्षर कहते है। उच्चारण किये जाने– बोले जाने वाले अक्षर व्यंजनाक्षर हैं और शब्द को सुनकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन होना लब्धि-अक्षर कहलाता है। अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का है। छींकना, श्वासोच्छ्वास आदि सब अनक्षरश्रुत रूप हैं।

३-४. संज्ञि-असंज्ञी श्रुत—संज्ञी और असंज्ञी जीवों के श्रुत को क्रमशः संज्ञि, असंज्ञि श्रुत कहते है। कालिकी-उपदेश, हेतु-उपदेश और दृष्टिवाद-उपदेश के भेद से संज्ञिश्रुत तीन प्रकार का है।

ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, इस प्रकार के विचार-विमर्श से वस्तु के स्वरूप को अधिगत करने की शक्ति जिसमें है, वह कालिकी-उपदेश से संज्ञी है और जिसमें उक्त ईहा, अपोह आदि रूप शक्ति नहीं, वह असज्ञी है।

जिस जीव की विचारपूर्वक क्रिया करने में प्रवृत्ति होती है, वह हेतु-उपदेश की अपेक्षा से सज्ञी है और जिसमें विचारपूर्वक क्रिया करने की शक्ति नही, वह असंज्ञी है।

दृष्टि दर्शन का नाम है और सम्यग्ज्ञान का नाम संज्ञा है। ऐसी संज्ञा जिसमें हो, उसे दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी कहते हैं, उक्त संज्ञा जिसमें नहीं वह असज्ञी है।

५-६. सम्यक् मिथ्या श्रुत—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित श्रुत सम्यक्श्रुत और मिथ्यादृष्टि स्वच्छन्द बुद्धि वालो के द्वारा कहा गया श्रुत मिथ्याश्रुत कहलाता है। आचारांग आदि दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशाग रूप तथा सम्पूर्ण दशपूर्वधारी द्वारा कहा गया श्रुत सम्यक्श्रुत है।

७-८-९-१०. सादि, सपर्यवसित, अनादि, अपर्यवसित श्रुत—व्यवच्छित्ति—पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा सादि-सपर्यवसित (सान्त) है और अव्यवच्छित्ति—द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि-अपर्यवसित (अनन्त) है।

११-१२. गमिक-अगमिक श्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अवसान में किंचित् विशेषता रखते हुए पुनः-पुनः पूर्वोक्त शब्दों का उच्चारण हो, उसे गमिक श्रुत और जिस शास्त्र मे पुनः-पुनः एक सरीखे पाठ न आते हों, उसे अगमिक श्रुत कहते हैं।

१३-१४. अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य श्रुत—जिन शास्त्रों की रचना तीर्थकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं, वे अंगप्रविष्ट तथा गणधरों के अतिरिक्त अंगों का आधार लेकर स्थविरों द्वारा प्रणीत शास्त्र अंगबाह्य कहलाते हैं।

अंगप्रविष्ट श्रुत के आचारांग आदि बारह भेद है।

आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त के भेद से अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है। गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमें हो, उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं। आवश्यक श्रुत के छह भेद हैं—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान तथा आवश्यकव्यतिरिक्त श्रुत के दो भेद है—कालिक और उत्कालिक।

जो शास्त्र दिन और रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में पढ़े जाते है, वे कालिक और जिनका कालवेला वर्ज का अध्ययन किया जाता है अर्थात् अस्वाध्याय के समय को छोड़कर शेष रात्रि और दिन में पढ़े जाते हैं, वे उत्कालिक शास्त्र कहलाते है। उत्कालिक और कालिक शास्त्र अनेक प्रकार के हैं।

इन सभी अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य शास्त्रों का विशेप परिचय नंदीसूत्र और उसकी चूर्णि एवं वृत्ति में दिया गया है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद मंडन-खंडन

२४२—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—अह णं भंते ! इहं उवविसामि?

पएसी ! एसाए उज्जाणभूमीए तुमंसि चेव जाणए।

तए णं से पएसी राया चित्तेणं सारहिणा सद्धिं केसिस्स कुमारसमणस्स अदूरसामंते उवविसइ, केसिकुमारसमणं एवं वदासी—तुब्भे णं भंते ! समणाणं णिग्गंथाणं एसा सण्णा, एसा पइण्णा, एसा दिट्ठी, एसा रुई, एस हेऊ, एस उवएसे, एस संकप्पे, एसा तुला, एस माणे, एस पमाणे, एस समोसरणे जहा अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं ?

२४२—केशीस्वामी के कथन को सुनने के अनन्तर प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से निवेदन किया—भदन्त ! क्या मैं यहाँ बैठ जाऊं ?

केशी—हे प्रदेशी ! यह उद्यानभूमि तुम्हारी अपनी है, अतएव बैठने या न बैठने के विषय में तुम स्वयं समझ लो—निर्णय कर लो।

तत्पश्चात् चित्त सारथी के साथ प्रदेशी राजा केशी कुमारश्रमण के समीप बैठ गया और बैठकर केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार पूछा—

भदन्त ! क्या आप श्रमण निर्ग्रन्थो की ऐसी सम्यग्ज्ञान रूप संज्ञा है, तत्त्वनिश्चय रूप प्रतिज्ञा है, दर्शन रूप दृष्टि है, श्रद्धानुगत अभिप्राय रूप रुचि है, अर्थ का प्रतिपादन करने रूप हेतु है, शिक्षा वचन रूप उपदेश है, तात्त्विक अध्यवसाय रूप संकल्प है, मान्यता है, तुला-समीचीन निश्चय-कसौटी है, दृढ़ धारणा है, अविसंवादी दृष्ट एवं इष्ट रूप प्रत्यक्षादि प्रमाणसंगत मंतव्य है और स्वीकृत सिद्धान्त है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है ? अर्थात् जीव शरीर भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले है ? शरीर और जीव दोनों एक नही है ?

२४३—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—पएसी ! अम्हं समणाणं णिग्गंथाणं एसा सण्णा जाव[1] एस समोसरणे, जहा अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं।

२४३—प्रदेशी राजा के प्रश्न को सुनकर प्रत्युत्तर में केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! हम श्रमण निर्ग्रन्थों की ऐसी संज्ञा यावत् समोसरण—सिद्धान्त है कि जीव भिन्न—पृथक् है और शरीर भिन्न है, परन्तु जो जीव है वही शरीर है, ऐसी धारणा नहीं है।

२४४—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—जति णं भंते ! तुब्भं समणाणं णिग्गंथाणं एसा सण्णा जाव[2] समोसरणे जहा अण्णो जीवो अण्णं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं, एवं खलु ममं अज्जए होत्था, इहेव जंबूदीवे दीवे सेयवियाए णगरीए अधम्मिए जाव[3] सगस्स वि य णं जणवयस्स नो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेति, से णं तुब्भं वत्तव्वयाए सुबहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु नरएसु णेरइयत्ताए उववण्णे।

तस्स णं अज्जगस्स णं अहं णत्तुए होत्था इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे वेसासिए संमए

१-२. देखें सूत्र संख्या २४२ ३. देखें सूत्र संख्या २२६

बहुमए अणुमए रयणकरंडगसमाणे जीविउस्सविए हियणंदिजणणे उंबरपुप्फं पिव दुल्लभे सवणयाए, किमंग पुण पासणयाए ? तं जति णं से अज्जए ममं आगंतुं वएज्जा—

एवं खलु नत्तुया ! अहं तव अज्जए होत्था, इहेव सेयवियाए नयरीए अधम्मिए जाव नो सम्मं करभरवित्ति पवत्तेमि, तए णं अहं सुबहुं पावं कम्मं कसिकलुसं समज्जिणित्ता नरएसु उववण्णे, तं मा णं नत्तुया ! तुमं पि भवाहि अधम्मिए जाव नो सम्मं करभरवित्ति पवत्तेहि, मा णं तुमं पि एवं चेव, सुबहुं पावकम्मं जाव उववज्जिहिसि । तं जइ णं से अज्जए ममं आगंतुं वएज्जा तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं । जम्हा णं से अज्जए ममं आगंतुं नो एवं वयासी तम्हा सुपइट्ठिया मम पइन्ना समणाउसो ! जहा तज्जीवो तं सरीरं ।

२४४—तब प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार कहा—हे भदन्त ! यदि आप श्रमण निर्ग्रन्थों की ऐसी संज्ञा यावत् सिद्धान्त है कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, किन्तु ऐसी मान्यता नहीं है कि जो जीव है वही शरीर है, तो मेरे पितामह, जो इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप की सेयविया नगरी में अधार्मिक यावत् राजकर लेकर भी अपने जनपद का भली-भाँति पालन, रक्षण नहीं करते थे, वे आपके कथनानुसार अत्यन्त कलुषित पापकर्मो को उपार्जित करके मरण-समय में मरण करके किसी एक नरक में नारक रूप से उत्पन्न हुए है। उन पितामह का मैं इष्ट, कान्त (अभिलषित), प्रिय, मनोज्ञ, मणाम (अति प्रिय), धैर्य और विश्वास का स्थान (आधार, पात्र), कार्य करने में सम्मत (माना हुआ), बहुत कार्य करने में माना हुआ तथा कार्य करने के बाद भी अनुमत, रत्नकरंडक (आभूषणों की पेटी) के समान, जीवन की श्वासोच्छ्वास के समान, हृदय मे आनन्द उत्पन्न करने वाला, गूलर के फूल के समान जिसका नाम सुनना भी दुर्लभ है तो फिर दर्शन की बात ही क्या है, ऐसा पौत्र हूँ । इसलिये यदि मेरे पितामह आकर मुझ से इस प्रकार कहें कि—

'हे पौत्र ! मै तुम्हारा पितामह था और इसी सेयविया नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन, रक्षण नही करता था । इस कारण मैं बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके नरक में उत्पन्न हुआ हूँ । किन्तु हे नाती (पौत्र) ! तुम अधार्मिक नहीं होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन, रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मो का उपार्जन—संचय ही करना ।'

तो मैं आपके कथन पर श्रद्धा कर सकता हूँ, प्रतीति (विश्वास) कर सकता हूँ एवं उसे अपनी रुचि का विषय बना सकता हूँ कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है । जीव और शरीर एक रूप नही हैं । लेकिन जब तक मेरे पितामह आकर मुझसे ऐसा नही कहते तब तक हे आयुष्मन् श्रमण ! मेरी यह धारणा सुप्रतिष्ठित—समीचीन है कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है ।

विवेचन—यहाँ राजा पएसी (प्रदेशी) ने अपने दादा का दृष्टान्त देकर जो कथन किया है, उसी बात को दीघनिकाय में राजा पायासि ने अपने मित्रों का उदाहरण देकर कहा है । दीघनिकाय में जिसका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—

राजा पायासि और कुमार काश्यप के मिलने पर पायासि अपनी शंका काश्यप के समक्ष उपस्थित करता है और काश्यप उसका समाधान करते हैं कि—राजन्य ! ये सूर्य, चन्द्र क्या हैं ? वे इहलोक हैं या परलोक हैं ? देव हैं या मानव हैं ? अर्थात् इन उदाहरणों के द्वारा काश्यप परलोक

की सिद्धि करते हैं। किन्तु राजा को यह बात समझ में नहीं आती है और वह पुनः कहता है—मेरे कुछ ज्ञातिजन एवं मित्र प्राणातिपात—हिंसा आदि पापकार्यो में निरत रहते थे, उनको मैने कह रखा था कि हिंसादिक पापकर्मो से तुम नरक में जाओ तो मुझे इसकी सूचना देना। लेकिन वे यहाँ आये नही और न कोई दूत भी भेजा। इसलिये परलोक नही है, मेरी यह श्रद्धा सुसंगत है।

२४५—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वदासी—अत्थि णं पएसी ! तव सूरियकंता णामं देवी ?

हंता अत्थि।

जइ णं तुमं पएसी ! तं सूरियकंतं देविं ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारविभूसियं केणइ पुरिसेणं ण्हाएणं जाव सव्वालंकारविभूसिएणं सद्धिं इट्ठे सद्द-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणिं पासिज्जासि, तस्स णं तुमं पएसी ! पुरिसस्स कं दंडं निव्वत्तेज्जासि ?

अहं णं भंते ! तं पुरिसं हत्थच्छिण्णगं वा, सूलाइगं वा, सूलभिन्नगं वा, पायछिन्नगं वा, एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवएज्जा।

अह णं पएसी से पुरिसे तुमं एवं वदेज्जा—'मा ताव मे सामी ! मुहुत्तगं हत्थछिण्णगं वा जाव जीवियाओ ववरोवेहि जाव ताव अहं मित्त-णाइ-णियग-सयण-संबंधि-परिजणं एवं वयामि—एवं खलु देवाणुप्पिया ! पावाइं कम्माइं समायरेत्ता इमेयारूवं आवइं पाविज्जामि, तं मा णं देवाणुप्पिया ! तुब्भे वि केइ पावाइं कम्माइं समायरह, मा णं से वि एवं चेव आवइं पाविज्जिहिह जहा णं अहं।' तस्स णं तुमं पएसी ! परिसस्स खणमवि एयमट्ठं पडिसुणेज्जासि ?

णो तिणट्ठे समट्ठे।

कम्हा णं ?

जम्हा णं भंते ! अवराही णं से पुरिसे।

एवामेव पएसी ! तव वि अज्जए होत्था, इहेव सेयवियाए णयरीए अधम्मिए जाव[1] णो सम्मं करभरवित्तिं पवत्तेइ, से णं अम्हं वत्तव्वयाए सुबहुं जाव उववन्नो, तस्स णं अज्जगस्स तुमं णत्तुए होत्था इट्ठे कंते जाव[2] पासणयाए। से णं इच्छइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएति हव्वमागच्छित्तए। चउहिं ठाणेहिं पएसी अहुणोववण्णए नरएसु नेरइए इच्छेइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संचाएइ—

१. अहुणोववन्नए नरएसु नेरइए से णं तत्थ महब्भूयं वेयणं वेदेमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वं (आगच्छित्तए) णो चेव णं संचाएइ।

२. अहुणोववन्नए नरएसु नेरइए निरयपालेहिं भुज्जो-भुज्जो समहिट्ठिज्जमाणे इच्छइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएइ।

---

१. देखें सूत्र संख्या २२६ २. देखें सूत्र संख्या २४८

३. अहुणोववन्नए नरएसु नेरइए निरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अनिज्जिन्नंसि इच्छइ माणुसं लोगं (हव्वमागच्छित्तए) नो चेव णं संचाएइ।

४. एवं णेरइए निरयाउयंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अणिज्जिन्नंसि इच्छइ माणुसं लोगं० नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं पएसी अहुणोववन्ने नरएसु नेरएसु इच्छइ माणुसं लोगं० णो चेव णं संचाइए।

तं सद्दहाहि णं पएसी! जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तं जीवो तं सरीरं।

२४५—प्रदेशी राजा की युक्ति को सुनने के पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी! तुम्हारी सूर्यकान्ता नाम की रानी है?

प्रदेशी—हाँ भदन्त! है।

केशी कुमारश्रमण—तो हे प्रदेशी! यदि तुम उस सूर्यकान्ता देवी को स्नान, बलिकर्म और कौतुक-मंगल-प्रायश्चित्त करके एवं समस्त आभरण-अलंकारों से विभूषित होकर किसी स्नान किये हुए यावत् समस्त आभरण-अलंकारों से विभूषित पुरुष के साथ इष्ट-मनोनुकूल शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंधमूलक पांच प्रकार के मानवीय कामभोगों को भोगते हुए देख लो तो, हे प्रदेशी! उस पुरुष के लिए तुम क्या दंड निश्चित करोगे?

प्रदेशी—हे भगवन्! मैं उस पुरुष के हाथ काट दूंगा, उसे शूली पर चढ़ा दूंगा, कांटो से छेद दूंगा, पैर काट दूंगा अथवा एक ही वार से जीवनरहित कर दूंगा—मार डालूंगा।

प्रदेशी राजा के इस कथन को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने उससे कहा—हे प्रदेशी! यदि वह पुरुष तुमसे यह कहे कि—'हे स्वामिन्! आप घड़ी भर रुक जाओ, तब तक आप मेरे हाथ न काटें, यावत् मुझे जीवन रहित न करें जब तक मैं अपने मित्र, ज्ञातिजन, निजक—पुत्र आदि स्वजन-संबंधी और परिचितों से यह कह आऊँ कि हे देवानुप्रियो! मैं इस प्रकार के पापकर्मों का आचरण करने के कारण यह दंड भोग रहा हूँ, अतएव हे देवानुप्रियो! तुम कोई ऐसे पाप कर्मो मे प्रवृत्ति मत करना, जिससे तुमको इस प्रकार का दंड भोगना पड़े, जैसा कि मै भोग रहा हूँ।' तो हे प्रदेशी क्या तुम क्षणमात्र के लिए भी उस पुरुष की यह बात मानोगे?

प्रदेशी—हे भदन्त! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात् उसकी यह बात नही मानूंगा।

केशी कुमारश्रमण—उसकी बात क्यों नहीं मानोगे?

प्रदेशी—क्योंकि हे भदन्त! वह पुरुष अपराधी है।

तो इसी प्रकार हे प्रदेशी! तुम्हारे पितामह भी हैं, जिन्होंने इसी सेयविया नगरी में अधार्मिक होकर जीवन व्यतीत किया यावत् प्रजाजनों से कर लेकर भी उनका अच्छी तरह से पालन, रक्षण नहीं किया एवं मेरे कथनानुसार वे बहुत से पापकर्मो का उपार्जन करके नरक में उत्पन्न हुए हैं। उन्ही पितामह के तुम इष्ट, कान्त यावत् दुर्लभ पौत्र हो। यद्यपि वे शीघ्र ही मनुष्य लोक मे आना चाहते हैं किन्तु वहाँ से आने में समर्थ नही हैं। क्योंकि—प्रदेशी! तत्काल नरक में नारक रूप से

उत्पन्न जीव शीघ्र ही चार कारणों से मनुष्यलोक में आने की इच्छा तो करते हैं, किन्तु वहाँ से आ नही पाते हैं। वे चार कारण इस प्रकार हैं—

१. नरक में अधुनोत्पन्न नारक वहाँ की अत्यन्त तीव्र वेदना का वेदन करने के कारण मनुष्य-लोक में शीघ्र आने की आकांक्षा करते हैं, किन्तु आने मे असमर्थ है।

२. नरक में तत्काल नैरयिक रूप से उत्पन्न जीव परमाधार्मिक नरकपालों द्वारा बारंबार ताडित-प्रताड़ित किये जाने से घबराकर शीघ्र ही मनुष्यलोक मे आने की इच्छा तो करते है, किन्तु वैसा करने में समर्थ नहीं हो पाते हैं।

३. अधुनोपपन्नक नारक मनुष्यलोक में आने की अभिलाषा तो रखते है किन्तु नरक संबन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नही होने, अननुभूत एवं अनिर्जीर्ण होने से वे वहाँ से निकलने मे सक्षम नही हो पाते है।

४. इसी प्रकार नरक संबंधी आयुकर्म के क्षय नही होने से, अननुभूत एव अनिर्जीर्ण होने से नारक जीव मनुष्यलोक में आने की अभिलाषा रखते हुए भी वहाँ से आ नही सकते है।

अतएव हे प्रदेशी ! तुम इस बात पर विश्वास करो, श्रद्धा रखो कि जीव अन्य—भिन्न है और शरीर अन्य है, किन्तु यह मत मानो कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है।

विवेचन—नरक में से जीव के न आ सकने के इन्ही कारणों का दीघनिकाय (बौद्ध ग्रन्थ) मे भी इसी प्रकार से उल्लेख किया है।

२४६—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वदासी—

अत्थि णं भंते ! एसा पण्णा उवमा, इमेण पुण कारणेण नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! मम अज्जिया होत्था, इहेव सेयवियाए नगरीए धम्मिया जाव वित्ति कप्पेमाणी समणोवासिया अभिगय-जीवा० सव्वो वण्णओ जाव[1] अप्पाणं भावेमाणी विहरइ, सा णं तुज्झं वत्तव्वयाए सुबहुं पुन्नोवचयं समज्जिणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववण्णा, तीसे णं अज्जियाए अहं नत्तुए होत्था इट्ठे कंते जाव[2] पासणयाए, तं जइ णं सा अज्जिया मम आगंतुं एवं वएज्जा—एवं खलु नत्तुया ! अहं तव अज्जिया होत्था, इहेव सेयवियाए नगरीए धम्मिया जाव वित्ति कप्पेमाणी समणो-वासिया जाव विहरामि। तए णं अहं सुबहुं पुण्णोवचयं समज्जिणित्ता जाव देवलोएसु उववण्णा, तं तुमं पि णत्तुया ! भवाहि धम्मिए जाव विहराहि, तए णं तुमं पि एयं चेव सुबहुं पुण्णोवचयं समज्जिणित्ता जाव (कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए) उववज्जिहिसि।

तं जइ णं अज्जिया मम आगंतुं एवं वएज्जा तो णं अहं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोइज्जा जहाअण्णो जीवो अण्णं सरीरं, णो तं जीवो तं सरीरं। जम्हा सा अज्जिया ममं आगंतुं णो एवं वदासी, तम्हा सुपइट्ठिया मे पइण्णा जहा—तं जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं।

---

१. देखें सूत्र संख्या २२२

२. देखें सूत्र संख्या २४४

२४६—केशी कुमारश्रमण के पूर्वोक्त कथन को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमार-श्रमण के समक्ष नया तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—हे भदन्त ! मेरी आजी—दादी थी। वह इसी सेयविया नगरी में धर्मपरायण यावत् धार्मिक आचार-विचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करनेवाली, जीव-अजीव आदि तत्त्वों की ज्ञाता श्रमणोपासिक यावत् तप से आत्मा को भावित करती हुई अपना समय व्यतीत करती थी इत्यादि समस्त वर्णन यहा समझ लेना चाहिये और आपके कथनानुसार वे पुण्य का उपार्जन कर कालमास मे काल करके किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न हुई है। उन आर्यिका (दादी) का मै इष्ट, कान्त यावत् दुलभदर्शन पौत्र हूं। अतएव वे आर्यिका यदि यहाँ आकर मुझसे इस प्रकार कहें कि—हे पौत्र ! मैं तुम्हारी दादी थी और इसी सेयविया नगरी में धार्मिक जीवन व्यतीत करती हुई श्रमणोपासिका हो यावत् अपना समय बिताती थी। इस कारण मै विपुल पुण्य का संचय करके यावत् देवलोक में उत्पन्न हुई हूँ। हे पौत्र ! तुम भी धार्मिक आचार-विचार-पूर्वक अपना जीवन बिताओ। जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन करके यावत् (मरणसमय में मरण करके किसी एक देवलोक में देवरूप से) उत्पन्न होओगे।

इस प्रकार से यदि मेरी दादी आकर मुझसे कहे कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है किन्तु वही जीव वही शरीर नही अर्थात् जीव और शरीर एक नही है, तो हे भदन्त ! मै आपके कथन पर विश्वास कर सकता हूँ, प्रतीति कर सकता हूँ और अपनी रुचि का विषय बना सकता हूँ। परन्तु जब तक मेरी दादी आकर मुझसे ऐसा नही कहती तब तक मेरी यह धारणा सुप्रतिष्ठित एवं समीचीन है कि जो जीव है वही शरीर है। किन्तु जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नही है।

विवेचन—यहाँ राजा प्रदेशी ने अपनी धार्मिक दादी का उदाहरण देकर जो व्यक्त किया, उसे दीघनिकाय में राजा पायासि ने अपने धर्मपरायण मित्रो के उदाहरण द्वारा बताया है कि आप अपनी धर्मवृत्ति के कारण स्वर्ग जाने वाले है और ऐसा हो तो आप मुझे यह समाचार अवश्य देना।

२४७—तए णं केसी कुमारसमणे पएसीरायं एवं वयासी—जति णं तुमं पएसी ! ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं उल्लपडसाडगं भिंगारकडुच्छुयहत्थगयं देवकुलमणुपविसमाणं केइ य पुरिसे वच्चघरंसि ठिच्चा एवं वदेज्जा—एह ताव सामी ! इह मुहुत्तगं आसयह वा, चिट्ठह वा, निसीयह वा तुयट्टह वा, तस्स णं तुमं पएसी ! पुरिसस्स खणमवि एयमट्ठं पडिसुणिज्जासि।

णो तिणट्ठे समट्ठे।

कम्हा णं ?

भंते ! असुई असुइ सामंतो।

एवामेव पएसी ! तव वि अज्जिया होत्था, इहेव सेयवियाए णयरीए धम्मि... सा णं अम्हं वत्तव्वाए सुबहुं जाव उववन्ना, तीसे णं अज्जियाए तुमं णत्तुए होत्था ...पासणयाए ? सा णं इच्छइ माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ ... चऊहिं ठाणेहिं पएसी ! अहुणोववण्णए देवे देवलोएसु इच्छेज्जा म... लोगं हव... णं संचाएइ—

१. अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेहिं कामभोगेहिं ... -गढिए ... णं माणसे भोगे नो आढाति, नो परिजाणाति, से णं इच्छिज्ज मा... णं

२. अहुणोववण्णए देवे देवलोएसु दिव्वेहिं कामभोगेहिं मुच्छिए जाव अज्झोववण्णे, तस्स णं माणुस्से पेम्मे वोच्छिन्नए भवति, दिव्वे पिम्मे सकंते भवति, से णं इच्छेज्जा माणुसं० णो चेव णं संचाएइ।

३. अहुणोववण्णे देवे दिव्वेहिं कामभोगेहिं मुच्छिए जाव अज्झोववण्णे, तस्स णं एवं भवइ—इयाणि गच्छं मुहुत्तं जाव इह गच्छं, अप्पाउया णरा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति, से णं इच्छेज्जा माणुस्सं० णो चेव णं संचाएइ।

४. अहुणोववण्णे देवे दिव्वेहिं जाव अज्झोववण्णे, तस्स माणुस्सए उराले दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे भवइ, उड्ढं पि य णं चत्तारि पंच जोअणसए असुभे माणुस्सए गंधे अभिसमागच्छति, से णं इच्छेज्जा माणुसं० णो चेव णं संचाइज्जा।

इच्चेएहिं ठाणेहिं पएसी! अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी! जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं नो तं जीवो तं सरीरं।

२४७—प्रदेशी राजा का उक्त तर्क सुनकर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार पूछा—हे प्रदेशी! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त करके गीली धोती पहन, झारी और धूपदान हाथ में लेकर देवकुल में प्रविष्ट हो रहे होओ और उस समय कोई पुरुष विष्ठा-गृह (शौचालय) में खड़े होकर यह कहे कि—हे स्वामिन्! आओ और क्षणमात्र के लिये यहाँ बैठो, खड़े होओ और लेटो, तो क्या हे प्रदेशी! एक क्षण के लिये भी तुम उस पुरुष की बात स्वीकार कर लोगे?

प्रदेशी—हे भदन्त! यह अर्थ समर्थ नही है, अर्थात् उस पुरुष की बात स्वीकार नही करूंगा।

कुमारश्रमण केशीस्वामी—उस पुरुष की बात क्यो स्वीकार नहीं करोगे?

प्रदेशी—क्योंकि भदन्त! वह स्थान अपवित्र है और अपवित्र वस्तुओ से भरा हुआ—व्याप्त है।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार प्रदेशी! इसी सेयविया नगरी में तुम्हारी जो दादी धार्मिक यावत् धर्मानुरागपूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं और हमारी मान्यतानुसार वे बहुत से पुण्य का संचय करके यावत् देवलोक में उत्पन्न हुई है तथा उन्हीं दादी के तुम इष्ट यावत् दुर्लभदर्शन जैसे पौत्र हो। वे तुम्हारी दादी भी शीघ्र ही मनुष्यलोक में आने की अभिलाषी हैं किन्तु आ नहीं सकती।

हे प्रदेशी! अधुनोत्पन्न देव देवलोक से मनुष्यलोक में आने के आकांक्षी होते हुए भी इन चार कारणों से आ नही पाते है—

१. तत्काल उत्पन्न देव देवलोक के दिव्य कामभोगो में मूर्च्छित, गृद्ध, आसक्त और तल्लीन हो जाने में मानवीय भोगों के प्रति आकर्षित नही होते हैं, न ध्यान देते हैं और न उनकी इच्छा करते है। जिससे वे मनुष्यलोक में आने की आकांक्षा रखते हुए भी आने मे समर्थ नहीं हो पाते हैं।

२. देवलोक संवंधी दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित यावत् तल्लीन हो जाने से अधुनोत्पन्नक देव का मनुष्य संबंधी प्रेम (आकर्षण) व्यच्छिन्न—समाप्त-सा हो जाता है—टूट जाता है और देवलोक

संबंधी अनुराग संक्रांत हो जाने से मनुष्य लोक में आने की अभिलाषा रखते हुए भी यहाँ आ नहीं पाते हैं।

३. अधुनोत्पन्न देव देवलोक में जब दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित यावत् तल्लीन हो जाते है तब वे सोचते तो हैं कि अब जाऊँ, अब जाऊँ, कुछ समय बाद जाऊँगा, किन्तु उतने समय में तो उनके इस मनुष्यलोक के अल्पआयुषी संबंधी कालधर्म (मरण) को प्राप्त हो चुकते है। जिससे मनुष्यलोक मे आने की अभिलाषा रखते हुए भी वे यहाँ आ नही पाते है।

४. वे अधुनोत्पन्नक देव देवलोक के दिव्य कामभोगों में यावत् तल्लीन हो जाते है कि जिससे उनको मर्त्यलोक संबंधी अतिशय तीव्र दुर्गन्ध प्रतिकूल और अनिष्टकर लगती है एव उस मानवीय कुत्सित दुर्गन्ध के ऊपर आकाश में चार-पांच सौ योजन तक फैल जाने से मनुष्यलोक में आने की इच्छा रखते हुए भी वे उस दुर्गन्ध के कारण आने में असमर्थ हो जाते है।

अतएव हे प्रदेशी ! मनुष्यलोक में आने के इच्छुक होने पर भी इन चार कारणों से अधुनोत्पन्न देव देवलोक से यहाँ आ नही सकते है। इसलिये प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं है और न शरीर जीव है।

विवेचन—यहाँ दिये गये देवकुल में प्रवेश करने के उदाहरण के स्थान पर दीघनिकाय में कुमार काश्यप ने दूसरा उदाहरण दिया है—जैसे कोई पुरुष दुर्गन्धमय कूप में पड़ा हो और उसका शरीर मल से लिप्त हो और उस पुरुष को बाहर निकलकर स्नान, शरीर पर सुगंधित तेल आदि का विलेपन और माला आदि से शृंगारित करने के बाद पुनः उसे दुर्गन्धित कूप में घुसने के लिए कहा जाए तो क्या वह उसमें घुसेगा ?

प्रत्युत्तर में राजा ने कहा—नही घुसेगा।

काश्यप—तो इसी प्रकार दुर्गन्धित मनुष्यलोक से स्वर्ग में पहुँचे हुए देव पुनः दूसरी बार दुर्गन्धमय मर्त्यलोक में आयेगे क्या इत्यादि ?

मनुष्यलोक में देवों के न आने के जो कारण यहाँ बताये हैं, इसी प्रकार दीघनिकाय में भी कहा है कि—

इस मनुष्यलोक के सौ वर्षो के बराबर त्रायस्त्रिंश देवों का एक दिन-रात होता है। ऐसे सौ-सौ वर्ष जितने समय वाले तीस दिन-रात होते है, तब देवों का एक मास और ऐसे बारह मास का एक वर्ष होता है। इन त्रायस्त्रिश देवों का ऐसे दिव्य हजार वर्षो जितना दीर्घ आयुष्य होता है। ये देव भी विचार करते है कि दो-तीन दिन में इन दिव्य कामगुणों को भोगने के बाद अपने मानव-संबंधियों को समाचार देने जाऊंगा इत्यादि।

यहाँ मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध ऊपर आकाश में चार-सौ, पांच-सौ योजन तक पहुँचने का उल्लेख किया है, इसके बदले दीघनिकाय में कहा है कि देवों की दृष्टि में मनुष्य अपवित्र है, दुरभि-गंध वाला है, घृणित है। मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध ऊपर सौ योजन तक पहुँचकर देवों को बाधा उत्पन्न करती है।

प्रस्तुत में चार-सौ, पाँच-सौ योजन तक दुर्गन्ध पहुँचने का जो उल्लेख किया है उसकी नौ

योजन से अधिक दूर से आते सगंध पुद्गल घ्राणेन्द्रिय के विषय नहीं हो सकते हैं—इस शास्त्रीय उल्लेख से किस प्रकार संगति बैठ सकती है ? क्योंकि नौ यौजन से अधिक दूर से जो पुद्गल आते है उनकी गंध अत्यन्त मंद हो जाती है, जिससे वे घ्राणेन्द्रिय के विषय नहीं हो सकते हैं।

इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने कहा है कि यद्यपि नियम तो ऐसा ही है किन्तु जो पुद्गल अति उत्कट गंध वाले होते हैं, उनके नौ योजन तक पहुँचने पर जो दूसरे पुद्गल उनसे मिलते है, उनमें अपनी गन्ध संक्रांत कर देते हैं और फिर वे पुद्गल भी आगे जाकर दूसरे पुद्गलों को अपनी गंध से वासित कर देते हैं। इस प्रकार ऊपर-ऊपर पुद्गल चार सौ, पाँच-सौ योजन तक पहुँचते हैं। परन्तु यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है कि ऊपर-ऊपर वह गंध मंद-मद होती जाती है। इसी प्रकार से मनुष्यलोक संबंधी दुर्गन्ध साधारणतया चार सौ योजन तक और यदि दुर्गन्ध अत्यन्त तीव्र हो तब पाँच सौ योजन तक पहुंचती है, इसीलिए मूलशास्त्र में चार सौ, पाँच सौ ये दो संख्यायें बताई हैं।

इस संबंध में स्थानांग के टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि का मंतव्य है कि इससे मनुष्यक्षेत्र के दुर्गन्धित स्वरूप को सूचित किया गया है। वस्तुतः देव अथवा दूसरा कोई नौ योजन से अधिक दूर से आगत पुद्गलों की गंध नहीं जानता है, जान नहीं सकता है। शास्त्र में इन्द्रियों का जो विषय-प्रमाणु बतलाया है, वह संभव है कि औदारिक शरीर संबंधी इन्द्रियों की अपेक्षा कहा हो। भरतादि क्षेत्र में एकान्त सुखमा काल होने पर उसकी दुर्गन्ध चार सौ योजन तक और वह काल न हो तव पांच सौ योजन तक पहुँचती है, इसीलिए दो संख्याएँ बताई हैं।

२४८—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—

अत्थि णं भंते ! एस पण्णा उवमा, इमेणं पुण कारणेणं णो उवागच्छति, एवं खलु भंते ! अहं अन्नया कयाइं वाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेग गणणायक-दंडणायग-राय-ईसर-तलवर-माडंविय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-मंति-महामंति-गणग-दोवारिय-अमच्च-चेड-पीढमद्द-नगर-निगम-दूय-संधिवालेहिं सद्धिं संपरिवुडे विहरामि। तए णं मम णगरगुत्तिया ससक्खं सलोद्दं सगेवेज्जं अवउडबंधणबद्धं चोरं उवणेंति।

तए णं अहं तं पुरिसं जीवंतं चेव अउकुंभीए पक्खिवावेमि, अउमएणं पिहाणएणं पिहावेमि, अएण य तउएण य आयावेमि, आयपच्चइयएहिं पुरिसेहिं रक्खावेमि।

तए णं अहं अण्णया कयाइं जेणामेव सा अउकुंभी तेणामेव उवागच्छामि, उवागच्छित्ता तं अउकुंभिं उग्गलच्छावेमि, उग्गलच्छावित्ता तं पुरिसं सयमेव पासामि, णो चेव णं तीसे अयकुंभीए केइ छिड्डे इ वा विवरे वा अंतरे इ वा राई वा जओ णं से जीवे अंतोहिंतो वहिया णिग्गए।

जइ णं भंते ! तीसे अउकुंभीए होज्जा केई छिड्डे वा जाव राई वा जओ णं से जीवे अंतोहिंतो वहिया णिग्गए, तो णं अहं सद्दहेज्जा-पत्तिएज्जा-रोएज्जा जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तं जीवो तं सरीरं, जम्हा णं भंते ! तीसे अउकुंभीए णत्थि केइ छिड्डे वा जाव निग्गए, तम्हा सुपतिट्ठिया मे पइन्ना जहा—तं जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं।

२४८—केशी कुमारश्रमण के इस उत्तर को सुनने के अनन्तर राजा प्रदेशी ने केशी कुमार-श्रमण से इस प्रकार कहा—

हे भदन्त ! जीव और शरीर की भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए अपने देवों के नहीं आने के कारण रूप में जो उपमा दी, वह तो बुद्धि से कल्पित एक दृष्टान्त मात्र है और देव इन कारणों से मनुष्यलोक में नहीं आते हैं। परन्तु भदन्त ! किसी एक दिन मैं अपने अनेक गणनायक (समूह के मुखिया), दंडनायक (अपराध का विचार करने वाले), राजा (जागीरदार), ईश्वर (युवराज), तलवर (राजा की ओर से स्वर्णपट्ट प्राप्त करने वाले), माडंबिक (पांच सौ गाँव के स्वामी), कौटुम्बिक (ग्रामप्रधान), इब्भ (अनेकों करोड़ धन-संपत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (प्रमुख व्यापारी), सेनापति, सार्थवाह (देश-देशान्तर जाकर व्यापार करने वाले), मंत्री, महामंत्री, गणक (ज्योतिषशास्त्र वेत्ता), दौवारिक (राजसभा का रक्षक), अमात्य, चेट (सेवक), पीठमर्दक (समवयस्क मित्र विशेष), नागरिक, व्यापारी, दूत, संधिपाल आदि के साथ अपनी बाह्य उपस्थानशाला (सभाभवन) में बैठा हुआ था। उसी समय नगर-रक्षक चुराई हुई वस्तु और साक्षी-गवाह सहित गरदन और पीछे दोनों हाथ बांधे एक चोर को पकड़ कर मेरे सामने लाये।

तब मैंने उसे जीवित ही एक लोहे की कुंभी में बंद करवा कर अच्छी तरह लोहे के ढक्कन से उसका मुख ढँक दिया। फिर गरम लोहे एवं रांगे से उस पर लेप करा दिया और देखरेख के लिये अपने विश्वासपात्र पुरुषों को नियुक्त कर दिया।

तत्पश्चात् किसी दिन मैं उस लोहे की कुंभी के पास गया। वहाँ जाकर मैंने उस लोहे की कुंभी को खुलवाया। खुलवा कर मैने स्वयं उस पुरुष को देखा तो वह मर चुका था। किन्तु उस लोह कुंभी में राई जितना न कोई छेद था, न कोई विवर था, न कोई अंतर था और न कोई दरार थी कि जिसमें से उस (अंदर बंद) पुरुष का जीव बाहर निकल जाता।

यदि उस लोहकुंभी में कोई छिद्र यावत् दरार होती तो हे भदन्त ! मैं यह मान लेता कि भीतर बंद पुरुष का जीव बाहर निकल गया है और तब उससे आपकी बात पर विश्वास कर लेता, प्रतीति कर लेता एवं अपनी रुचि का विषय बना लेता—निर्णय कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, किन्तु जीव शरीर रूप नहीं और शरीर जीव रूप नहीं है।

लेकिन उस लोहकुंभी में जब कोई छिद्र ही नहीं है यावत् जीव नही है तो हे भदन्त ! मेरा यह मंतव्य ठीक है कि जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है, जीव शरीर से भिन्न नहीं और शरीर जीव से भिन्न नहीं है।

२४९—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

पएसी ! से जहा नामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता-गुत्ता-गुत्तदुवारा-णिवायगंभीरा। अह णं केइ पुरिसे भेरिं च दंडं च गहाय कूडागारसालाए अंतो अंतो अणुप्पविसति, तीसे कूडागारसालाए सव्वतो समंता घण-निचिय-निरंतर-णिच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिहेइ, तीसे कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए ठिच्चा तं भेरिं दंडएणं महया-महया सद्देणं तालेज्जा, से णूणं पएसी ! से सद्दे णं अंतोहिंतो बहिया निग्गच्छइ ?

हंता णिग्गच्छइ।

अत्थि णं पएसी ! तीसे कूडागारसालाए केइ छिड्डे वा जाव राई वा जओ णं से सद्दे अंतोहिंतो बहिया णिग्गए ?

नो तिणट्ठे समट्ठे ।

एवामेव पएसी ! जीवे वि अप्पडिहयगई पुढविं भिच्चा, सिलं भिच्चा, पव्वयं भिच्चा अंतोहिंतो बहिया णिग्गच्छइ, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! अण्णो जीवो तं चेव ।

२४९—प्रदेशी राजा की इस युक्ति को सुनने के पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—

हे प्रदेशी ! जैसे कोई एक कूटाकारशाला (पर्वत के शिखर जैसी आकृति वाला भवन) हो और वह भीतर-बाहर चारों ओर लीपी हुई हो, अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार भी गुप्त हो और हवा का प्रवेश भी जिसमें नही हो सके, ऐसी गहरी हो। अब यदि उस कूटाकारशाला में कोई पुरुष भेरी और बजाने के लिए डंडा लेकर घुस जाये और घुसकर उस कूटाकारशाला के द्वार आदि को इस प्रकार चारों ओर से बंद कर दे कि जिससे कही पर भी थोड़ा-सा अतर नही रहे और उसके बाद उस कूटाकारशाला के बीचों-बीच खड़े होकर डंडे से भेरी को जोर-जोर से वजाये तो हे प्रदेशी ! तुम्ही बताओ कि वह भीतर की आवाज बाहर निकलती है अथवा नही ? अर्थात् सुनाई पड़ती है या नही ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! निकलती है।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! क्या उस कूटाकारशाला में कोई छिद्र यावत् दरार है कि जिसमें से वह शब्द बाहर निकलता हो ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात् वहाँ पर कोई छिद्रादि नही कि जिससे शब्द बाहर निकल सके।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार प्रदेशी ! जीव भी अप्रतिहत गति वाला है। वह पृथ्वी का भेदन कर, शिला का भेदन कर, पर्वत का भेदन कर भीतर से बाहर निकल जाता है। इसीलिए हे प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा--प्रतीति करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न (पृथक्-पृथक्) हैं, जीव शरीर नही है और शरीर जीव नही है।

२५०—तए णं पएसी राया केसि कुमारसमणं एवं वदासी—

अत्थि णं भंते ! एस पण्णा उवमा, इमेणं पुण कारणेणं णो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! अहं अन्नया कयाइ बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए जाव[1] विहरामि, तए णं ममं णगरगुत्तिया ससक्खं जाव[2] उवणेंति, तए णं अहं (तं) पुरिसं जीवियाओ ववरोवेमि, जीवियाओ ववरोवेत्ता अयोकुंभीए पक्खिवावेमि, अउमएणं पिहावेमि जाव[3] पच्चइएहिं पुरिसेहिं रक्खावेमि ।

तए णं अहं अन्नया कयाइं जेणेव सा कुंभी तेणेव उवागच्छामि, तं अउकुंभिं उग्गलच्छावेमि, तं अउकुंभि किमिकुंभि पिव पासामि। णो चेव णं तीसे अउकुंभीए केइ छिड्डे इ वा जाव राई वा जता णं ते जीवा बहियाहिंतो अणुपविट्ठा, जति णं तीसे अउकुंभीए होज्ज केइ छिड्डे इ वा जाव

१-२. देखें सूत्र संख्या २४८

३. देखें सूत्र संख्या २४८

अणुपविट्ठा, तेणं अहं सद्दहेज्जा जहा—अन्नो जीवो तं चेव, जम्हा णं तीसे अउकुंभीए नत्थि केइ छिड्डे इ वा जाव अणुपविट्ठा तम्हा सुपतिट्ठिआ मे पइण्णा जहा—तं जीवो तं सरीरं तं चेव।

२५०—इस उत्तर को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार कहा—

भदन्त ! यह आप द्वारा प्रयुक्त उपमा तो बुद्धिविशेष रूप है, इससे मेरे मन में जीव और शरीर की भिन्नता का विचार युक्तियुक्त प्रतीत नही होता है। क्योंकि हे भदन्त ! किसी समय मैं अपनी बाहरी उपस्थानशाला में गणनायक आदि के साथ बैठा हुआ था। तब मेरे नगररक्षकों ने साक्षी सहित यावत् एक चोर पुरुष को उपस्थित किया। मैने उस पुरुष को प्राणरहित कर दिया अर्थात् मार डाला और मारकर एक लोहकुंभी में डलवा दिया, ढक्कन से ढांक दिया यावत् अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रक्षा के लिये नियुक्त कर दिया।

इसके बाद किसी दिन जहाँ वह कुंभी थी, मै वहाँ आया। आकर उस लोहकुंभी को उघाड़ा तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा। लेकिन उस लोहकुंभी में न तो कोई छेद था, न कोई दरार थी कि जिसमें से वे जीव बाहर से उसमें प्रविष्ट हो सके। यदि उस लोहकुंभी में कोई छेद होता यावत् दरार होती तो यह माना जा सकता था—मान लेता कि वे जीव उसमे से होकर कुंभी में प्रविष्ट हुए हैं और तब मैं श्रद्धा कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। लेकिन जब उस लोहकुंभी में कोई छेद आदि नहीं थे, फिर भी उसमें जीव प्रविष्ट हो गये। अतः मेरी यह प्रतीति सुप्रतिष्ठित-समीचीन है कि जीव और शरीर एक ही हैं अर्थात् जीव शरीर रूप है और शरीर जीव रूप है।

२५१—तए णं केसी कुमारसमणे पएसीं रायं एवं वयासी—

अत्थि णं तुमे पएसी ! कयाइ अए धंतपुव्वे वा धम्मावियपुव्वे वा ?

हंता अत्थि।

से णूणं पएसी ! अए धंते समाणे सव्वे अगणिपरिणए भवति ?

हंता भवति।

अत्थि णं पएसी ! तस्स अयस्स केइ छिड्डे इ वा जेणं से जोई बहियाहितो अंतो अणुपविट्ठे ?

नो इणमट्ठे (इणट्ठे) समट्ठे।

एवामेव पएसी ! जीवो वि अप्पडिहयगई पुढविं भिच्चा, सिलं भिच्चा बहियाहितो अणुपविसइ, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! तहेव।

२५१—तत्पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! क्या तुमने पहले कभी अग्नि से तपाया हुआ लोहा देखा है अथवा स्वयं लोहे को तपवाया है ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! देखा है।

केशी कुमारश्रमण—तब हे प्रदेशी ! तपाये जाने पर वह लोहा पूर्णतया अग्नि रूप में परिणत हो जाता है या नहीं ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! हो जाता है।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! उस लोहे में कोई छिद्र आदि है क्या, जिससे वह अग्नि बाहर से उसके भीतर प्रविष्ट हो गई ?

प्रदेशी—भदन्त ! यह अर्थ तो समर्थ नहीं है। अर्थात् उस लोहे में कोई छिद्र आदि नहीं होता।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! जीव भी अप्रतिहत गति वाला है, जिससे वह पृथ्वी, शिला आदि का भेदन करके बाहर से भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसीलिए हे प्रदेशी ! तुम इस बात की श्रद्धा—प्रतीति करो कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है।

विवेचन—केशी कुमारश्रमण के कथन का यह आशय है कि ये जीव दूसरी गति से च्यवन कर इस मृतक शरीर में आकर उत्पन्न हुए हैं।

२५२—तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी—

अत्थि णं भंते ! एस पण्णा उवमा, इमेण पुण मे कारणेणं नो उवागच्छइ, अत्थि णं भंते ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे जाव सिप्पोवगए पभू पंचकंडगं निसिरित्तए ?

हंता, पभू।

जति णं भंते ! सो च्चेव पुरिसे बाले जाव मंदविन्नाणे पभू होज्जा पंचकंडगं निसिरित्तए, तो णं अहं सद्दहेज्जा जहा—अन्नो जीवो तं चेव, जम्हा णं भंते ! स चेव से पुरिसे जाव मंदविन्नाणे णो पभू पंचकंडगं निसिरित्तए, तम्हा सुपइट्ठिया मे पइण्णा जहा—तं जीवो तं चेव।

२५२—पूर्वोक्त युक्ति को सुनकर प्रदेशी राजा ने केशीकुमारश्रमण से कहा—बुद्धि-विशेष-जन्य होने से आपकी उपमा वास्तविक नही है। किन्तु जो कारण मै बता रहा हूँ, उससे जीव और शरीर की भिन्नता सिद्ध नहीं होती है। वह कारण इस प्रकार है—

हे भदन्त ! जैसे कोई एक तरुण यावत् (युगवान, बलशाली, निरोग, स्थिर संहनन वाला, सुदृढ़ पहुँचा वाला, हाथ-पैर-पीठ-जंघाओ आदि से सपन्न, सघन-सुदृढ़ गोल-गोल कंधे वाला, चमड़े के पट्टों, मुष्टिकाओ आदि के प्रहारों से सुगठित शरीर वाला, हृदय बल से सपन्न, सहोत्पन्न ताल वृक्ष के समान बाहु-युगल वाला, लाघने-कूदने-चलने में समर्थ, चतुर, दक्ष, कुशल, बुद्धिमान्) और अपना कार्य सिद्ध करने में निपुण पुरुष क्या एक साथ पाच बाणों को निकालने मे समर्थ है ?

केशी कुमारश्रमण—हाँ वह समर्थ है।

प्रदेशी—लेकिन वही पुरुष यदि बाल यावत् मंदविज्ञान वाला होते हुए भी पांच बाणों को एक साथ निकालने में समर्थ होता तो हे भदन्त ! मै यह श्रद्धा कर सकता था कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है, जीव शरीर नहीं है। लेकिन वही बाल, मंदविज्ञान वाला पुरुष पांच बाणों को एक साथ निकालने में समर्थ नहीं है, इसलिये भदन्त ! मेरी यह धारणा कि जीव और शरीर एक है, जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है, सुप्रतिष्ठित—प्रामाणिक, सुसंगत है।

२५३—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे जाव सिप्पोवगए णवएणं घणुणा नवियाए जीवाए नवएणं इसुणा पभू पंचकंडगं निसिरित्तए ?

हंता, पभू ।

सो चेव णं पुरिसे तरुणे जाव निउणसिप्पोवगते कोरिल्लिएणं धणुणा कोरिल्लियाए जीवाए कोरिल्लिएणं इसुणा पभू पंचकंडगं निसिरित्तए ?

णो तिणमट्ठे समट्ठे ।

कम्हा णं ?

भंते ! तस्स पुरिसस्स अपज्जत्ताइं उवगरणाइं हवंति ।

एवामेव पएसी ! सो चेव पुरिसे बाले जाव मंदविन्नाणे अपज्जत्तोवगरणे, णो पभू पंचकंडयं निसिरित्तए, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! जहा अन्नो जीवो तं चेव ।

२५३—राजा प्रदेशी के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—जैसे कोई एक तरुण यावत् कार्य करने में निपुण पुरुष नवीन धनुष, नई प्रत्यंचा (डोरी) और नवीन बाण से क्या एक साथ पांच वाण निकालने मे समर्थ है अथवा नही है ?

प्रदेशी—हाँ समर्थ है ।

केशी कुमारश्रमण—लेकिन वही तरुण यावत् कार्य-कुशल पुरुष जीर्ण-शीर्ण, पुराने धनुष, जीर्ण प्रत्यंचा और वैसे ही जीर्ण बाण से क्या एक साथ पाँच वाणों को छोड़ने मे समर्थ हो सकता है ?

प्रदेशी—भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नही है । अर्थात् पुराने धनुष आदि से वह एक साथ पाच वाण छोड़ने में समर्थ नहीं होगा ।

केशी कुमारश्रमण—क्या कारण है कि जिससे यह अर्थ समर्थ नही है ?

प्रदेशी—भदन्त ! उस पुरुष के पास उपकरण (साधन) अपर्याप्त है ।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! वह बाल यावत् मंदविज्ञान पुरुष योग्यता रूप उपकरण की अपर्याप्तता के कारण एक साथ पांच वाणों को छोड़ने में समर्थ नही हो पाता है। अत: प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा-प्रतीति करो कि जीव और शरीर पृथक्-पृथक् है, जीव शरीर नही और शरीर जीव नही है ।

२५४—तए णं पएसी राया केसीकुमारसमणं एवं वयासी—

अत्थि णं भंते ! एस पण्णा उवमा, इमेण पुण कारणेणं नो उवागच्छइ, भंते ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे जाव सिप्पोवगते पभू एगं महं अयभारगं वा तउयभारगं वा सीसगभारगं वा परिवहित्तए ?

हंता पभू ।

सो चेव णं भंते ! पुरिसे जुन्ने जराजज्जरियदेहे सिढिलवलितयाविणट्ठगत्ते दंडपरिग्गहियग्ग-हत्थे पविरलपरिसडियदंतसेढी आउरे किसिए पिवासिए दुब्बले किलंते नो पभू एगं महं अयभारगं वा जाव परिवहित्तए, जति णं भंते ! सच्चेव पुरिसे जुन्ने जराजज्जरियदेहे जाव परिकिलंते पभू एगं महं अयभारं वा जाव परिवहित्तए तो णं सद्दहेज्जा तहेव, जम्हा णं भंते ! से चेव पुरिसे जुन्ने जाव किलंते नो पभू एगं महं अयभारं वा जाव परिवहित्तए, तम्हा सुपतिट्ठिता मे पइण्णा तहेव ।

२५४—इस उत्तर को सुनकर प्रदेशी राजा ने पुनः केशी कुमारश्रमण से कहा—हे भदन्त ! यह तो प्रज्ञाजन्य उपमा है, वास्तविक नही है। किन्तु मेरे द्वारा प्रस्तुत हेतु से तो यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर में भेद नही है। वह हेतु इस प्रकार है—

भदन्त ! कोई एक तरुण यावत् कार्यक्षम पुरुष एक विशाल वजनदार लोहे के भार को, सीसे के भार को या रांगे के भार को उठाने में समर्थ है अथवा नहीं है ?

केशी कुमारश्रमण—हाँ समर्थ है।

प्रदेशी—लेकिन भदन्त ! जब वही पुरुष वृद्ध हो जाए और वृद्धावस्था के कारण शरीर जर्जरित, शिथिल, झुर्रियों वाला एवं अशक्त हो, चलते समय सहारे के लिए हाथ में लकड़ी ले, दंतपंक्ति में से बहुत से दांत गिर चुके हों, खाँसी, श्वास आदि रोगों से पीड़ित होने के कारण कमजोर हो, भूख-प्यास से व्याकुल रहता हो, दुर्बल और क्लान्त—थका-मांदा हो तो उस वजनदार लोहे के भार को, रांगे के भार को अथवा सीसे के भार को उठाने में समर्थ नही हो पाता है। हे भदन्त ! यदि वही पुरुष वृद्ध, जरा-जर्जरित शरीर यावत् परिक्लान्त होने पर भी उस विशाल लोहे के भार आदि को उठाने में समर्थ होता तो मैं यह विश्वास कर सकता था कि जीव शरीर से भिन्न है और शरीर जीव से भिन्न है, जीव और शरीर एक नही है। लेकिन भदन्त ! वह पुरुप वृद्ध यावत् क्लान्त हो जाने से एक विशाल लोहे के भार आदि को उठाने में समर्थ नही है। अतः मेरी यह धारणा सुसगत—समीचीन है कि जीव और शरीर दोनो एक ही है, किन्तु जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नही है।

२५५—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे जाव सिप्पोवगए णवियाए विहंगियाए, णवएहिं सिक्कएहिं, णवएहिं पच्छियपिंडएहिं पहू एगं महं अयभारं जाव (वा तउयभारं वा सीसगभारं वा) परिवहित्तए ?

हंता पभू ।

पएसी ! से चेव णं पुरिसे तरुणे जाव सिप्पोवगए जुन्नियाए दुब्बलियाए घुणक्खइयाए विहंगियाए जुण्णएहिं दुब्बलएहिं घुणक्खइएहिं सिढिलतयापिणद्धएहिं सिक्कएहिं, जुण्णएहिं दुब्बलिएहिं घुणखइएहिं पच्छिपिंडएहिं पभू एगं महं अयभारं वा जाव परिवहित्तए ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

कम्हा णं ?

भंते ! तस्स पुरिसस्स जुन्नाइं उवगरणाइं भवंति ।

पएसी ! से चेव से पुरिसे जुन्ने जाव[1] किलंते जुत्तोवगरणे नो पभू एगं महं अयभारं वा जाव परिवहित्तए, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं।

२५५—प्रदेशी राजा की इस बात को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने राजा प्रदेशी से कहा—जैसे कोई एक तरुण यावत् कार्यनिपुण पुरुष नवीन कावड़ से, रस्सी से बने नवीन सीके से और नवीन टोकनी से एक बहुत बड़े, वजनदार लोहे के भार को यावत् (रांगे और सीसे के भार को) वहन करने में (उठाने, ढोने में) समर्थ है या नही है ?

प्रदेशी—हाँ समर्थ है।

केशी कुमारश्रमण—अब मैं पुनः तुम से पूछता हूँ कि—हे प्रदेशी ! वही तरुण यावत् कार्य-कुशल पुरुष क्या सड़ी-गली, पुरानी, कमजोर, घुन से खाई हुई कावड़ से, जीर्ण-शीर्ण, दुर्बल, दीमक के खाये एव ढीले-ढाले सीके से, और पुराने, कमजोर और दीमक लगे टोकने से एक बड़े वजनदार लोहे के भार आदि को ले जाने में समर्थ है ?

प्रदेशी—हे भदन्त ! यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात् जीर्ण-शीर्ण कावड़ आदि से भार ले जाने में समर्थ नहीं है।

केशी कुमारश्रमण—क्यों समर्थ नही है ?

प्रदेशी—क्योंकि भदन्त ! उस पुरुष के पास भारवहन करने के उपकरण—साधन जीर्ण-शीर्ण हैं।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! वह पुरुष जीर्ण यावत् क्लान्त शरीर आदि उपकरणों वाला होने से एक भारी वजनदार लोहे के भार को यावत् (सीसे के भार को, रांगे के भार को) वहन करने में समर्थ नही है। इसीलिए प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं है और शरीर जीव नहीं।

२५६—तए णं से पएसी केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

अत्थि णं भंते ! जाव (एस पण्णा उवमा इमेण पुण कारणेणं) नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते ! जाव[2] विहरामि। तए णं मम णगरगुत्तिया चोरं उवणेंति। तए णं अहं तं पुरिसं जीवंतगं चेव तुलेमि, तुलेत्ता छविच्छेयं अकुव्वमाणे जीवियाओ ववरोवेमि, मयं तुलेमि, णो चेव णं तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स वा मुयस्स वा तुलियस्स केइ आणत्ते वा, नाणत्ते वा, ओमत्ते वा, तुच्छत्ते वा गुरुयत्ते वा, लहुयत्ते वा, जति णं भंते ! तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा तुलियस्स केइ अन्नत्ते वा जाव लहुयत्ते वा तो णं अहं सद्दहेज्जा तं चेव।

जम्हा णं भंते ! तस्स पुरिसस्स जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा तुलियस्स नत्थि केइ अन्नत्ते वा लहुयत्ते वा तम्हा सुपतिट्ठिया मे पइन्ना जहा—तं जीवो तं चेव।

२५६—इसके बाद उस प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से ऐसा कहा—हे भदन्त ! आपकी यह उपमा वास्तविक नहीं है, इससे जीव और शरीर की भिन्नता नही मानी जा सकती

---

१. देखे सूत्र संख्या २५४
२. देखें सूत्र संख्या २४६

। लेकिन जो प्रत्यक्ष कारण मैं बताता हूँ, उससे यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर एक ही
। वह कारण इस प्रकार है—

हे भदन्त ! किसी एक दिन मैं गणनायक आदि के साथ बाहरी उपस्थानशाला में बैठा था।
ी समय मेरे नगररक्षक चोर को पकड़ कर लाये। तब मैंने उस पुरुष को जीवित अवस्था में
ला। तोलकर फिर मैंने अंगभंग किये बिना ही उसको जीवन रहित कर दिया—मार डाला और
र कर फिर मैंने उसे तोला। उस पुरुष का जीवित रहते जो तोल था उतना ही मरने के बाद
। जीवित रहते और मरने के बाद के तोल में मुझे किसी भी प्रकार का अंतर—न्यूनाधिकता
ाई नही दी, न उसका भार बढा और न कम हुआ, न वह वजनदार हुआ और न हल्का हुआ।
लिए हे भदन्त ! यदि उस पुरुष के जीवितावस्था के वजन से मृतावस्था के वजन में किसी
ार की न्यूनाधिकता हो जाती, यावत् हलकापन आ जाता तो मैं इस बात पर श्रद्धा कर लेता
जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव और शरीर एक नहीं है।

लेकिन भदन्त ! मैंने उस पुरुष की जीवित और मृत अवस्था में किये गये तोल में किसी
ार की भिन्नता, न्यूनाधिकता यावत् लघुता नहीं देखी। इस कारण मेरा यह मानना समीचीन
क जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है किन्तु जीव और शरीर भिन्न-भिन्न
ं है।

२५७—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

अत्थि णं पएसी ! तुमे कयाइ वत्थी धंतपुव्वे वा धमावियपुव्वे वा ?

हंता अत्थि।

अत्थि णं पएसी तस्स वत्थिस्स पुण्णस्स वा तुलियस्स अपुण्णस्स वा तुलियस्स केइ अण्णत्ते वा
र लहुयत्ते वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे।

एवामेव पएसी ! जीवस्स अगुरुलघुयत्तं पडुच्च जीवंतस्स वा तुलियस्स मुयस्स वा तुलियस्स
थ केइ आणत्ते वा जाव लहुयत्ते वा, तं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! तं चेव।

२५७—इसके बाद केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—हे प्रदेशी ! तुमने
ी धौंकनी में हवा भरी है अथवा किसी से भरवाई है ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! भरी है और भरवाई है।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! जब वायु से भर कर उस धौंकनी को तोला तब और वायु
निकाल कर तोला तब तुमको उसके वजन में कुछ न्यूनाधिकता यावत् लघुता मालूम हुई ?

प्रदेशी—भदन्त ! यह अर्थ तो समर्थ नही है, यानी न्यूनाधिकता यावत् लघुता कुछ भी
ज्ञात नही हुई।

केशी कुमारश्रमण—तो इसी प्रकार हे प्रदेशी ! जीव के अगुरुलघुत्व को समझ कर उस
र के शरीर के जीवितावस्था में किये गये तोल मे और मृतावस्था मे किये गये तोल में कुछ भी

नानात्व यावत् लघुत्व नहीं है। इसीलिए हे प्रदेशी! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, किन्तु जीव-शरीर एक नहीं हैं।

२५८—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

अत्थि णं भंते! एसा जाव[1] नो उवागच्छइ, एवं खलु भंते! अहं अन्नया जाव[2] चोरं उवणेति। तए णं अहं तं पुरिसं सव्वतो समंता समभिलोएभि, नो चेव णं तत्थ जीवं पासामि, तए णं अहं तं पुरिसं दुहा फालियं करेमि, करित्ता सव्वतो समंता समभिलोएमि, नो चेव णं तत्थ जीवं पासामि, एवं तिहा चउहा संखेज्जफालियं करेमि, णो चेव णं तत्थ जीवं पासामि। जइ णं भंते! अहं तं पुरिसं दुहा वा, तिहा वा, चउहा वा, संखेज्जहा वा फालियंमि वा जीवं पासंतो तो णं अहं सद्दहेज्जा नो तं चेव, जम्हा णं भंते! अहं तंसि दुहा वा तिहा वा चउहा वा संखिज्जहा वा फालियंमि वा जीवं न पासामि तम्हा सुपतिट्ठिया मे पइण्णा जहा—तं जीवो तं सरीरं तं चेव।

२५८—केशी कुमारश्रमण की उक्त बात को सुनने के पश्चात् प्रदेशी राजा ने पुनः केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार कहा—हे भदन्त! आपकी यह उपमा बुद्धिप्रेरित होने से वास्तविक नही है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि जीव और शरीर पृथक्-पृथक् है। क्योंकि भदन्त! बात यह है कि किसी समय मैं अपने गणनायकों आदि के साथ बाह्य उपस्थानशाला में बैठा था। यावत् नगररक्षक एक चोर पकड़ कर लाये। तब मैंने उस पुरुष को सभी ओर से (सिर से पैर तक) अच्छी तरह देखा-भाला, परन्तु उसमें मुझे कहीं भी जीव दिखाई नही दिया। इसके बाद मैने उस पुरुष के दो टुकड़े कर दिये। टुकड़े करके फिर मैने अच्छी तरह सभी ओर से देखा। तब भी मुझे जीव नही दिखा। इसके बाद मैने उसके तीन, चार यावत् संख्यात टुकड़े किये, परन्तु उनमें भी मुझे कही पर जीव दिखाई नही दिया। यदि भदन्त! मुझे उस पुरुष के दो, तीन, चार अथवा संख्यात टुकड़े करने पर भी कही जीव दिखता तो मैं यह श्रद्धा-विश्वास कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव और शरीर एक नही है। लेकिन हे भदन्त! जब मैने उस पुरुष के दो, तीन, चार अथवा संख्यात टुकड़ों में भी जीव नही देखा है तो मेरी यह धारणा कि जीव शरीर है और शरीर जीव है, जीव-शरीर भिन्न-भिन्न नही है, सुसंगत—सुस्थिर है।

२५९—तए णं केसिकुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

मूढतराए णं तुमं पएसी! ताओ तुच्छतराओ।

के णं भंते! तुच्छतराए?

पएसी! से जहाणामए केइ पुरिसे वणत्थी वणोवजीवी वणगवेसणयाए जोइं च जोइभायणं च गहाय कट्ठाणं अडविं अणुपविट्ठा, तए णं ते पुरिसा तीसे अगामियाए जाव किंचिदेसं अणुप्पत्ता समाणा एगं पुरिसं एवं वयासी—अम्हे णं देवाणुप्पिया! कट्ठाणं अडविं पविसामो, एत्तो णं तुमं जोइभायणाओ जोइं गहाय अम्हं असणं साहेज्जासि। अह तं जोइभायणे जोई विज्झवेज्जा एत्तो णं तुमं कट्ठाओ जोइं गहाय अम्हं असणं साहेज्जासि, त्ति कट्टु कट्ठाणं अडविं अणुपविट्ठा।

---

१. देखें सूत्र संख्या २५४

२. देखें सूत्र संख्या २४८

तए णं से पुरिसे तओ मुहुत्तन्तरस्स तेसिं पुरिसाणं असणं साहेमि त्ति कट्टु जेणेव जोतिभायणे तेणेव उवागच्छइ। जोइभायणे जोइं विज्झायमेव पासति। तए णं से पुरिसे जेणेव से कट्ठे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तं कट्ठं सव्वओ समंता समभिलोएति, नो चेव णं तत्थ जोइं पासति। तए णं से पुरिसे परियरं बंधइ, फरसुं गिण्हइ, तं कट्ठं दुहा फालियं करेइ, सव्वतो समंता समभिलोएइ, णो चेव णं तत्थ जोइं पासइ। एवं जाव संखेज्जफालियं करेइ, सव्वतो समंता समभिलोएइ, नो चेव णं तत्थ जोइं पासइ।

तए णं से पुरिसे तंसि कट्ठंसि दुहाफालिए वा जाव संखेज्जफालिए वा जोइं अपासमाणे संते तंते परिसंते निव्विण्णे समाणे परसुं एगंते एडेइ, परियरं मुयइ एवं वयासी—अहो! मए तेसिं पुरिसाणं असणे नो साहिए त्ति कट्टु ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ।

तए णं ते पुरिसा कट्ठाइं छिंदंति, जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छंति। तं पुरिसं ओहयमण-संकप्पं जाव झियायमाणं पासंति एवं वयासी—किं णं तुमं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पे जाव झियायसि?

तए णं से पुरिसे एवं वयासी—तुज्झे णं देवाणुप्पिया! कट्ठाणं अडविं अणुपविसमाणा ममं एवं वयासी—अम्हे णं देवाणुप्पिया! कट्ठाणं अडविं जाव पविट्ठा, तए णं अहं तत्तो मुहुत्तंतरस्स तुज्झं असणं साहेमि त्ति कट्टु जेणेव जोइभायणे जाव झियामि।

तए णं तेसिं पुरिसाणं एगे पुरिसे छेए, दक्खे, पत्तट्ठे जाव उवएसलद्धे, ते पुरिसे एवं वयासी—गच्छह णं तुज्झे देवाणुप्पिया! ण्हाया कयबलिकम्मा जाव हव्वमागच्छेह, जा णं अहं असणं साहेमि त्ति कट्टु परियरं बंधइ, परसुं गिण्हइ सरं करेइं सरेण अरणिं महेइ जोइं पाडेइ, जोइं संधुक्खेइ, तेसिं पुरिसाणं असणं साहेइ।

तए णं ते पुरिसा ण्हाया कयबलिकम्मा जाव पायच्छित्ता जेणेव से पुरिसे तेणेव उवागच्छंति, तए णं से पुरिसे तेसिं पुरिसाणं सुहासणवरगयाणं तं विउलं असणं-पाणं-खाइमं-साइमं उवणेइ। तए णं ते पुरिसा तं विउलं असणं ४ (पाणं-खाइमं-साइमं) आसाएमाणा वीसाएमाणा जाव विहरंति। जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया तं पुरिसं एवं वयासी—अहो! णं तुमं देवाणुप्पिया! जड्डे-मूढे-अपंडिए-णिव्विण्णाणे-अणुवएसलद्धे, जे णं तुमं इच्छसि कट्ठंसि दुहाफालियंसि वा जोतिं पासित्तए।

से एएणट्ठेणं पएसी! एवं वुच्चइ मुढतराए णं तुमं पएसी! ताओ तुच्छतराओ।

२५९—प्रदेशी राजा के इस कथन को सुनने के अनन्तर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी! तुम तो मुझे उस दीन-हीन कठियारे (लकड़ी ढोने वाले) से भी अधिक मूढ—विवेकहीन प्रतीत होते हो।

प्रदेशी—हे भदन्त! कौनसा दीन-हीन कठियारा?

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी! वन में रहने वाले और वन से आजीविका कमाने वाले कुछ-एक पुरुष वनोत्पन्न वस्तुओं की खोज में आग और अंगीठी लेकर लकड़ियों के वन में प्रविष्ट हुए।

प्रविष्ट होने के पश्चात् उन पुरुषों ने दुर्गम वन के किसी प्रदेश में पहुँचने पर अपने एक साथी से कहा—देवानुप्रिय ! हम इस लकड़ियों के जंगल में जाते है। तुम यहाँ अंगीठी से आग लेकर हमारे लिये भोजन तैयार करना। यदि अंगीठी में आग बुझ जाये तो तुम इस लकड़ी से आग पैदा करके हमारे लिए भोजन बना लेना। इस प्रकार कहकर वे सब उस काष्ठ-वन में प्रविष्ट हो गए।

उनके चले जाने पर कुछ समय पश्चात् उस पुरुष ने विचार किया—चलो उन लोगों के लिए जल्दी से भोजन बना लूँ। ऐसा विचार कर वह जहाँ अंगीठी रखी थी, वहाँ आया। आकर अंगीठी में आग को बुझा हुआ देखा। तब वह पुरुष वहाँ पहुँचा जहाँ वह काष्ठ पड़ा हुआ था। वहाँ पहुँचकर चारों ओर से उसने काष्ठ को अच्छी तरह देखा, किन्तु कही भी उसे आग दिखाई नहीं दी। तब उस पुरुष ने कमर कसी और कुल्हाड़ी लेकर उस काष्ठ के दो टुकड़े कर दिये। फिर उन टुकड़ों को भी सभी ओर से अच्छी तरह देखा, किन्तु कहीं आग दिखाई नही दी। इसी प्रकार फिर तीन, चार, पाँज यावत् संख्यात टुकड़े किये परन्तु देखने पर भी उनमें कहीं आग दिखाई नहीं दी।

इसके बाद जब उस पुरुष को काष्ठ के दो से लेकर संख्यात टुकड़े करने पर भी कही आग दिखाई नही दी तो वह श्रान्त, क्लान्त, खिन्न और दुःखित हो, कुल्हाड़ी को एक ओर रख और कमर को खोलकर मन-ही-मन इस प्रकार बोला—अरे ! मैं उन लोगों के लिए भोजन नही बना सका। अब क्या करूँ। इस विचार से अत्यन्त निराश, दुःखी, चिन्तित, शोकातुर हो हथेली पर मुँह को टिकाकर आर्तध्यानपूर्वक नीचे जमीन में आँखें गड़ाकर चिंता में डूब गया।

लकड़ियों को काटने के पश्चात् वे लोग वहाँ आये जहाँ अपना साथी था और उसको निराश दुःखी यावत् चिन्ताग्रस्त देखकर उससे पूछा—देवानुप्रिय ! तुम क्यों निराश, दुःखी यावत् चिन्ता में डूबे हुए हो ?

तब उस पुरुष ने बताया कि देवानुप्रियो ! आप लोगों ने लकड़ी काटने के लिए वन में प्रविष्ट होने से पहले मुझसे कहा था—देवानुप्रिय ! हम लोग लकड़ी लाने जंगल में जाते है, इत्यादि यावत् जंगल में चले गये। कुछ समय बाद मैंने विचार किया कि आप लोगों के लिए भोजन बना लूँ। ऐसा विचार कर जहाँ अंगीठी थी, वहाँ पहुँचा यावत् (वहाँ जाकर मैंने देखा कि अगीठी में आग बुझी हुई है। फिर मैं काष्ठ के पास आया। मैंने अच्छी तरह सभी ओर से उस काष्ठ को देखा किन्तु कहीं भी मुझे आग दिखाई नहीं दी। तब मैने कुल्हाड़ी लेकर उस काष्ठ के दो टुकड़े किये और उन्हें भी इधर-उधर से अच्छी तरह देखा। परन्तु वहाँ भी मुझे आग दिखाई नही दी। इसके बाद मैने उसके तीन, चार यावत् संख्यात टुकड़े किये। उनको भी अच्छी तरह देखा, परन्तु उनमें भी कही आग दिखलाई नही दी। तब श्रान्त, क्लान्त, खिन्न और दुःखित होकर कुल्हाड़ी को एक ओर रखकर विचार किया कि मैं आप लोगों के लिए भोजन नही बना सका। इस विचार से मै अत्यन्त निराश, दुःखी हो शोक और चिन्ता रूपी समुद्र में डूबकर हथेली पर मुँह को टिकाये) आर्त्त-ध्यान कर रहा हूँ।

उन मनुष्यों में कोई एक छेक—अवसर को जानने वाला, दक्ष—चतुर, प्राप्तार्थ—कुशलता से अपने अभीप्सित अर्थ को प्राप्त करने वाला यावत् (बुद्धिमान्, कुशल, विनीत, विशिष्टज्ञानसपन्न), उप-देश लब्ध—गुरु से उपदेश प्राप्त पुरुष था। उस पुरुष ने अपने दूसरे साथी लोगों से इस प्रकार कहा—

हे देवानुप्रियो ! आप जाओ और स्नान, बलिकर्म आदि करके शीघ्र आ जाओ। तब तक मैं आप लोगों के लिए भोजन तैयार करता हूँ। ऐसा कहकर उसने अपनी कमर कसी और कुल्हाड़ी लेकर सर बनाया, सर से अरणि-काष्ठ को रगड़कर आग की चिनगारी प्रगट की। फिर उसे धौंक कर सुलगाया और फिर उन लोगों के लिए भोजन बनाया।

इतने में स्नान आदि करने गये पुरुष वापस स्नान करके, बलिकर्म करके यावत् प्रायश्चित्त करके उस भोजन बनाने वाले पुरुष के पास आ गये।

तत्पश्चात् उस पुरुष ने सुखपूर्वक अपने-अपने आसनों पर बैठे उन लोगों के सामने उस विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चार प्रकार का भोजन रखा—परोसा। वे उस विपुल अशन आदि रूप चारों प्रकार के भोजन का स्वाद लेते हुए, खाते हुए यावत् विचरने लगे। भोजन के बाद आचमन-कुल्ला आदि करके स्वच्छ, शुद्ध होकर अपने पहले साथी से इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय! तुम जड़—अनभिज्ञ, मूढ़—मूर्ख (विवेकहीन), अपंडित (प्रतिभारहित), निर्विज्ञान (निपुणतारहित) और अनुपदेशलब्ध (अशिक्षित) हो, जो तुमने काठ के टुकड़ों में आग देखना चाही।

इसी प्रकार की तुम्हारी भी प्रवृत्ति देखकर मैंने यह कहा—हे प्रदेशी ! तुम इस तुच्छ कठियारे से भी अधिक मूढ़ हो कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके जीव को देखना चाहते हो।

२६०—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

जुत्तए णं भंते ! तुब्भं इय छेयाणं दक्खाणं बुद्धाणं कुसलाणं महामईणं विणीयाणं विण्णाण-पत्ताणं उवएसलद्धाणं अहं इमीसाए महालियाए महच्च परिसाए मज्झे उच्चावएहिं आउसेहिं आउसित्तए ? उच्चावयाहि उद्धंसणाहि उद्धंसित्तए ? एवं निब्भंछणाहि निब्भंछणित्तए ? निच्छोड-णाहि निच्छोडत्तए ?

२६०—कुमारश्रमण केशीस्वामी की उक्त बात (उदाहरण) को सुनकर प्रदेशी राजा ने केशी-स्वामी से कहा—भंते ! आप जैसे छेक—अवसरज्ञ, दक्ष—चतुर, बुद्ध—तत्त्वज्ञ, कुशल—कर्तव्याकर्तव्य के निर्णायक, बुद्धिमान्, विनीत—विनयशील, विशिष्ट ज्ञानी, सत्-असत् के विवेक से संपन्न (हेयोपादेय की परीक्षा करने वाले), उपदेशलब्ध—गुरु से शिक्षा प्राप्त पुरुष का इस अति विशाल परिषद् के बीच मेरे लिये इस प्रकार के निष्ठुर—आक्रोशपूर्ण शब्दों का प्रयोग करना, अनादरसूचक शब्दों से मेरी भर्त्सना करना, अनेक प्रकार के अवहेलना भरे शब्दों से मुझे प्रताडित करना, धमकाना क्या उचित है ?

२६१—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—

जाणासि णं तुमं पएसी ! कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

जाणामि, चत्तारि परिसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—खत्तियपरिसा, गाहावइपरिसा, माहण-परिसा, इसिपरिसा।

जाणासि णं तुमं पएसी राया ! एयासि चउण्हं परिसाणं कस्स का दंडणीई पण्णत्ता ?

प्रविष्ट
कहा—दे
लिये भो
हमारे लि

जल्दी से
में आग को
चारों ओर
पुरुष ने कम
सभी ओर से
यावत् संख्य

इस
दिखाई नहीं
को खोलकर
अब क्या करू
टिकाकर आर्त

लर्का
दुःखी यावत्
डूबे हुए हो ?

तब
प्रविष्ट होने
इत्यादि यावत्
बना लूँ । ऐसे
में आग बुझी
देखा किन्तु क
किये और उन्हे
इसके बाद मैने
उनमें भी कहीं
ओर रखकर
अत्यन्त निराश,
ध्यान कर रहा हूँ

उन मनु
अपने अभीप्सित
देश लब्ध—गुरु से

...या, पायच्छित्तए वा,
...ज्जइ।
...वा, पत्तालेण वा, वेढेत्ता

...जाव अप्पसामाहि वग्गूहि
...पायच्छिज्जइ।
...जाव आइअप्पसामाहि वग्गूहि
...दंडं दंडेणं, पडिकूलं

...ने प्रदेशी राजा

...२. गाथापतिपरिषदा,

...परिषदाओं के अपराधियों

...करता है, उसके या तो हाथ
...जाता है, अथवा उसे शूली पर चढ़ा
...मार दिया जाता है।
...अथवा पेड़ के पत्तों से अथवा

...रोषपूर्ण, अप्रिय या अमणाम शब्दों
...कुत्ते के चिह्न से लाञ्छित-चिह्नित कर दिया
...निकल जाने की आज्ञा दी जाती है।
...उसे न अति अनिष्ट यावत् न अति

...को जानते हुए भी हे प्रदेशी ! तुम मेरे प्रति
...व्यवहार कर रहे हो !
...एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिएहिं
...संकप्पे समुपज्जित्था—

जहा जहा णं एयस्स पुरिसस्स वामं वामेणं जाव विवच्चासं विवच्चासेणं वट्टिस्सामि तहा तहा ण अहं नाणं च नाणोवलंभं च करणं च करणोवलंभं च दंसणं च दंसणोवलंभं च जीवं च जीवोवलंभं च उवलभिस्सामि, तं एएणं अहं कारणेणं देवाणुप्पियाणं वामं वामेणं जाव विवच्चासं विवच्चासेणं वट्टिए ।

२६२—तब प्रदेशी राजा ने अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए केशी कुमारश्रमण से कहा—बात यह है—भदन्त ! मेरा आप देवानुप्रिय से जब प्रथम ही वार्तालाप हुआ तभी मेरे मन मे इस प्रकार का विचार यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि जितना-जितना और जैसे-जैसे मै इस पुरुष के विपरीत यावत् सर्वथा विपरीत व्यवहार करूंगा, उतना-उतना और वैसे-वैसे मै अधिक-अधिक तत्त्व को जानूंगा, ज्ञान प्राप्त करूंगा, चारित्र को, चारित्रलाभ को, तत्त्वार्थश्रद्धा रूप दर्शन—सम्यक्त्व को, सम्यक्त्व लाभ को, जीव को, जीव के स्वरूप को समझ सकूंगा। इसी कारण आप देवानुप्रिय के प्रति मैंने विपरीत यावत् अत्यन्त विरुद्ध व्यवहार किया है ।

२६३—तए णं केसी कुमारश्रमणे पएसीरायं एवं वयासी—

जाणासि णं तुमं पएसी ! कइ ववहारगा पण्णत्ता ?

हंता जाणामि । चतारि ववहारगा पण्णत्ता—१ देइ नामेगे णो सण्णवेइ । २ सन्नवेइ नामेगे नो देइ । ३ एगे देइ वि सन्नवेइ वि । ४ एगे णो तेइ णो सण्णवेइ ।

जाणासि णं तुमं पएसी ! एएसिं चउण्हं पुरिसाणं के ववहारी के अव्ववहारी ?

हंता जाणामि । तत्थ णं जे से पुरिसे देइ णो सण्णवेइ, से णं पुरिसे ववहारी । तत्थ णं जे से पुरिसे णो देइ सण्णवेइ, से णं पुरिसे ववहारी । तत्थ णं जे से पुरिसे देइ वि सन्नवेइ वि से पुरिसे ववहारी । तत्थ णं जे से पुरिसे णो देइ णो सन्नवेइ से णं अव्ववहारी ।

एवामेव तुमं पि ववहारी, णो चेव णं तुमं पएसी अव्ववहारी ।

२६३—प्रदेशी राजा की इस भावना को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि व्यवहारकर्त्ता कितने प्रकार के बतलाये गए है ?

प्रदेशी—हाँ, भदन्त ! जानता हूँ कि व्यवहारकों के चार प्रकार है—१. कोई किसी को दान देता है, किन्तु उसके साथ प्रीतिजनक वाणी नही बोलता । २. कोई संतोपप्रद बातें तो करता है, किन्तु देता नही है । ३. कोई देता भी है और लेने वाले के साथ सन्तोषप्रद वार्तालाप भी करता है और ४. कोई देता भी कुछ नहीं और न संतोषप्रद बात करता है ।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि इन चार प्रकार के व्यक्तियों में से कौन व्यवहारकुशल है और कौन व्यवहारशून्य है—व्यवहार को नहीं समझने वाला है ?

प्रदेशी—हाँ जानता हूँ । इनमें से जो पुरुष देता है, किन्तु संभाषण नही करता, वह व्यवहारी है । जो पुरुष देता नही किन्तु सम्यग् आलाप (बातचीत) से संतोष उत्पन्न करता है (दिलासा देता है), धीरज बंधाता है, वह व्यवहारी है । जो पुरुष देता भी है और शिष्ट वचन भी कहता है, वह व्यवहारी है, किन्तु जो न देता है और न मधुर वाणी बोलता है, वह अव्यवहारी है ।

हंता ! जाणामि । जे णं खत्तियपरिसाए अवरज्झइ से णं हत्थच्छिण्णए वा, पायच्छिण्णए वा, सीसच्छिण्ण वा, सूलाइए वा एगाहच्चे कूडाहच्चे जीवियाओ ववरोविज्जइ ।

जे णं गाहावइपरिसाए अवरज्झइ से णं तएण वा, वेढेण वा, पलालेण वा, वेढेत्ता अगणिकाएणं झामिज्जइ ।

जे णं माहणपरिसाए अवरज्झइ से णं अणिट्ठाहिं अकंताहिं जाव अमणामाहिं वग्गूहिं उवालंभित्ता कुंडियालंछणए वा सूणगलंछणए वा कीरइ, निव्विसए वा आणविज्जइ ।

जे णं इसिपरिसाए अवरज्झइ से णं णाइअणिट्ठाहिं जाव णाइअमणामाहिं वग्गूहिं उवालब्भइ ।

एवं च ताव पएसी ! तुमं जाणासि तहा वि णं तुमं ममं वामं वामेणं, दंडं दंडेणं, पडिकूलं पडिकूलेणं, पडिलोमं पडिलोमेणं, विविच्चासं विविच्चासेणं वट्टसि ।

२६१—प्रदेशी राजा के इस उपालंभ को सुनने के पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—

हे प्रदेशी ! जानते हो कि कितनी परिषदाये कही गई है ?

प्रदेशी—जी हाँ जानता हूँ चार परिषदायें कही हैं—१. क्षत्रिय परिषदा, २. गाथापतिपरिषदा, ३. ब्राह्मणपरिषदा और ४. ऋषिपरिषदा ।

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! तुम यह भी जानते हो कि इन चार परिषदाओं के अपराधियों के लिये क्या दंडनीति बताई गई है ?

प्रदेशी—हाँ जानता हूँ । जो क्षत्रिय-परिषद् का अपराध-अपमान करता है, उसके या तो हाथ काट दिये जाते है अथवा पैर काट दिये जाते है या शिर काट दिया जाता है, अथवा उसे शूली पर चढ़ा देते है या एक ही प्रहार से या कुचलकर प्राणरहित कर दिया जाता है—मार दिया जाता है ।

जो गाथापति-परिषद् का अपराध करता है, उसे घास से अथवा पेड़ के पत्तो से अथवा पलाल-पुआल से लपेट कर अग्नि मे झोंक दिया जाता है ।

जो ब्राह्मणपरिषद् का अपराध करता है, उसे अनिष्ट, रोषपूर्ण, अप्रिय या अमणाम शब्दों से उपालभ देकर अग्नितप्त लोहे से कुंडिका चिह्न अथवा कुत्ते के चिह्न से लांछित-चिह्नित कर दिया जाता है अथवा निर्वासित कर दिया जाता है, अर्थात् देश से निकल जाने की आज्ञा दी जाती है ।

जो ऋषिपरिषद् का अपमान-अपराध करता है, उसे न अति अनिष्ट यावत् न अति अमनोज्ञ शब्दो द्वारा उपालंभ दिया जाता है ।

केशी कुमारश्रमण—इस प्रकार की दंडनीति को जानते हुए भी हे प्रदेशी ! तुम मेरे प्रति विपरीत, परितापजनक, प्रतिकूल, विरुद्ध, सर्वथा विपरीत व्यवहार कर रहे हो !

२६२—तए णं पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—एवं खलु अहं देवाणुप्पिएहिं पढमिल्लुएणं चेव वागरणेण संलत्ते, तए णं ममं इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था—

जहा जहा णं एयस्स पुरिसस्स वामं वामेणं जाव विवच्चासं विवच्चासेणं वट्टिस्सामि तहा तहा णं अहं नाणं च नाणोवलंभं च करणं च करणोवलंभं च दंसणं च दंसणोवलंभं च जीवं च जीवोवलंभं च उवलभिस्सामि, तं एएणं अहं कारणेणं देवाणुप्पियाणं वामं वामेणं जाव विवच्चासं विवच्चासेणं वट्टिए ।

२६२—तब प्रदेशी राजा ने अपनी मनोभावना व्यक्त करते हुए केशी कुमारश्रमण से कहा—बात यह है—भदन्त ! मेरा आप देवानुप्रिय से जब प्रथम ही वार्तालाप हुआ तभी मेरे मन मे इस प्रकार का विचार यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ कि जितना-जितना और जैसे-जैसे मैं इस पुरुष के विपरीत यावत् सर्वथा विपरीत व्यवहार करूंगा, उतना-उतना और वैसे-वैसे मैं अधिक-अधिक तत्त्व को जानूंगा, ज्ञान प्राप्त करूंगा, चारित्र को, चारित्रलाभ को, तत्त्वार्थश्रद्धा रूप दर्शन—सम्यक्त्व को, सम्यक्त्व लाभ को, जीव को, जीव के स्वरूप को समझ सकूंगा। इसी कारण आप देवानुप्रिय के प्रति मैंने विपरीत यावत् अत्यन्त विरुद्ध व्यवहार किया है।

२६३—तए णं केसी कुमारश्रमणे पएसीरायं एवं वयासी—

जाणासि णं तुमं पएसी ! कइ ववहारगा पण्णत्ता ?

हंता जाणामि। चतारि ववहारगा पण्णत्ता—१ देइ नामेगे णो सण्णवेइ। २ सन्नवेइ नामेगे नो देइ। ३ एगे देइ वि सन्नवेइ वि। ४ एगे णो तेइ णो सण्णवेइ।

जाणासि णं तुमं पएसी ! एएसिं चउण्हं पुरिसाणं के ववहारी के अव्ववहारी ?

हंता जाणामि। तत्थ णं जे से पुरिसे देइ णो सण्णवेइ, से णं पुरिसे ववहारी। तत्थ णं जे से पुरिसे णो देइ सण्णवेइ, से णं पुरिसे ववहारी। तत्थ णं जे से पुरिसे देइ वि सन्नवेइ वि से पुरिसे ववहारी। तत्थ णं जे से पुरिसे णो देइ णो सन्नवेइ से णं अव्ववहारी।

एवामेव तुमं पि ववहारी, णो चेव णं तुमं पएसी अव्ववहारी।

२६३—प्रदेशी राजा की इस भावना को सुनकर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि व्यवहारकर्त्ता कितने प्रकार के बतलाये गए है ?

प्रदेशी—हाँ, भदन्त ! जानता हूँ कि व्यवहारकों के चार प्रकार है—१. कोई किसी को दान देता है, किन्तु उसके साथ प्रीतिजनक वाणी नही बोलता। २. कोई संतोषप्रद बातें तो करता है, किन्तु देता नही है। ३. कोई देता भी है और लेने वाले के साथ सन्तोषप्रद वार्तालाप भी करता है और ४. कोई देता भी कुछ नही और न संतोषप्रद बात करता है।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! जानते हो तुम कि इन चार प्रकार के व्यक्तियों में से कौन व्यवहारकुशल है और कौन व्यवहारशून्य है—व्यवहार को नहीं समझने वाला है ?

प्रदेशी—हाँ जानता हूँ। इनमें से जो पुरुष देता है, किन्तु संभाषण नही करता, वह व्यवहारी है। जो पुरुष देता नही किन्तु सम्यग् आलाप (बातचीत) से संतोष उत्पन्न करता है (दिलासा देता है), धीरज बधाता है, वह व्यवहारी है। जो पुरुष देता भी है और शिष्ट वचन भी कहता है, वह व्यवहारी है, किन्तु जो न देता है और न मधुर वाणी बोलता है, वह अव्यवहारी है।

केशी कुमारश्रमण—उसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम भी व्यवहारी हो, अव्यवहारी नहीं हो। अर्थात् तुमने मेरे साथ यद्यपि शिष्टजनमान्य वाग्-व्यवहार नही किया, फिर भी मेरे प्रति भक्ति और समान प्रदर्शित करने के कारण व्यवहारी हो।

२६४—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

तुज्झे णं भंते ! इय छेया दक्खा जाव उवएसलद्धा, समत्था णं भंते ! ममं करयलंसि वा आमलयं जीवं सरीराओ अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसित्तए ?

तेणं कालेणं तेणं समएणं पएसिस्स रण्णो अदूरसामंते वाउयाए संवुत्ते, तणवणस्सइकाए एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ।

तए णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी—

पाससि णं तुमं पएसी राया ! एयं तणवणस्सइं एयंतं जाव तं तं भावं परिणमंतं ?

हंता पासामि।

जाणासि णं तुमं पएसी ! एयं तणवणस्सइकायं किं देवो चालेइ, असुरो वा चालेइ, णागो वा, किन्नरो वा चालेइ, किंपुरिसो वा चालेइ, महोरगो वा चालेइ, गंधव्वो वा चालेइ ?

हंता जाणामि—णो देवो चालेइ जाव णो गंधव्वो चालेइ, वाउयाए चालेइ।

पाससि णं तुमं पएसी ! एतस्स वाउकायस्स सरूविस्स सकामस्स सरागस्स समोहस्स सवेयस्स सलेसस्स ससरीरस्स रूवं ?

णो तिणट्ठे (समट्ठे)।

जइ णं तुमं पएसी राया ! एयंस्स वाउकायस्स सरूविस्स जाव ससरीरस्स रूवं न पाससि तं कहं णं पएसी ! तव करयलंसि वा आमलगं जीवं उवदंसिस्सामी ? एवं खलु पएसी ! दसट्ठाणाइं छउमत्थे मणुस्से सव्वभावेणं न जाणइ न पासइ, तंजहा—धम्मत्थिकायं १, अधम्मत्थिकायं २, आगासत्थिकायं ३, जीवं असरीरबद्धं ४, परमाणुपोग्गलं ५, सद्दं ६, गंधं ७, वायं ८, अयं जिणे भविस्सइ वा णो भविस्सइ ९, अयं सव्वदुक्खाणं अंतं करेस्सइ वा नो वा १०। एताणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव नो वा करिस्सइ, णं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! जहा—अन्नो जीवो तं चेव।

२६४—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—हे भदन्त ! आप अवसर को जानने में निपुण हैं, कार्यकुशल है यावत् आपने गुरु से शिक्षा प्राप्त की है तो भदन्त ! क्या आप मुझे हथेली में स्थित आंवले की तरह शरीर से बाहर जीव को निकालकर दिखाने में समर्थ हैं ?

प्रदेशी राजा ने यह कहा ही था कि उसी काल और उसी समय प्रदेशी राजा से अति दूर नहीं अर्थात् निकट ही हवा के चलने से तृण-घास, वृक्ष आदि वनस्पतियां हिलने-डुलने लगीं, कंपने लगीं, फरकने लगीं, परस्पर टकराने लगी, अनेक विभिन्न रूपों में परिणत होने लगीं।

तव केशी कुमारश्रमण ने राजा प्रदेशी से पूछा—हे प्रदेशी ! तुम इन तृणादि वनस्पतियों को हिलते-डुलते यावत् उन-उन अनेक रूपों में परिणत होते देख रहे हो ?

प्रदेशी—हां, देख रहा हूँ।

केशी कुमारश्रमण—तो प्रदेशी! क्या तुम यह भी जानते हो कि इन तृण-वनस्पतियों को कोई देव हिला रहा है अथवा असुर हिला रहा है अथवा कोई नाग, किन्नर, किंपुरुष, महोरग अथवा गंधर्व हिला रहा है।

प्रदेशी—हां, भदन्त! जानता हूँ। इनको न कोई देव हिला-डुला रहा है, यावत् न गंधर्व हिला रहा है। ये वायु से हिल-डुल रही हैं।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी! क्या तुम उस मूर्त, काम, राग, मोह, वेद, लेश्या और शरीर धारी वायु के रूप को देखते हो?

प्रदेशी—यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात् भदन्त! मै उसे नहीं देखता हूँ।

केशी कुमारश्रमण—जब राजन्! तुम इस रूपधारी (मूर्त) यावत् सशरीर वायु के रूप को भी नहीं देख सकते तो हे प्रदेशी! इन्द्रियातीत ऐसे अमूर्त जीव को हाथ में रखे आंवले की तरह कैसे देख सकते हो? क्योंकि प्रदेशी! छद्मस्थ (अल्पज्ञ) मनुष्य (जीव) इन दस वस्तुओं को उनके सर्व भावों-पर्यायों सहित जानते-देखते नही है। यथा (उनके नाम इस प्रकार है—) १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. अशरीरी (शरीर रहित) जीव, ५. परमाणु पुद्गल ६. शब्द, ७. गंध, ८. वायु, ९. यह जिन (कर्म-क्षय करने वाला) होगा अथवा जिन नही होगा और १०. यह समस्त दुःखों का अन्त करेगा या नही करेगा। किन्तु उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक (केवलज्ञानी, केवलदर्शी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी) अर्हन्त, जिन, केवली इन दस बातों को उनकी समस्त पर्यायों सहित जानते-देखते हैं, यथा—धर्मास्तिकाय यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा या नही करेगा। इसलिये प्रदेशी! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर एक नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवों के उल्लेख द्वारा संसारी जीवों का स्वरूप बताया है कि सभी संसारी जीव सूक्ष्म और बादर इन दो प्रकारों में से किसी-न-किसी एक प्रकार वाले है। इन प्रकारों के होने के कारण सूक्ष्म नाम और बादर नाम कर्म हैं। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर इन्द्रियग्राह्य नहीं हो पाता है और बादर नामकर्म के उदय से शरीर मे ऐसा बादर परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे वे इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं। सूक्ष्म और बादर नामकर्म का उदय तिर्यंचगति के जीवों में होता है और इनके एक पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। सभी संसारी जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चार गतियों में से किसी-न-किसी गति वाले हैं और स्वाभाविक चैतन्य गुण के साथ गतियों के अनुरूप प्राप्त इन्द्रियों, शरीर, वेद एवं रागद्वेप, मोह आदि वैभाविक भावों तथा लेश्या परिणाम वाले होते हैं।

वायुकाय के जीवों की गति तिर्यंच है और उनके एक स्पर्शनेन्द्रिय, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या, नपुंसक वेद और औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण शरीर होते हैं।

२६५—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—

से नूणं भंते! हत्थिस्स कुंथुस्स य समे चेव जीवे?

हंता पएसी! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे?

केशी कुमारश्रमण—उसी प्रकार हे प्रदेशी ! तुम भी व्यवहारी हो, अव्यवहारी नहीं हो। अर्थात् तुमने मेरे साथ यद्यपि शिष्टजनमान्य वाग्-व्यवहार नहीं किया, फिर भी मेरे प्रति भक्ति और समान प्रदर्शित करने के कारण व्यवहारी हो।

२६४—तए णं पएसी राया केसिकुमारसमणं एवं वयासी—

तुज्झे णं भंते ! इय छेया दक्खा जाव उवएसलद्धा, समत्था णं भंते ! ममं करयलंसि वा आमलयं जीवं सरीराओ अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसित्तए ?

तेणं कालेणं तेणं समएणं पएसिस्स रण्णो अदूरसामंते वाउयाए संवुत्ते, तणवणस्सइकाए एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ उदीरइ, तं तं भावं परिणमइ।

तए णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी—

पाससि णं तुमं पएसी राया ! एयं तणवणस्सइं एयंतं जाव तं तं भावं परिणमंतं ?

हंता पासामि।

जाणासि णं तुमं पएसी ! एयं तणवणस्सइकायं किं देवो चालेइ, असुरो वा चालेइ, णागो वा, किन्नरो वा चालेइ, किंपुरिसो वा चालेइ, महोरगो वा चालेइ, गंधव्वो वा चालेइ ?

हंता जाणामि—णो देवो चालेइ जाव णो गंधव्वो चालेइ, वाउयाए चालेइ।

पाससि णं तुमं पएसी ! एतस्स वाउकायस्स सरूविस्स सकामस्स सरागस्स समोहस्स सवेयस्स सलेसस्स ससरीरस्स रूवं ?

णो तिणट्ठे (समट्ठे)।

जइ णं तुमं पएसी राया ! एयंस्स वाउकायस्स सरूविस्स जाव ससरीरस्स रूवं न पाससि तं कहं णं पएसी ! तव करयलंसि वा आमलगं जीवं उवदंसिस्सामी ? एवं खलु पएसी ! दसट्ठाणाइं छउमत्थे मणुस्से सव्वभावेणं न जाणइ न पासइ, तंजहा—धम्मत्थिकायं १, अधम्मत्थिकायं २, आगासत्थिकायं ३, जीवं असरीरबद्धं ४, परमाणुपोग्गलं ५, सद्दं ६, गंधं ७, वायं ८, अयं जिणे भविस्सइ वा णो भविस्सइ ९, अयं सव्वदुक्खाणं अंतं करेस्सइ वा नो वा १०। एताणि चेव उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव नो वा करिस्सइ, णं सद्दहाहि णं तुमं पएसी ! जहा—अन्नो जीवो तं चेव।

२६४—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—हे भदन्त ! आप अवसर को जानने में निपुण हैं, कार्यकुशल है यावत् आपने गुरु से शिक्षा प्राप्त की है तो भदन्त ! क्या आप मुझे हथेली में स्थित आंवले की तरह शरीर से बाहर जीव को निकालकर दिखाने में समर्थ हैं ?

प्रदेशी राजा ने यह कहा ही था कि उसी काल और उसी समय प्रदेशी राजा से अति दूर नहीं अर्थात् निकट ही हवा के चलने से तृण-घास, वृक्ष आदि वनस्पतियां हिलने-डुलने लगीं, कंपने लगीं, फरकने लगीं, परस्पर टकराने लगीं, अनेक विभिन्न रूपों में परिणत होने लगी।

तब केशी कुमारश्रमण ने राजा प्रदेशी से पूछा—हे प्रदेशी ! तुम इन तृणादि वनस्पतियों को हिलते-डुलते यावत् उन-उन अनेक रूपों में परिणत होते देख रहे हो ?

प्रदेशी—हां, देख रहा हूँ।

केशी कुमारश्रमण—तो प्रदेशी ! क्या तुम यह भी जानते हो कि इन तृण-वनस्पतियों को कोई देव हिला रहा है अथवा असुर हिला रहा है अथवा कोई नाग, किन्नर, किंपुरुष, महोरग अथवा गंधर्व हिला रहा है।

प्रदेशी—हां, भदन्त ! जानता हूँ। इनको न कोई देव हिला-डुला रहा है, यावत् न गंधर्व हिला रहा है। ये वायु से हिल-डुल रही हैं।

केशी कुमारश्रमण—हे प्रदेशी ! क्या तुम उस मूर्त, काम, राग, मोह, वेद, लेश्या और शरीर धारी वायु के रूप को देखते हो ?

प्रदेशी—यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात् भदन्त ! मैं उसे नहीं देखता हूँ।

केशी कुमारश्रमण—जब राजन् ! तुम इस रूपधारी (मूर्त) यावत् सशरीर वायु के रूप को भी नहीं देख सकते तो हे प्रदेशी ! इन्द्रियातीत ऐसे अमूर्त जीव को हाथ में रखे आंवले की तरह कैसे देख सकते हो ? क्योंकि प्रदेशी ! छद्मस्थ (अल्पज्ञ) मनुष्य (जीव) इन दस वस्तुओं को उनके सर्व भावों-पर्यायों सहित जानते-देखते नही है। यथा (उनके नाम इस प्रकार है—) १. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. अशरीरी (शरीर रहित) जीव, ५. परमाणु पुद्गल ६. शब्द, ७. गंध, ८. वायु, ९. यह जिन (कर्म-क्षय करने वाला) होगा अथवा जिन नही होगा और १०. यह समस्त दुःखों का अन्त करेगा या नहीं करेगा। किन्तु उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक (केवलज्ञानी, केवलदर्शी, सर्वज्ञ सर्वदर्शी) अर्हन्त, जिन, केवली इन दस बातों को उनकी समस्त पर्यायों सहित जानते-देखते हैं, यथा—धर्मास्तिकाय यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेगा या नही करेगा। इसलिये प्रदेशी ! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर एक नहीं है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवों के उल्लेख द्वारा संसारी जीवों का स्वरूप बताया है कि सभी संसारी जीव सूक्ष्म और बादर इन दो प्रकारो में से किसी-न-किसी एक प्रकार वाले हैं। इन प्रकारों के होने के कारण सूक्ष्म नाम और बादर नाम कर्म हैं। सूक्ष्म नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर इन्द्रियग्राह्य नहीं हो पाता है और बादर नामकर्म के उदय से शरीर में ऐसा बादर परिणाम उत्पन्न होता है कि जिससे वे इन्द्रियग्राह्य हो सकते हैं। सूक्ष्म और बादर नामकर्म का उदय तिर्यंचगति के जीवों में होता है और इनके एक पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है। सभी संसारी जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इन चार गतियों में से किसी-न-किसी गति वाले हैं और स्वाभाविक चैतन्य गुण के साथ गतियों के अनुरूप प्राप्त इन्द्रियों, शरीर, वेद एवं रागद्वेष, मोह आदि वैभाविक भावों तथा लेश्या परिणाम वाले होते हैं।

वायुकाय के जीवों की गति तिर्यंच है और उनके एक स्पर्शनेन्द्रिय, कृष्ण, नील, कापोत लेश्या, नपुंसक वेद और औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण शरीर होते हैं।

२६५—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—

से नूणं भंते ! हत्थिस्स कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?

हंता पएसी ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?

से णूणं भंते ! हत्थीउ कुंथू अप्पकम्मतराए चेव अप्पकिरियतराए चेव अप्पासवतराए चेव एवं आहार-नीहार-उस्सास-नीसास-इड्ढीए महज्जुइअप्पतराए चेव, एवं च कुंथुओ हत्थी महाकम्मतराए चेव महाकिरिय० जाव ?

हंता पएसी ! हत्थीओ कुंथू अप्पकम्मतराए चेव कुंथुओ वा हत्थी महाकम्मतराए चेव तं चेव।

कम्हा णं भंते ! हत्थिस्स स कुंथुस्स य समे चेव जीवे ?

पएसी ! जहा णाम ए कूडागारसाला सिया जाव गंभीरा, अह णं केइ पुरिसे जोइं व दीवं व गहाय तं कूडागारसालं अंतो अंतो अणुपविसइ तीसे कूडागारसालाए सव्वतो समंता घणनिचियनिरंतराणि णिच्छिड्डाइं दुवारवयणाइं पिहेते, तीसे कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए तं पईवं पलीवेज्जा, तए णं से पईवे तं कूडागारसालं अंतो अंतो ओभासइ उज्जोवेइ तवति पभासेइ, णो चेव णं बाहिं।

अह णं पुरिसे तं पईवं इड्डरएणं पिहेज्जा, तए णं से पईवे तं इड्डरयं अंतो ओभासेइ, णो चेव णं इड्डरगस्स बाहिं, णो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं, एवं गोकिलिंजेणं, पच्छिपिडएणं गंडमाणियाए, आढ़तेणं, अद्धाढतेणं, पत्थएणं, अद्धपत्थएणं, कुलवेणं, अद्धकुलवेणं, चाउब्भाइयाए, अट्ठभाइयाए, सोलसियाए, बत्तीसियाए, चउसट्ठियाए, दीवचंपएणं तए णं से पदीवे दीवचंपगस्स अंतो ओभासति, नो चेव णं दीवचंपगस्स बाहिं, नो चेव णं चउसट्ठियाए बाहिं, णो चेव णं कूडागारसालं, णो चेव णं कूडागारसालाए बाहिं।

एवामेव पएसी ! जीवे वि जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं बोंदिं णिव्वत्तेइ तं असंखेज्जेहिं जीवपदेसेहिं सचित्तं करेइ खुड्डियं वा महालियं वा, तं सद्दहाहि णं तुम पएसी ! जहा—अण्णो जीवो तं चेव णं।

२६५—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—भंते ! क्या हाथी और कुंथु का जीव एक-जैसा है ?

केशी कुमारश्रमण—हाँ, प्रदेशी। हाथी और कुंथु का जीव एक-जैसा है, समान प्रदेश परिमाण वाला है, न्यूनाधिक प्रदेश-परिमाण वाला नहीं है।

प्रदेशी—हे भदन्त ! हाथी से कुंथु अल्पकर्म (आयुष्यकर्म), अल्पक्रिया, अल्प प्राणातिपात आदि आश्रव वाला है, और इसी प्रकार कुंथु का आहार, निहार, श्वासोच्छ्वास, ऋद्धि—शारीरिकबल, द्युति आदि भी अल्प है और कुंथु से हाथी अधिक कर्मवाला, अधिक क्रियावाला यावत् अधिक द्युति संपन्न है ?

केशी कुमारश्रमण—हाँ प्रदेशी ! ऐसा ही है—हाथी से कुंथु अल्प कर्मवाला और कुंथु से हाथी महाकर्मवाला है।

प्रदेशी—तो फिर भदन्त ! हाथी और कुंथु का जीव समान परिमाण वाला कैसे हो सकता है ?

केशी कुमारश्रमण—हाथी और कुंथु के जीव को समान परिमाण वाला ऐसे समझा जा सकता है—हे प्रदेशी ! जैसे कोई कूटाकार (पर्वतशिखर के आकार-जैसी) यावत् विशाल एक

शाला (घर) हो और कोई एक पुरुष उस कूटाकारशाला में अग्नि और दीपक के साथ घुसकर उसके ठीक मध्यभाग में खड़ा हो जाए। तत्पश्चात् उस कूटाकारशाला के सभी द्वारों के किवाड़ों को इस प्रकार सटाकर अच्छी तरह बंद करदे कि उनमें किंचिन्मात्र भी सांध—छिद्र न रहे। फिर उस कूटाकारशाला के बीचोंबीच उस प्रदीप को जलाये तो जलाने पर वह दीपक उस कूटाकारशाला के अन्तर्वर्ती भाग को ही प्रकाशित, उद्योतित, तापित और प्रभासित करता है, किन्तु बाहरी भाग को प्रकाशित नही करता है।

अब यदि वही पुरुष उस दीपक को एक विशाल पिटारे से ढंक दे तो वह दीपक कूटाकार-शाला की तरह उस पिटारे के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करेगा किन्तु पिटारे के बाहरी भाग को प्रकाशित नही करेगा। इसी तरह गोकिलिंज (गाय को घास रखने का पात्र—डलिया), पच्छिका-पिटक (पिटारी), गंडमाणिका (अनाज को मापने का बर्तन), आढ़क (चार सेर धान्य मापने का पात्र), अर्धाढक, प्रस्थक, अर्धप्रस्थक, कुलव, अर्धकुलव, चतुर्भागिका, अष्टभागिका, षोडशिका, द्वात्रिंशतिका, चतुष्षष्टिका अथवा दीपचम्पक (दीपक का ढकना) से ढंके तो वह दीपक उस ढक्कन के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करेगा, ढक्कन के बाहरी भाग को नहीं और न चतुष्षष्टिका के बाहरी भाग को, न कूटाकारशाला को, न कूटाकारशाला के बाहरी भाग को प्रकाशित करेगा।

इसी प्रकार हे प्रदेशी! पूर्वभवोपार्जित कर्म के निमित्त से जीव को क्षुद्र—छोटे अथवा महत्—बड़े जैसे भी शरीर को निष्पत्ति—प्राप्ति होती है, उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों को संकुचित और विस्तृत करने के स्वभाव के कारण वह उस शरीर को अपने असंख्यात आत्मप्रदेशों द्वारा सचित्त अर्थात् आत्मप्रदेशों से व्याप्त करता है। अतएव प्रदेशी! तुम यह श्रद्धा करो— इस बात पर विश्वास करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं और शरीर जीव नही है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दीपक को ढंकने पर उन-उन के भीतरी भाग को प्रकाशित करने के लिये जिन पात्रो (वर्तनों) के नामों का उल्लेख किया है, वे सभी प्राचीनकाल में मगध देश में प्रचलित—गेहूँ, चावल, आदि धान्य तथा घी, तेल आदि तरल पदार्थ मापने के साधन—माप हैं। गंडमाणिका से लेकर अर्धकुलव पर्यन्त के मापों से धान्य और चतुर्भागिका आदि चतुष्षष्टिका पर्यन्त के पात्रो से तरल पदार्थो को मापा जाता था।

वैदिक दर्शनों में आत्मा के आकार और परिमाण के विषय में अणुमात्र से लेकर सर्वदेशव्याप्त तक मानने की कल्पनायें है। वे प्रमाणसिद्ध नहीं हैं और न वैसा अनुभव ही होता है। इसीलिये उन सब कल्पनाओं का निराकरण और आत्मा के सही परिमाण का निर्देश सूत्र मे किया गया है कि न तो आत्मा अणु-प्रमाण है और न सर्वलोक व्यापी आदि है। किन्तु कर्मोपार्जित शरीर के आकार के अनुरूप होकर जीव के असंख्यात प्रदेश उस समस्त शरीर मे व्याप्त रहते है।

प्रदेशी की परंपरागत मान्यता का निराकरण

२६६—तए णं पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—एवं खलु भंते! मम अज्जगस्स एस सन्ना जाव समोसरणे जहा—तज्जीवो तं सरीरं, नो अन्नो जीवो अन्नं सरीरं। तयाणंतरं च णं मम पिउणो वि एस सण्णा, तयाणंतरं मम वि एसा सण्णा जाव समोसरणं, तं नो खलु अहं बहुपुरिस-परंपरागयं कुलनिस्सियं दिट्ठिं छंडेस्सामि।

२६६—तत्पश्चात् प्रदेशी राज
ठीक, किन्तु मेरे पितामह की यही ज्ञान
है वही शरीर है, जो शरीर है वही
से भिन्न नही है। तत्पश्चात् (पितामह
ही संज्ञा यावत् ऐसा ही समवसरण था औ
है। तो फिर अनेक पुरुषों (पीढियों) ए
कैसे छोड़ दूं ?

विवेचन—लोक परंपराएँ, मान्य
मानवों में जो भी अनुपयोगी और मिथ्या
दिखावा और अहंकार का पोषण है। हम
भय अनुभव करते है। इस कारण दिनोंदि
नैतिक पतन होने से मानवीय गुणों का कुछ भ

२६७—तए णं केसी कुमारसमणे पए
भवेज्जासि, जहा व से पुरिसे अयहारए।

के णं भंते ! से अयहारए ?

पएसी ! से जहाणामए केई पुरिसा
अत्थपिवासिया अत्थगवेसणयाए विउलं पणिय
अकामियं (अगामियं) छिन्नावायं दीहमद्धं अडवि

तए णं ते पुरिसा तीसे अकामियाए अ
पासंति, अएणं सव्वतो समंता आइण्णं विच्छिण्णं
हियया अन्नमन्नं सद्दावेति एवं वयासी—एस णं दे
खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं अयभारए बंधित्तए त्ति
बंधंति, अहाणुपुव्वीए संपत्थिया।

तए णं ते पुरिसा अकामियाए जाव अडवीए
पासंति, तउएणं आइण्णं तं चेव जाव सद्दावेत्ता एवं
मणामे, अप्पेणं चेव तउएणं सुबहुं अए लब्भति, तं से
भारए बंधित्तए ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं
तत्थ णं एगे पुरिसे णो संचाएइ अयभारं छड्डेत्तए त

तए णं से पुरिसा तं पुरिसं एवं वयासी—ए
लब्भति, तं छड्डेहि णं देवाणुप्पिया ! अयभारगं, त

तए से पुरिसे एवं वयासी—दूराहडे मे देवाणु
अइगाढबंधणबद्धे मे देवाणुप्पिया ! अए, असिढिलबं
देवाणुप्पिया ! अए, णो संचाएमि अयभारगं छड्डेता त

तए णं ते पुरिसा तं पुरिसं जाहे णो संचायंति बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा तया अहाणुपुव्वीए संपत्थिया, एवं तंबागरं रुप्पागरं सुवण्णागरं रयणागरं वइरागरं।

तए णं ते पुरिसा जेणेव सया जणवया, जेणेव साइं साइं नगराइं, तेणेव उवागच्छन्ति वयर-विक्कणणं करेंति, सुबहुदासीदासगोमहिसगवेलगं गिण्हंति, अट्ठतलमूसियवडंसगे कारावेंति, ण्हाया कयवलिकम्मा उप्पिं पासायवरगया फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धएहिं नाडएहिं वरतरुणीसपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणा उवलालिज्जमाणा इट्ठे सद्द-फरिस-जाव विहरंति।

तए णं से पुरिसे अयभारेण जेणेव सए नगरे तेणेव उवागच्छइ, अयभारेणं गहाय अयविक्किणणं करेति, तंसि अप्पमोल्लंसि निहियंसि झीणपरिव्वए, ते पुरिसे उप्पिं पासायवरगए जाव विहरमाणे पासति, पासित्ता एवं वयासी—अहो! णं अहं अधन्नो अपुन्नो अकयत्थो अकयलक्खणो हिरिसिरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे दुरंतपंतलक्खणे। जति णं अहं मित्ताण वा णाईण वा नियगाण वा सुणेंतओ तो णं अहं पि एवं चेव उप्पिं पासायवरगए जाव विहरंतो।

से तेणट्ठेणं पएसी एवं वुच्चइ—मा तुमं पएसी पच्छाणुताविए भविज्जासि, जहा व से पुरिसे अयभारिए।

२६७—प्रदेशी राजा की बात सुनकर केशी कुमारश्रमण ने इस प्रकार कहा—प्रदेशी! तुम उस अयोहारक (लोहे के भार को ढोने वाले लोहवणिक्) की तरह पश्चात्ताप करने वाले मत होओ। अर्थात् जैसे वह अयोहारक—लोहवणिक् पछताया उसी तरह तुम्हे भी अपनी कुलपरम्परागत अन्धश्रद्धा के कारण पछताना पड़ेगा।

प्रदेशी—भदन्त! वह अयोहारक कौन था और उसे क्यो पछताना पड़ा?

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी! कुछ अर्थ (धन) के अभिलाषी, अर्थ की गवेषणा करने वाले, अर्थ के लोभी, अर्थ की कांक्षा और अर्थ की लिप्सा वाले पुरुष अर्थ-गवेषणा करने (धनोपार्जन करने) के निमित्त विपुल परिमाण में बिक्री करने योग्य पदार्थों और साथ में खाने-पीने के लिये पुष्कल—पर्याप्त पाथेय (नाश्ता) लेकर निर्जन, हिंसक प्राणियों से व्याप्त और पार होने के लिये रास्ता न मिले, ऐसी एक बहुत बड़ी अटवी (वन) में जा पहुँचे।

जब वे लोग उस निर्जन अटवी मे कुछ आगे बढ़े तो किसी स्थान पर उन्होंने इधर-उधर सारयुक्त लोहे से व्याप्त लम्बी-चौड़ी और गहरी एक विशाल लोहे की खान देखी। वहां लोहा खूब बिखरा पड़ा था। उस खान को देखकर हर्षित, संतुष्ट यावत् विकसितहृदय होकर उन्होंने आपस मे एक दूसरे को बुलाया और कहा, यह लोहा की—देवानुप्रियो! यह लोहा हमारे लिये इष्ट, प्रिय [illegible] मनोज्ञ है, अतः देवानुप्रियो! हमे इस लोहे के भार को बांध लेना चाहिए। [illegible] दूसरे ने स्वीकार करके लोहे का भारा बांध लिया। बांधकर उसी अटवी मे [illegible]

तदनन्तर आगे चलते-चलते वे लोग जब उस निर्जन [illegible] [illegible] उन्होंने सीसे से भरी हुई एक विशाल सीसे की खान देखी, यावत् [illegible] देवानुप्रियो! हमे इस सीसे का संग्रह करना यावत् [illegible]

२६६—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से कहा—भदन्त ! आपने बताया सो ठीक, किन्तु मेरे पितामह की यही ज्ञानरूप संज्ञा—बुद्धि थी यावत् समवसरण-सिद्धान्त था कि जो जीव है वही शरीर है, जो शरीर है वही जीव है। जीव शरीर से भिन्न नहीं और शरीर जीव से भिन्न नहीं है। तत्पश्चात् (पितामह के काल-कवलित हो जाने के बाद) मेरे पिता की भी ऐसी ही संज्ञा यावत् ऐसा ही समवसरण था और उनके बाद मेरी भी यही संज्ञा यावत् ऐसा ही समवसरण है। तो फिर अनेक पुरुषों (पीढ़ियों) एवं कुलपरंपरा से चली आ रही अपनी दृष्टि—मान्यता को कैसे छोड़ दूं ?

विवेचन—लोक परंपराएँ, मान्यताएँ कैसे प्रचलित होती हैं, इसका सूत्र में संकेत है। हम मानवों में जो भी अनुपयोगी और मिथ्या रूढियाँ चालू हैं उनका आधार पूर्वजों का नाम, लोक-दिखावा और अहंकार का पोषण है। हम उनके साथ ऐसे जुड़े है कि छोड़ने में प्रतिष्ठाहानि और भय अनुभव करते है। इस कारण दिनोंदिन हिंसा, झूठ, छल-फरेब, चोरी-जारी बढ़ रही है और नैतिक पतन होने से मानवीय गुणों का कुछ भी मूल्य नहीं रहा है।

२६७—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वयासी—मा णं तुमं पएसी ! पच्छाणुताविए भवेज्जासि, जहा व से पुरिसे अयहारए।

के णं भंते ! से अयहारए ?

पएसी ! से जहाणामए केई पुरिसा अत्थत्थी, अत्थगवेसी, अत्थलुद्धगा, अत्थकंखिया, अत्थपिवासिया अत्थगवेसणयाए विउलं पणियभंडमायाए सुबहुं भत्तपाणपत्थयणं गहाय एगं महं अकामियं (अगामियं) छिन्नावायं दीहमद्धं अडविं अणुपविट्ठा।

तए णं ते पुरिसा तीसे अकामियाए अडवीए कंचि. देसं अणुप्पत्ता समाणा एगमहं अयागरं पासंति, अएणं सव्वतो समंता आइण्णं विच्छिण्णं सच्छडं उवच्छडं फुडं गाढं पासंति हट्ठतुट्ठ—जाव—हियया अन्नमन्नं सद्दावेंति एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिया ! अयभंडे इट्ठे कंते जाव मणामे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं अयभारए बंधित्तए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेति अयभारं बंधंति, अहाणुपुव्वीए संपत्थिया।

तए णं ते पुरिसा अकामियाए जाव अडवीए किंचि देसं अणुपत्ता समाणा एगं महं तउआगरं पासंति, तउएणं आइण्णं तं चेव जाव सद्दावेत्ता एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिया ! तउयभंडे जाव मणामे, अप्पेणं चेव तउएणं सुबहुं अए लब्भति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अयभारए छड्डेत्ता तउयभारए बंधित्तए ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, अयभारं छड्डेंति तउयभारं बंधंति। तत्थ णं एगे पुरिसे णो संचाएइ अयभारं छड्डेत्तए तउयभारं बंधित्तए।

तए णं से पुरिसा तं पुरिसं एवं वयासी—एस णं देवाणुप्पिया ! तउयभंडे जाव सुबहुं अए लब्भति, तं छड्डेहि णं देवाणुप्पिया ! अयभारगं, तउयभारगं बंधाहि।

तए से पुरिसे एवं वयासी—दूराहडे मे देवाणुप्पिया ! अए, चिराहडे मे देवाणुप्पिया ! अए, अइगाढबंधणबद्धे मे देवाणुप्पिया ! अए, असिढिलबंधणबद्धे देवाणुप्पिया ! अए, धणियबंधणबद्धे देवाणुप्पिया ! अए, णो संचाएमि अयभारगं छड्डेत्ता तउयभारगं बंधित्तए।

तए णं ते पुरिसा तं पुरिसं जाहे णो संचायंति बहूहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा तया अहाणुपुव्वीए संपत्थिया, एवं तंबागरं रुप्पागरं सुवण्णागरं रयणागरं वइरागरं।

तए णं ते पुरिसा जेणेव सया जणवया, जेणेव साइं साइं नगराइं, तेणेव उवागच्छन्ति वयर-विक्कणणं करेंति, सुबहुदासीदासगोमहिसगवेलगं गिण्हंति, अट्ठतलमूसियवडंसगे कारावेंति, ण्हाया कयबलिकम्मा उप्पिं पासायवरगया फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं बत्तीसइबद्धएहिं नाडएहिं वरतरुणीसंपउत्तेहिं उवणच्चिज्जमाणा उवलालिज्जमाणा इट्ठे सद्द-फरिस-जाव विहरंति।

तए णं से पुरिसे अयभारेण जेणेव सए नगरे तेणेव उवागच्छइ, अयभारेणं गहाय अयविक्कणणं करेति, तंसि अप्पमोल्लंसि निहियंसि झीणपरिव्वए, ते पुरिसे उप्पिं पासायवरगए जाव विहरमाणे पासति, पासित्ता एवं वयासी—अहो! णं अहं अधन्नो अपुन्नो अकयत्थो अकयलक्खणो हिरिसिरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे दुरंतपंतलक्खणे। जति णं अहं मित्ताण वा णाईण वा नियगाण वा सुणेंतओ तो णं अहं पि एवं चेव उप्पिं पासायवरगए जाव विहरंतो।

से तेणट्ठेणं पएसी एवं वुच्चइ—मा तुमं पएसी पच्छाणुताविए भविज्जासि, जहा व से पुरिसे अयभारिए।

२६७—प्रदेशी राजा की बात सुनकर केशी कुमारश्रमण ने इस प्रकार कहा—प्रदेशी! तुम उस अयोहारक (लोहे के भार को ढोने वाले लोहवणिक्) की तरह पश्चात्ताप करने वाले मत होओ। अर्थात् जैसे वह अयोहारक—लोहवणिक् पछताया उसी तरह तुम्हे भी अपनी कुलपरम्परागत अन्धश्रद्धा के कारण पछताना पड़ेगा।

प्रदेशी—भदन्त! वह अयोहारक कौन था और उसे क्यों पछताना पड़ा?

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी! कुछ अर्थ (धन) के अभिलाषी, अर्थ की गवेषणा करने वाले, अर्थ के लोभी, अर्थ की कांक्षा और अर्थ की लिप्सा वाले पुरुष अर्थ-गवेषणा करने (धनोपार्जन करने) के निमित्त विपुल परिमाण में बिक्री करने योग्य पदार्थों और साथ मे खाने-पीने के लिये पुष्कल—पर्याप्त पाथेय (नाश्ता) लेकर निर्जन, हिंसक प्राणियों से व्याप्त और पार होने के लिये रास्ता न मिले, ऐसी एक बहुत बड़ी अटवी (वन) में जा पहुँचे।

जब वे लोग उस निर्जन अटवी में कुछ आगे बढ़े तो किसी स्थान पर उन्होंने इधर-उधर सारयुक्त लोहे से व्याप्त लम्बी-चौड़ी और गहरी एक विशाल लोहे की खान देखी। वहां लोहा खूब बिखरा पड़ा था। उस खान को देखकर हर्षित, संतुष्ट यावत् विकसितहृदय होकर उन्होंने आपस में एक दूसरे को बुलाया और कहा, यह सलाह की—देवानुप्रियो! यह लोहा हमारे लिये इष्ट, प्रिय यावत् मनोज्ञ है, अतः देवानुप्रियो! हमें इस लोहे के भार को बांध लेना चाहिए। इस विचार को एक दूसरे ने स्वीकार करके लोहे का भारा बांध लिया। बांधकर उसी अटवी में आगे चल दिये।

तत्पश्चात् आगे चलते-चलते वे लोग जब उस निर्जन यावत् अटवी में एक स्थान पर पहुँचे तब उन्होंने सीसे से भरी हुई एक विशाल सीसे की खान देखी, यावत् एक दूसरे को बुलाकर कहा—देवानुप्रियो! हमें इस सीसे का संग्रह करना यावत् लाभदायक है। थोड़े से सीसे के बदले बहुत

बहुत-सा लोहा ले सकते हैं। इसलिये देवानुप्रियो! हमें इस लोहे के भार को छोड़कर सीसे का पोटला बांध लेना योग्य है। ऐसा कहकर आपस में एक दूसरे ने इस विचार को स्वीकार किया और लोहे को छोड़कर सीसे के भार को बांध लिया। किन्तु उनमें से एक व्यक्ति लोहे को छोड़कर सीसे के भार को बांधने के लिये तैयार नहीं हुआ।

तब दूसरे व्यक्तियों (साथियों) ने अपने उस साथी से कहा—देवानुप्रिय! हमे लोहे की अपेक्षा इस सीसे का संग्रह करना अधिक अच्छा है, यावत् हम इस थोड़े से सीसे से बहुत-सा लोहा प्राप्त कर सकते है। अतएव देवानुप्रिय! इस लोहे को छोड़कर सीसे का भार बांध लो।

तब उस व्यक्ति ने कहा—देवानुप्रियो! मैं इस लोहे के भार को बहुत दूर से लादे चला आ रहा हूँ। देवानुप्रियो! इस लोहे को बहुत समय से लादे हुए हूँ। देवानुप्रियो! मैंने इस लोहे को बहुत ही कसकर बांधा है। देवानुप्रियो! मैंने इस लोहे को अशिथिल बंधन से बाँधा है। देवानुप्रियो! मैंने इस लोहे को अत्यधिक प्रगाढ़ बंधन से बांधा है। इसलिए मै इस लोहे को छोड़कर सीसे के भार को नहीं बांध सकता हूँ।

तब दूसरे साथियों ने उस व्यक्ति को अनुकूल-प्रतिकूल सभी तरह की आख्यापना (सामान्य रूप से प्रतिपादन करने वाली वाणी) से, प्रज्ञापना (विशेष रूप से प्रतिपादन करने वाली—समझाने वाली—वाणी) से समझाया। लेकिन जब वे उस पुरुष को समझाने-बुझाने में समर्थ नहीं हुए तो अनुक्रम से आगे-आगे चलते गये और वहाँ-वहाँ पहुँचकर उन्होंने तांबे की, चांदी की, सोने की, रत्नों की और हीरों की खानें देखीं एवं इनको जैसे-जैसे बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती गई, वैसे-वैसे पहले-पहले के अल्प मूल्य वाले तांबे आदि को छोड़कर अधिक-अधिक मूल्यवाली वस्तुओं को बांधते गये। सभी खानो पर उन्होंने अपने उस दुराग्रही साथी को समझाया किन्तु उसके दुराग्रह को छुड़ाने में वे समर्थ नही हुए।

इसके बाद वे सभी व्यक्ति जहाँ अपना जनपद-देश था और देश मे जहाँ अपने-अपने नगर थे, वहाँ आये। वहाँ आकर उन्होने हीरों को बेचा। उससे प्राप्त धन से अनेक दास-दासी, गाय, भैस और भेड़ों को खरीदा, बड़े-बड़े आठ-आठ मंजिल के ऊँचे भवन बनवाये और इसके बाद स्नान, बलिकर्म आदि करके उन श्रेष्ठ प्रासादों के ऊपरी भागों में बैठकर बजते हुए मृदग आदि वाद्यों—निनादो एवं उत्तम तरुणियों द्वारा की जा रही नृत्य-गान युक्त बत्तीस प्रकार की नाट्य लीलाओं को देखते तथा साथ ही इष्ट शब्द, स्पर्श यावत् (रस, रूप और गंध मूलक मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को भोगते हुए अपना-अपना समय) व्यतीत करने लगे।

वह लोहवाहक पुरुष भी लोहभार को लेकर अपने नगर मे आया। वहाँ आकर उस लोहभार के लोहे को वेचा। किन्तु अल्प मूल्य वाला होने से उसे थोड़ा-सा धन मिला। उस पुरुष ने अपने साथियों को श्रेष्ठ प्रासादों के ऊपर रहते हुए यावत् (भोग-विलास में) अपना समय विताते हुए देखा। देखकर अपने आपसे इस प्रकार कहने लगा—अरे! मै अधन्य, पुण्यहीन, अकृतार्थ, शुभलक्षणों से रहित, श्री-ह्री से वर्जित, हीनपुण्य चातुर्दशिक (कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को जन्मा हुआ), दुरंत-प्रान्त लक्षण वाला कुलक्षणी हूँ। यदि उन मित्रों, ज्ञातिजनो और अपने हितैषियों की वात मान लेता तो मै भी इसी तरह श्रेष्ठ प्रासादों में रहता हुआ यावत् अपना समय व्यतीत करता।

इसी कारण हे प्रदेशी ! मैने यह कहा है कि यदि तुम अपना दुराग्रह नही छोड़ोगे तो उस लोहभार को ढोने वाले दुराग्रही की तरह तुम्हें भी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

प्रदेशी की प्रतिक्रिया एवं श्रावकधर्म-ग्रहण

२६८—एत्थ णं से पएसी राया संबुद्धे केसिकुमारसमणं वंदइ जाव एवं वयासी—णो खलु भंते ! अहं पच्छाणुताविए भविस्सामि जहा व से पुरिसे अयभारिए, तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

धम्मकहा जहा चित्तस्स। तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ जेणेव सेयविया नगरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

२६८—इस प्रकार समझाये जाने पर यथार्थ तत्त्व का बोध प्राप्त कर प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण को वन्दना की यावत् निवेदन किया—भदन्त ! मै वैसा कुछ नही करूंगा जिससे उस लोहभारवाहक पुरुष की तरह मुझे पश्चात्ताप करना पड़े। अतः आप देवानुप्रिय से केवलिप्रज्ञप्त धर्म सुनना चाहता हूँ।

केशी कुमारश्रमण—देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख उपजे वैसा करो, परन्तु विलंब मत करो।

इसके पश्चात् प्रदेशी की जिज्ञासा-वृत्ति देखकर केशी कुमारश्रमण ने जैसे चित्त सारथी को धर्मोपदेश देकर श्रावकधर्म समझाया था उसी तरह राजा प्रदेशी को भी धर्मकथा सुनाकर गृहिधर्म का विस्तार से विवेचन किया। राजा गृहस्थधर्म स्वीकार करके सेयविया नगरी की ओर चलने को तत्पर हुआ।

२६९—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिं रायं एवं वयासी—जाणासि तुमं पएसी ! कइ आयरिया पन्नत्ता ?

हंता जाणामि, तओ आयरिआ पण्णत्ता, तंजहा—कलायरिए, सिप्पायरिए, धम्मायरिए।

जाणासि णं तुमं पएसी ! तेसिं तिण्हं आयरियाणं कस्स का विणयपडिवत्ती पउंजियव्वा ?

हंता जाणामि, कलायरियस्स सिप्पायरिस्स उवलेवणं संमज्जणं वा करेज्जा, पुरओ पुप्फाणि वा आणवेज्जा, मज्जावेज्जा, मंडावेज्जा, भोयाविज्जा वा विउलं जीवितारिहं पीइदाणं दलएज्जा, पुत्ताणुपुत्तियं वित्ति कप्पेज्जा। जत्थेव धम्मायरियं पासिज्जा तत्थेव वंदेज्जा णमंसेज्जा सक्कारेज्जा सम्माणेज्जा, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, फासुएसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेज्जा, पाडिहारिएणं पीढ-फलग-सिज्जा संथारएणं उवनिमतेज्जा।

एवं च ताव तुमं पएसी ! एवं जाणासि तहावि णं तुमं ममं वामं वामेणं जाव वट्टित्ता मम एयमट्ठं अक्खामित्ता जेणेव सेयविया नगरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए ?

२६९—तब केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा—प्रदेशी ! जानते हो कितने प्रकार के आचार्य होते हैं ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! जानता हूँ, तीन (प्रकार के) आचार्य होते है—१. कलाचार्य, २. शिल्पाचार्य, ३. धर्माचार्य ।

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! तुम जानते हो कि इन तीन आचार्यों में से किसकी कैसी विनय-प्रतिपत्ति करनी चाहिए ?

प्रदेशी—हाँ भदन्त ! जानता हूँ । कलाचार्य और शिल्पाचार्य के शरीर पर चन्दनादि का लेप और तेल आदि का मर्दन (मालिश) करना चाहिए, उन्हें स्नान कराना चाहिए, उनके सामने पुष्प आदि भेंट रूप में रखना चाहिए, उनके कपड़ो आदि को सुरभि गन्ध से सुगन्धित करना चाहिए, आभूषणों आदि से उन्हे अलंकृत करना चाहिए, आदरपूर्वक भोजन कराना चाहिए और आजीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देना चाहिए, एवं उनके लिये ऐसी आजीविका की व्यवस्था करना चाहिये कि पुत्र—पौत्रादि परम्परा भी जिसका लाभ ले सके । धर्माचार्य के जहाँ भी दर्शन हों, वही उनको वन्दना-नमस्कार करना चाहिए, उनका सत्कार-संमान करना चाहिए और कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप एवं ज्ञानरूप उनकी पर्युपासना करनी चाहिए तथा अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य भोजन-पान से उन्हें प्रतिलाभित करना चाहिए, पडिहारी पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिए ।

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी ! इस प्रकार की विनयप्रतिपत्ति जानते हुए भी तुम अभी तक मेरे प्रति जो प्रतिकूल व्यवहार एवं प्रवृत्ति करते रहे, उसके लिए क्षमा माँगे बिना ही सेयविया नगरी की ओर चलने के लिये उद्यत हो रहे हो ?

२७०—तए णं से पएसी राया केसिं कुमारसमणं एवं वदासी—एवं खलु भंते ! मम एयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं देवाणुप्पियाणं वामं वामेणं जाव वट्टिए, तं सेयं खलु मे कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहापंडुरे पभाए रत्तासोग-किंसुय-सुयमुह-गुंजद्धरागसरिसे कमलागरनलिणिसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडस्स देवाणुप्पिए वंदित्तए नमंसित्तए एतमट्ठं भुज्जो-भुज्जो सम्मं विणएणं खामित्तए-त्ति-कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पडिगए ।

तए णं से पएसी राया कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलंते हट्ठतुट्ठ-जाव-हियए जहेव कूणिए[1] तहेव निग्गच्छइ अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे पंचविहेणं अभिगमेणं वंदइ नमंसइ एयमट्ठं भुज्जो भुज्जो सम्मं विणएणं खामेइ ।

२७०—केशी कुमारश्रमण के इस संकेत को सुनकर प्रत्युत्तर में प्रदेशी राजा ने केशी कुमार-श्रमण से यह निवेदन किया—हे भदन्त ! आपका कथन योग्य है किन्तु मेरा इस प्रकार यह आध्यात्मिक—आन्तरिक यावत् विचार—संकल्प है कि अभी तक आप देवानुप्रिय के प्रति मैंने जो प्रतिकूल यावत् व्यवहार किया है, उसके लिये आगामी कल, रात्रि के प्रभात रूप में परिवर्तित होने, उत्पलों और कमनीय कमलों के उन्मीलित और विकसित होने, प्रभात के पांडुर (पीलाश लिये श्वेत वर्ण का) होने, रक्तशोक, पलाशपुष्प, शुकमुख (तोते की चोंच), गुंजाफल के अर्धभाग जैसे लाल, सरोवर में

१. देखिए समिति द्वारा प्रकाशित औपपातिकसूत्र

स्थित कमलिनीकुलों के विकासक सूर्य का उदय होने एवं जाज्वल्यमान तेज सहित सहस्त्ररश्मि दिनकर के प्रकाशित होने पर अन्तःपुर-परिवार सहित आप देवानुप्रिय की वन्दना-नमस्कार करने और अवमानना रूप अपने अपराध की वारंवार विनयपूर्वक क्षमापना के लिये सेवा में उपस्थित होऊं।

ऐसा निवेदन कर वह जिस ओर से आया था, उसी ओर लौट गया।

दूसरे दिन जब रात्रि के प्रभात रूप में रूपान्तरित होने यावत् जाज्वल्यमान तेज सहित दिनकर के प्रकाशित होने पर प्रदेशी राजा हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसितहृदय होता हुआ कोणिक राजा की तरह दर्शनार्थ निकला। उसने अन्तःपुर-परिवार आदि के साथ पांच प्रकार के अभिगमपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और यथाविधि विनयपूर्वक अपने प्रतिकूल आचरण के लिये वारंवार क्षमायाचना की।

विवेचन—पांच अभिगमो के नाम इस प्रकार है—

१. सचित्त द्रव्यों (पुष्प, पान आदि) का त्याग।
२. अचित्त द्रव्यों (वस्त्र, आभूषण आदि) का अत्याग।
३. एक शाटिका (दुपट्टा) का उत्तरासंग करना।
४. दृष्टि पड़ते ही दोनों हाथ जोड़ना।
५. मन को एकाग्र करना।

२७१—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिस्स रण्णो सूरियकंतप्पमुहाणं देवीणं तीसे य महतिमहालियाए महच्चपरिसाए जाव धम्मं परिकहेइ।

तए णं से पएसी राया धम्मं सोच्चा निसम्म उट्ठाए उट्ठेति, केसिकुमारसमण वंदइ नमंसइ जेणेव सेणविया नगरी तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

२७१—तत्पश्चात् केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा, सूर्यकान्ता आदि रानियो और उन अति विशाल परिषद् को यावत् धर्मकथा सुनाई।

इसके बाद प्रदेशी राजा धर्मदेशना सुन कर और उसे हृदय में धारण करके अपने आसन से उठा एव केशी कुमारश्रमण को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके सेयविया नगरी की ओर चलने के लिये उद्यत हुआ।

२७२—तए णं केसी कुमारसमणे पएसिरायं एवं वदासी—मा णं तुमं पएसी! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि, जहा से वणसंडे इ वा, णट्टसाला इ वा इक्खुवाडए इ वा, खलवाडए इ वा।

कहं णं भंते!?

वणसंडे पत्तिए पुप्फिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ, तया णं वणसंडे रमणिज्जे भवति। जया णं वणसंडे नो पत्तिए, नो पुप्फिए, नो फलिए, नो हरियगरेरिज्जमाणे णो सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे चिट्ठइ तया णं जुन्ने झडे परिसडिय पंडुपत्ते सुक्करुक्खे इव मिलायमाणे चिट्ठइ तया णं वणे णो रमणिज्जे भवति।

जया णं णट्टसाला वि गिज्जइ वाइज्जइ नच्चिज्जइ हसिज्जइ रमिज्जइ तया णं णट्टसाला रमणिज्जा भवइ, जया णं नट्टसाला णो गिज्जइ जाव णो रमिज्जइ तया णं णट्टसाला अरमणिज्जा भवति।

जया णं इक्खुवाडे छिज्जइ भिज्जइ सिज्जइ पिज्जइ दिज्जइ तया णं इक्खुवाडे रमणिज्जे भवइ, जया णं इक्खुवाडे णो छिज्जइ जाव तया इक्खुवाडे अरमणिज्जे भवइ।

जया णं खलवाडे उच्छुब्भइ उडुइज्जइ मलइज्जइ मुणिज्जइ खज्जइ पिज्जइ दिज्जइ तया णं खलवाडे रमणिज्जे भवति जया णं खलवाडे नो उच्छुब्भइ जाव अरमणिज्जे भवति।

से तेणट्ठेण पएसी! एवं वुच्चइ मा णं तुमे पएसी! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि जहा वणसंडे इ वा।

२७२—राजा प्रदेशी को सेयविया नगरी की ओर चलने के लिये उद्यत देखकर केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से इस प्रकार कहा—जैसे वनखण्ड अथवा नाट्यशाला अथवा इक्षुवाड (गन्ने का खेत) अथवा खलवाड (खलिहाल) पूर्व में रमणीय होकर पश्चात् अरमणीय हो जाते है, उस प्रकार तुम पहले रमणीय (धार्मिक) होकर बाद में अरमणीय (अधार्मिक) मत हो जाना।

प्रदेशी—भदन्त! यह कैसे कि वनखण्ड आदि पूर्व में रमणीय (मनोरम, सुन्दर) होकर बाद में अरमणीय हो जाते हैं?

केशी कुमारश्रमण—प्रदेशी! वनखण्ड आदि पहले रमणीय होकर बाद में अरमणीय ऐसे हो जाते है कि--

वनखण्ड जब तक हरे-भरे पत्तों, पुष्पों, फलों से सम्पन्न और अतिशय सुहावनी सघन छाया एवं हरियाली से व्याप्त होता है तब तक अपनी शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित होता हुआ रमणीय लगता है। लेकिन वही वनखण्ड पत्तों, फूलों, फलों और नाममात्र की भी हरियाली नही रहने से हराभरा, देदीप्यमान न होकर कुरूप, भयावना दिखने लगता है तब सूखे वृक्ष की तरह छाल-पत्तो के जीर्ण-शीर्ण हो जाने, झर जाने, सड़ जाने, पीले और म्लान हो जाने से रमणीय नही रहता है।

इसी प्रकार नाट्यशाला भी जब तक संगीत-गान होता रहता है, बाजे बजते रहते हैं, नृत्य होते रहते है, लोगों के हास्य से व्याप्त रहती है और विविध प्रकार की रमतें—क्रीडायें होती रहती हैं तब तक रमणीय-सुहावनी लगती है, किन्तु जब उसी नाट्यशाला मे गीत नही गाये जा रहे हो यावत् क्रीड़ायें नहीं हो रही हो, तब वही नाट्यशाला असुहावनी हो जाती है।

इसी तरह प्रदेशी! जब तक इक्षुवाड (ईख के खेत) में ईख कटती हो, टूटती हो, पेरी जाती हो, लोग उसका रस पीते हों, कोई उसे लेते-देते हों, तव तक वह इक्षुवाड़ रमणीय लगता है। लेकिन जब उसी इक्षुवाड़ में ईख न कटती हो आदि तव वही मन को अरमणीय—अप्रिय, अनिष्टकर लगने लगती है।

इसी प्रकार प्रदेशी! जव तक खलवाड़ (खलिहान) में धान्य के [illegible] हैं, उड़ावनी होती रहती है, धान्य का मर्दन (दांय) होता रहता है, तिल आदि पे[illegible]। एक साथ मिलकर भोजन खाते-पीते, देते-लेते हैं, तव तक वह रमणीय मालूम हो[illegible] धान्य के ढेर आदि नहीं रहते तव वही अरमणीय दिखने लगता है।

इसीलिए हे प्रदेशी ! मैंने यह कहा है कि तुम पहले रमणीय होकर बाद में अरमणीय मत हो जाना, जैसे कि वनखंड आदि हो जाते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगत—'मा णं तुमं पएसी ! पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि' वाक्य का टीकाकार आचार्य ने इस प्रकार आशय स्पष्ट किया है—केशी कुमारश्रमण ने प्रदेशी राजा से कहा कि हे राजन् ! जब तुम धर्मानुगामी नही थे तब दूसरे लोगों को दान देते थे तो दान देने की यह प्रथा अब भी चालू रखना। अर्थात् पूर्व में जैसे रमणीय-दानी थे उसी तरह अब भी रमणीय-दानी रहना किन्तु अरमणीय न होना। यदि अरमणीय हो जाओगे—संकुचित दृष्टि वाले हो जाओगे तो इससे निर्ग्रन्थप्रवचन की अपकीर्ति फैलेगी और हमें अन्तराय कर्म का बंध होगा।

२७३—तए णं पएसी केसिं कुमारसमणं एवं वयासी—णो खलु भंते ! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि, जहा वणसंडे इ वा जाव खलवाडे इ वा। अहं णं सेयविया-नगरीपमुक्खाइं सतगामसहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि, एगं भागं बलवाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कुट्ठागारे छुभिस्सामि, एगं भागं अंतेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महतिमहलयं कूडागारसालं करिस्सामि, तत्थ णं बहूहिं पुरिसेहिं दिन्नभइभत्तवेयणेहिं विउलं असणं० (पानं-खाइमं-साइमं) उवक्ख-डावेत्ता बहूणं समण-माहण-भिक्खुयाणं-पंथियपहियाणं परिभाएमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणव्वयवेरमण-पच्चक्खाणपोसहोववासस्स जाव विहरिस्सामि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

२७३—तब प्रदेशी राजा ने केशी कुमारश्रमण से इस प्रकार निवेदन किया—भदन्त ! आप द्वारा दिये गये वनखण्ड यावत् खलवाड़ के उदाहरणों की तरह मै पहले रमणीय होकर बाद में अरमणीय नही बनूंगा। क्योंकि मैने यह विचार किया है कि सेयवियानगरी आदि सात हजार ग्रामों के चार विभाग करूंगा। उनमे से एक भाग राज्य की व्यवस्था और रक्षण के लिए बल (सेना) और वाहन के लिए दूंगा, एक भाग प्रजा के पालन हेतु कोठार में अन्न आदि के लिये रखूंगा, एक भाग अंतःपुर के निर्वाह और रक्षा के लिये दूंगा और शेष एक भाग से एक विशाल कूटाकार शाला बनवाऊंगा और फिर बहुत से पुरुषों को भोजन, वेतन और दैनिक मजदूरी पर नियुक्त कर प्रतिदिन विपुल मात्रा में अशन, पान, खादिम स्वादिम रूप चारों प्रकार का आहार बनवाकर अनेक श्रमणों, माहनों, भिक्षुओं यात्रियों और पथिकों को देते हुए एवं शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पोषधोपवास आदि यावत् (तप द्वारा आत्मा को भावित करते हुए) अपना जीवनयापन करूंगा, ऐसा कहकर जिस दिशा से आया था, वापस उसी ओर लौट गया।

प्रदेशी द्वारा कृत राज्यव्यवस्था

२७४—तए णं से पएसी राया कल्लं जाव तेयसा जलंते सेयवियापामोक्खाइं सत्त गामसह-स्साइं चत्तारि भाए करेइ, एगं भागं बलवाहणस्स दलइ जाव कूडागारसालं करेइ, तत्थ णं बहूहिं पुरिसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता बहूणं समण जाव परिभाएमाणे विहरइ।

२७४—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा ने अगले दिन यावत् जाज्वल्यमान तेजसहित सूर्य के प्रकाशित होने पर सेयविया प्रभृति सात हजार ग्रामों के चार भाग किये। उनमें से एक भाग बल-वाहनों को

दिया यावत् कूटाकारशाला का निर्माण कराया। उसमें बहुत से पुरुषों को नियुक्त कर यावत् भोजन बनवाकर बहुत से श्रमणों यावत् पथिकों को देते हुए अपना समय बिताने लगा।

२७५—तए णं से पएसी राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे० विहरइ।

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च, रट्ठं च, बलं च, वाहणं च, कोट्ठागारं च, पुरं च, अंतेउरं च, जणवयं च, अणाढायमाणे यावि विहरति।

२७५—प्रदेशी राजा अब श्रमणोपासक हो गया और जीव-अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञाता होता हुआ धार्मिक आचार-विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

जबसे वह प्रदेशी राजा श्रमणोपासक हुआ तब से राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोठार, पुर, अन्तःपुर और जनपद के प्रति भी उदासीन रहने लगा।

सूर्यकान्ता रानी का षड्यंत्र

२७६—तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं जाव अंतेउरं च ममं जणवयं च अणाढायमाणे विहरइ; तं सेयं खलु मे पएसिं रायं केणवि सत्थप्पओएण वा अग्गिप्पओएण वा मंतप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा उद्दवेत्ता सूरियकंतं कुमारं रज्जे ठवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणीए पालेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता सूरियकंतं कुमारं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च जाव अंतेउरं च णं जणवयं च माणुस्सए य कामभोगे अणाढायमाणे विहरइ, तं सेयं खलु तव पुत्ता? पएसिं रायं केणइ सत्थप्पयोगेण वा जाव उद्दवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए।

तए णं सूरियकंते कुमारे सूरियकंताए देवीए एवं वुत्ते समाणे सूरियकंताए देवीए एयमट्ठं णो आढाइ नो परियाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—मा णं सूरियकंते कुमारे पएसिस्स रन्नो इमं रहस्सभेयं करिस्सइ त्ति कट्टु पएसिस्स रण्णो छिद्दाणि य मम्माणि य रहस्साणि य विवराणि य अंतराणि य पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

२७६—राजा प्रदेशी को राज्य आदि के प्रति उदासीन देखकर सूर्यकान्ता रानी को यह और इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि—जब से राजा प्रदेशी श्रमणोपासक हुआ है, उसी दिन से राज्य, राष्ट्र, यावत् अन्तःपुर, जनपद और मुझसे विमुख हो गया है। अतः मुझे यही उचित है कि शस्त्रप्रयोग, अग्निप्रयोग, मंत्रप्रयोग अथवा विषप्रयोग द्वारा राजा प्रदेशी को मारकर और सूर्यकान्त कुमार को राज्य पर आसीन करके अर्थात् राजा बनाकर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग करती हुई, प्रजा का पालन करती हुई आनन्दपूर्वक रहूं। ऐसा उसने विचार किया। विचार करके सूर्यकान्त कुमार को बुलाया और बुलाकर अपनी मनोभावना बताई—

हे पुत्र ! जब से प्रदेशी राजा ने श्रमणोपासक धर्म स्वीकार कर लिया है, तभी से राज्य यावत् अन्तःपुर, जनपद और मनुष्य संबंधी कामभोगों की ओर ध्यान देना बंद कर दिया है। इसलिये पुत्र ! तुम्हें यही श्रेयस्कर है कि शस्त्रप्रयोग आदि किसी-न-किसी उपाय से प्रदेशी राजा को मार कर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग एवं प्रजा का पालन करते हुए अपना जीवन बिताओ।

सूर्यकान्ता देवी के इस विचार को सुनकर सूर्यकान्त कुमार ने उसका आदर नही किया, उस पर ध्यान नही दिया किन्तु शांत-मौन ही रहा।

तब सूर्यकान्ता रानी को इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि कही ऐसा न हो कि सूर्यकान्त कुमार प्रदेशी राजा के सामने मेरे इस रहस्य को प्रकाशित कर दे। ऐसा सोचकर सूर्यकान्ता रानी प्रदेशी राजा को मारने के लिए उसके दोष रूप छिद्रों को, कुकृत्य रूप आन्तरिक मर्मों को, एकान्त में सेवित निषिद्ध आचरण रूप रहस्यों को, एकान्त निर्जन स्थानों को और अनुकूल अवसर रूप अन्तरों को जानने की ताक में रहने लगी।

२७७—तए णं सूरियकंता देवी अन्नया कयाइ पएसिस्स रण्णो अंतरं जाणइ, असणं जाव खाइमं सव्वं वत्थ-गंध-मल्लालंकारं विसप्पजोगं पउंजइ, पएसिस्स रण्णो ण्हायस्स जाव पायच्छित्तस्स सुहासणवरगयस्स तं विससंजुत्तं असणं वत्थं जाव-अलंकारं निसिरेइ, घातइ।

तए णं तस्स पएसिस्स रण्णो तं विससंजुत्तं असणं आहारेमाणस्स सरीरगंमि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विपुला पगाढा कक्कसा कडुया फरुसा निट्ठुरा चंडा तिव्वा दुक्खा दुग्गा दुरहियासा पित्तजर-परिगयसरीरे दाहवक्कंतिया वि विहरइ।

२७७—तत्पश्चात् किसी एक दिन अनुकूल अवसर मिलने पर सूर्यकान्ता रानी ने प्रदेशी राजा को मारने के लिए अशन-पान आदि भोजन में तथा शरीर पर धारण करने योग्य सभी वस्त्रों, सूंघने योग्य सुगन्धित वस्तुओं, पुष्पमालाओं और आभूषणों में विष डालकर विषैला कर दिया। इसके बाद जब वह प्रदेशी राजा स्नान यावत् मंगल प्रायश्चित्त कर भोजन करने के लिए सुखपूर्वक श्रेष्ठ आसन पर बैठा तब वह विषमिश्रित घातक अशन आदि रूप आहार परोसा तथा विषमय वस्त्र पहनाये यावत् विषमय अलकारों से उसको शृंगारित किया।

तब उस विषमिले आहार को खाने से प्रदेशी राजा के शरीर मे उत्कट, प्रचुर, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, रौद्र, दुःखद, विकट और दुस्सह वेदना उत्पन्न हुई। विषम पित्तज्वर से सारे शरीर मे जलन होने लगी।

प्रदेशी का संलेखना-मरण

२७८—तए णं से पएसी राया सूरियकंताए देवीए अत्ताणं संपलद्धं जाणित्ता सूरियकंताए देवीए मणसावि अप्पदुस्समाणे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, पोसहसालं पमज्जइ, उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ, दब्भसंथारगं संथरेइ, दब्भसंथारगं दुरुहइ, पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं अंजलिं मत्थए त्ति कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव[1] संपत्ताणं। नमोऽत्थु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मोव-

१. देखें सूत्र संख्या १९९

दिया यावत् कूटाकारशाला का निर्माण कराया। उसमें बहुत से पुरुषों को नियुक्त कर यावत् भोजन बनवाकर बहुत से श्रमणों यावत् पथिकों को देते हुए अपना समय बिताने लगा।

२७५—तए णं से पएसी राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे० विहरइ।

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च, रट्ठं च, बलं च, वाहणं च, कोट्ठागारं च, पुरं च, अंतेउरं च, जणवयं च, अणाढायमाणे यावि विहरति।

२७५—प्रदेशी राजा अब श्रमणोपासक हो गया और जीव-अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञाता होता हुआ धार्मिक आचार-विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

जबसे वह प्रदेशी राजा श्रमणोपासक हुआ तब से राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोठार, पुर, अन्तःपुर और जनपद के प्रति भी उदासीन रहने लगा।

सूर्यकान्ता रानी का षड्यंत्र

२७६—तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं जाव अंतेउरं च ममं जणवयं च अणाढायमाणे विहरइ; तं सेयं खलु मे पएसिं रायं केणवि सत्थप्पओएण वा अग्गिप्पओएण वा मंतप्पओगेण वा विसप्पओगेण वा उद्दवेत्ता सूरियकंतं कुमारं रज्जे ठवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणीए पालेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता सूरियकंतं कुमारं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च जाव अंतेउरं च णं जणवयं च माणुस्सए य कामभोगे अणाढायमाणे विहरइ, तं सेयं खलु तव पुत्ता ? पएसिं रायं केणइ सत्थप्पयोगेण वा जाव उद्दवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए।

तए णं सूरियकंते कुमारे सूरियकंताए देवीए एवं वुत्ते समाणे सूरियकंताए देवीए एयमट्ठं णो आढाइ नो परियाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—मा णं सूरियकंते कुमारे पएसिस्स रन्नो इमं रहस्सभेयं करिस्सइ त्ति कट्टु पएसिस्स रण्णो छिद्दाणि य मम्माणि य रहस्साणि य विवराणि य अंतराणि य पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

२७६—राजा प्रदेशी को राज्य आदि के प्रति उदासीन देखकर सूर्यकान्ता रानी को यह और इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि—जब से राजा प्रदेशी श्रमणोपासक हुआ है, उसी दिन से राज्य, राष्ट्र, यावत् अन्तःपुर, जनपद और मुझसे विमुख हो गया है। अतः मुझे यही उचित है कि शस्त्रप्रयोग, अग्निप्रयोग, मंत्रप्रयोग अथवा विषप्रयोग द्वारा राजा प्रदेशी को मारकर और सूर्यकान्त कुमार को राज्य पर आसीन करके अर्थात् राजा बनाकर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग करती हुई, प्रजा का पालन करती हुई आनन्दपूर्वक रहूं। ऐसा उसने विचार किया। विचार करके सूर्यकान्त कुमार को बुलाया और बुलाकर अपनी मनोभावना बताई—

हे पुत्र ! जब से प्रदेशी राजा ने श्रमणोपासक धर्म स्वीकार कर लिया है, तभी से राज्य यावत् अन्तःपुर, जनपद और मनुष्य संबंधी कामभोगों की ओर ध्यान देना बंद कर दिया है। इसलिये पुत्र ! तुम्हें यही श्रेयस्कर है कि शस्त्रप्रयोग आदि किसी-न-किसी उपाय से प्रदेशी राजा को मार कर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग एवं प्रजा का पालन करते हुए अपना जीवन बिताओ।

सूर्यकान्ता देवी के इस विचार को सुनकर सूर्यकान्त कुमार ने उसका आदर नही किया, उस पर ध्यान नही दिया किन्तु शांत-मौन ही रहा।

तव सूर्यकान्ता रानी को इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि कही ऐसा न हो कि सूर्यकान्त कुमार प्रदेशी राजा के सामने मेरे इस रहस्य को प्रकाशित कर दे। ऐसा सोचकर सूर्यकान्ता रानी प्रदेशी राजा को मारने के लिए उसके दोष रूप छिद्रों को, कुकृत्य रूप आन्तरिक मर्मों को, एकान्त में सेवित निषिद्ध आचरण रूप रहस्यों को, एकान्त निर्जन स्थानों को और अनुकूल अवसर रूप अन्तरों को जानने की ताक में रहने लगी।

२७७—तए णं सूरियकंता देवी अन्नया कयाइ पएसिस्स रण्णो अंतरं जाणइ, असणं जाव खाइमं सव्वं वत्थ-गंध-मल्लालंकारं विसप्पजोगं पउंजइ, पएसिस्स रण्णो ण्हायस्स जाव पायच्छित्तस्स सुहासणवरगयस्स तं विससंजुत्तं असणं वत्थं जाव-अलंकारं निसिरेइ, घातइ।

तए णं तस्स पएसिस्स रण्णो तं विससंजुत्तं असणं आहारेमाणस्स सरीरगंमि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विपुला पगाढा कक्कसा कडुया फरुसा निट्ठुरा चंडा तिव्वा दुक्खा दुग्गा दुरहियासा पित्तजर-परिगयसरीरे दाहवक्कंतिया वि विहरइ।

२७७—तत्पश्चात् किसी एक दिन अनुकूल अवसर मिलने पर सूर्यकान्ता रानी ने प्रदेशी राजा को मारने के लिए अशन-पान आदि भोजन में तथा शरीर पर धारण करने योग्य सभी वस्त्रों, सूंघने योग्य सुगन्धित वस्तुओं, पुष्पमालाओं और आभूषणों में विष डालकर विपैला कर दिया। इसके बाद जब वह प्रदेशी राजा स्नान यावत् मंगल प्रायश्चित्त कर भोजन करने के लिए सुखपूर्वक श्रेष्ठ आसन पर बैठा तब वह विषमिश्रित घातक अशन आदि रूप आहार परोसा तथा विपमय वस्त्र पहनाये यावत् विपमय अलंकारों से उसको शृंगारित किया।

तब उस विषमिले आहार को खाने से प्रदेशी राजा के शरीर मे उत्कट, प्रचुर, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, रौद्र, दुःखद, विकट और दुस्सह वेदना उत्पन्न हुई। विपम पित्तज्वर से सारे शरीर मे जलन होने लगी।

प्रदेशी का संलेखना-मरण

२७८—तए णं से पएसी राया सूरियकंताए देवीए अत्ताणं संपलद्धं जाणित्ता सूरियकंताए देवीए मणसावि अप्पदुस्समाणे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, पोसहसालं पमज्जइ, उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ, दब्भसंथारगं संथरेइ, दब्भसंथारगं दुरुहइ, पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं अंजलिं मत्थए त्ति कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव[1] संपत्ताणं। नमोऽत्थु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मोव-

[1] देखें सूत्र संख्या १९९

दिया यावत् कूटाकारशाला का निर्माण कराया। उसमें बहुत से पुरुषों को नियुक्त कर यावत् भोजन बनवाकर बहुत से श्रमणों यावत् पथिकों को देते हुए अपना समय विताने लगा।

२७५—तए णं से पएसी राया समणोवासए जाए अभिगयजीवाजीवे० विहरइ।

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च, रट्ठं च, बलं च, वाहणं च, कोट्ठागारं च, पुरं च, अंतेउरं च, जणवयं च, अणाढायमाणे यावि विहरति।

२७५—प्रदेशी राजा अब श्रमणोपासक हो गया और जीव-अजीव आदि तत्त्वो का ज्ञाता होता हुआ धार्मिक आचार-विचारपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा।

जबसे वह प्रदेशी राजा श्रमणोपासक हुआ तव से राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोठार, पुर, अन्तःपुर और जनपद के प्रति भी उदासीन रहने लगा।

सूर्यकान्ता रानी का षड्यंत्र

२७६—तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च रट्ठं जाव अंतेउरं च ममं जगवयं च अणाढायमाणे विहरइ; तं सेयं खलु मे पएसिं रायं केणवि सत्थप्पओएण वा अग्गिप्पओएण वा मंतप्प-ओगेण वा विसप्पओगेण वा उद्दवेत्ता सूरियकंतं कुमारं रज्जे ठवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणीए पालेमाणीए विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहित्ता सूरियकंतं कुमारं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

जप्पभिइं च णं पएसी राया समणोवासए जाए तप्पभिइं च णं रज्जं च जाव अंतेउरं च णं जणवयं च माणुस्सए य कामभोगे अणाढायमाणे विहरइ, तं सेयं खलु तव पुत्ता? पएसिं रायं केणइ सत्थप्पयोगेण वा जाव उद्दवित्ता सयमेव रज्जसिरिं कारेमाणे पालेमाणे विहरित्तए।

तए णं सूरियकंते कुमारे सूरियकंताए देवीए एवं वुत्ते समाणे सूरियकंताए देवीए एयमट्ठं णो आढाइ नो परियाणाइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

तए णं तीसे सूरियकंताए देवीए इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—मा णं सूरियकंते कुमारे पएसिस्स रन्नो इमं रहस्सभेयं करिस्सइ त्ति कट्टु पएसिस्स रण्णो छिद्दाणि य मम्माणि य रहस्साणि य विवराणि य अंतराणि य पडिजागरमाणी पडिजागरमाणी विहरइ।

२७६—राजा प्रदेशी को राज्य आदि के प्रति उदासीन देखकर सूर्यकान्ता रानी को यह और इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि—जब से राजा प्रदेशी श्रमणोपासक हुआ है, उसी दिन से राज्य, राष्ट्र, यावत् अन्तःपुर, जनपद और मुझसे विमुख हो गया है। अतः मुझे यही उचित है कि शस्त्रप्रयोग, अग्निप्रयोग, मंत्रप्रयोग अथवा विषप्रयोग द्वारा राजा प्रदेशी को मारकर और सूर्यकान्त कुमार को राज्य पर आसीन करके अर्थात् राजा बनाकर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग करती हुई, प्रजा का पालन करती हुई आनन्दपूर्वक रहूं। ऐसा उसने विचार किया। विचार करके सूर्यकान्त कुमार को बुलाया और बुलाकर अपनी मनोभावना बताई—

हे पुत्र ! जब से प्रदेशी राजा ने श्रमणोपासक धर्म स्वीकार कर लिया है, तभी से राज्य यावत् अन्तःपुर, जनपद और मनुष्य संबंधी कामभोगों की ओर ध्यान देना बंद कर दिया है। इसलिये पुत्र ! तुम्हें यही श्रेयस्कर है कि शस्त्रप्रयोग आदि किसी-न-किसी उपाय से प्रदेशी राजा को मार कर स्वयं राज्यलक्ष्मी का भोग एवं प्रजा का पालन करते हुए अपना जीवन बिताओ।

सूर्यकान्ता देवी के इस विचार को सुनकर सूर्यकान्त कुमार ने उसका आदर नही किया, उस पर ध्यान नही दिया किन्तु शांत-मौन ही रहा।

तब सूर्यकान्ता रानी को इस प्रकार का आन्तरिक यावत् विचार उत्पन्न हुआ कि कही ऐसा न हो कि सूर्यकान्त कुमार प्रदेशी राजा के सामने मेरे इस रहस्य को प्रकाशित कर दे। ऐसा सोचकर सूर्यकान्ता रानी प्रदेशी राजा को मारने के लिए उसके दोष रूप छिद्रों को, कुकृत्य रूप आन्तरिक मर्मों को, एकान्त में सेवित निषिद्ध आचरण रूप रहस्यों को, एकान्त निर्जन स्थानों को और अनुकूल अवसर रूप अन्तरों को जानने की ताक में रहने लगी।

२७७—तए णं सूरियकंता देवी अन्नया कयाइ पएसिस्स रण्णो अंतरं जाणइ, असणं जाव खाइमं सव्वं वत्थ-गंध-मल्लालंकारं विसप्पजोगं पउंजइ, पएसिस्स रण्णो ण्हायस्स जाव पायच्छित्तस्स सुहासणवरगयस्स तं विससंजुत्तं असणं वत्थं जाव-अलंकारं निसिरेइ, घातइ।

तए णं तस्स पएसिस्स रण्णो तं विससंजुत्तं असणं आहारेमाणस्स सरीरगंमि वेयणा पाउब्भूया उज्जला विपुला पगाढा कक्कसा कडुया फरुसा निट्ठुरा चंडा तिव्वा दुक्खा दुग्गा दुरहियासा पित्तजर-परिगयसरीरे दाहवक्कंतिया वि विहरइ।

२७७—तत्पश्चात् किसी एक दिन अनुकूल अवसर मिलने पर सूर्यकान्ता रानी ने प्रदेशी राजा को मारने के लिए अशन-पान आदि भोजन में तथा शरीर पर धारण करने योग्य सभी वस्त्रों, सूंघने योग्य सुगन्धित वस्तुओं, पुष्पमालाओं और आभूषणों में विष डालकर विषैला कर दिया। इसके बाद जब वह प्रदेशी राजा स्नान यावत् मंगल प्रायश्चित्त कर भोजन करने के लिए सुखपूर्वक श्रेष्ठ आसन पर बैठा तब वह विषमिश्रित घातक अशन आदि रूप आहार परोसा तथा विषमय वस्त्र पहनाये यावत् विषमय अलंकारों से उसको शृंगारित किया।

तब उस विषमिश्रित आहार को खाने से प्रदेशी राजा के शरीर में उत्कट, प्रचुर, प्रगाढ़, कर्कश, कटुक, परुष, निष्ठुर, रौद्र, दुःखद, विकट और दुस्सह वेदना उत्पन्न हुई। विषम पित्तज्वर से सारे शरीर में जलन होने लगी।

प्रदेशी का संलेखना-मरण

२७८—तए णं से पएसी राया सूरियकंताए देवीए अत्ताणं संपलद्धं जाणित्ता सूरियकंताए देवीए मणसा वि अप्पदुस्समाणे जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, पोसहसालं पमज्जइ, उच्चार-पासवणभूमिं पडिलेहेइ, दब्भसंथारगं संथरेइ, दब्भसंथारगं दुरूहइ, पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी—

नमोऽत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं। नमोऽत्थु णं केसिस्स कुमारसमणस्स मम धम्मोव-

१. देखें सूत्र संख्या १९९

देसगस्स धम्मायरियस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इह गए, पासउ मे भगवं तत्थ गए इह गयं ति कट्टु वंदइ नमंसइ। पुव्विं पि णं मए केसिस्स कुमारसमणस्स अंतिए थूलपाणाइवाए पच्चक्खाए जाव परिग्गहे, तं इयाणिं पि णं तस्सेव भगवतो अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जाव परिग्गहं, सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसणसल्लं, अकरणिज्जं जोयं पच्चक्खामि, सव्वं असणं चउव्विहं पि आहारं जावज्जीवाए पच्चक्खामि।

जं पि य मे सरीरं इट्ठं जाव फुसंतु त्ति एयं पि य णं चरिमेहिं ऊसासनिस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सूरियाभे विमाणे उववायसभाए जाव वण्णओ।

२७८—तत्पश्चात् प्रदेशी राजा सूर्यकान्ता देवी के इस उत्पात (षड्यन्त्र, धोखे) को जानकर भी उस के प्रति मन में लेशमात्र भी द्वेष-रोष न करते हुए जहाँ पौषधशाला थी, वहाँ आया। आकर उसने पौषधशाला की प्रमार्जना की, उच्चारप्रस्रवणभूमि (स्थंडिल भूमि) का प्रतिलेखन किया। फिर दर्भ का संथारा बिछाया और उस पर आसीन हुआ। आसीन होकर उसने पूर्व दिशा की ओर मुख कर पर्यंकासन (पद्मासन) से बैठकर दोनों हाथ जोड़ आवर्तपूर्वक मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार कहा—

अरिहंतों यावत् सिद्धगति को प्राप्त भगवन्तों को नमस्कार हो। मेरे धर्माचार्य और धर्मोप-देशक केशी कुमारश्रमण को नमस्कार हो। यहाँ स्थित मैं वहाँ विराजमान भगवान् की वन्दना करता हूँ। वहाँ पर विराजमान वे भगवन् यहाँ रहकर वन्दना करने वाले मुझे देखें। पहले भी मैंने केशी कुमारश्रमण के समक्ष स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया है। अब इस समय भी मैं उन्हीं भगवन्तों की साक्षी से (यावज्जीवन के लिये) सम्पूर्ण प्राणातिपति यावत् समस्त परिग्रह, क्रोध यावत् मिथ्यादर्शन शल्य का (अठारह पापस्थानों का) प्रत्याख्यान करता हूँ। अकरणीय (नहीं करने योग्य जैसे) समस्त कार्यों एवं मन-वचन-काय योग का प्रत्याख्यान करता हूं और जीवनपर्यंत के लिए सभी अशन-पान आदि रूप चारों प्रकार के आहार का भी त्याग करता हूं।

परन्तु मुझे यह शरीर इष्ट—प्रिय रहा है, मैने यह ध्यान रखा है कि इसमें कोई रोग आदि उत्पन्न न हों परन्तु अब अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक के लिये इस शरीर का भी परित्याग करता हूँ।

इस प्रकार के निश्चय के साथ पुनः आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधिपूर्वक मरण समय के प्राप्त होने पर काल करके सौधर्मकल्प के सूर्याभविमान की उपपात सभा में सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न हुआ, इत्यादि पूर्व में किया गया समस्त वर्णन यहाँ कर लेना चाहिये।

सूर्याभदेव का भावी जन्म

२७९—तए णं से सूरियाभे देवे अहुणोववन्नए चेव समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छति, तं०—आहारपज्जत्तीए सरीरपज्जत्तीए इंदियपज्जत्तीए आणपाणपज्जत्तीए भास-मणपज्जत्तीए, तं एवं खलु भो! सूरियाभेणं देवेणं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए।

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता।

गोयमा ! चत्तारि पलिओवमाइं ठिती पण्णत्ता।

से णं सूरियाभे देवे ताओ लोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे जाणि इमाणि कुलाणि भवंति, तं०—अड्ढाइं दित्ताइं विउलाइं विच्छिण्णविपुलभवण-सयणासण-जाण-वाहणाइं बहुधण-बहुजातरूव-रययाइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूताइं, तत्थ अन्नयरेसु कुलेसु पुत्तत्ताए पच्चाइस्सइ।

२७९—तत्काल उत्पन्न हुआ वह सूर्याभदेव पाच पर्याप्तियों से पर्याप्त हुआ। वे पर्याप्तियां इस प्रकार है—१. आहारपर्याप्ति, २. शरीरपर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, ५. भाषा-मनःपर्याप्ति।

इस प्रकार से हे गौतम ! उस सूर्याभदेव ने यह दिव्य देवर्द्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभव—देवप्रभाव उपार्जित किया है, प्राप्त किया है और अधिगत—अधीन किया हे।

गौतम—भदन्त ! उस सूर्याभदेव की आयुष्यमर्यादा कितने काल की है ?

भगवान्—गौतम ! उसकी आयुष्यमर्यादा चार पल्योपम की है।

गौतम—भगवन् ! आयुष्यपूर्ण होने, भवक्षय और स्थितिक्षय होने के अनन्तर सूर्याभदेव उस देवलोक से च्यवन करके कहाँ जायेगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवन्—गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में जो कुल आढ्य-धन-धान्यसमृद्ध, दीप्त-प्रभावक, विपुल-बड़े कुटुम्ब परिवारवाले, बहुत से भवनों, शय्याओं, आसनों और यानवाहनों के स्वामी, बहुत से धन, सोने-चादी के अधिपति, अर्थोपार्जन के व्यापार-व्यवसाय में प्रवृत्त एवं दीनजनों को जिनके यहां से प्रचुर मात्रा में भोजनपान प्राप्त होता है, सेवा करने के लिये बहुत से दास-दासी रहते हैं, बहुसंख्यक गाय, भैंस, भेड़ आदि पशुधन है और जिनका बहुत से लोगो द्वारा भी पराभव—तिरस्कार नहीं किया जा सकता, ऐसे प्रसिद्ध कुलों में से किसी एक कुल में वह पुत्र रूप से उत्पन्न होगा।

माता-पिता द्वारा कृत जन्मादि संस्कार

२८०—तए णं तंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि अम्मापिऊणं धम्मे दढा पइण्णा भविस्सइ।

तए णं तस्स दारयस्स नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं सुकुमालपाणिपायं अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरं लक्खणवंजणगुणोववेयं माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगं ससिसोमाकारं कंतं पियदंसणं सुरूवं दारयं पयाहिति।

तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठितिवडियं करेहिंति, ततियदिवसे चंदसूरदंसणियं करिस्सति, छट्ठे दिवसे जागरियं जागरिस्संति, एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते संपत्ते बारसाहे दिवसे णिव्वित्ते असुइजायकम्मकरणे चोक्खे संमज्जिओवलित्ते विउलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडा-

वेस्संति, मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणं आमंतेत्ता तम्रो पच्छा ण्हाया कायबलिकम्मा जाव अलंकिया भोयणमंडवंसि सुहासणवरगया ते मित्तणाइ-जाव परिजणेण सद्धिं विउलं असणं आसाएमाणा विसाए-माणा परिभुंजेमाणा परिभाएमाणा एवं चेव णं विहरिस्संति, जिमियभुत्तुत्तरागया वि य णं समाणा आयंता चोक्खा परमसुइभूया तं मित्तणाइ-जाव परिजणं विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेस्संति सम्माणिस्संति तस्सेव मित्त-जाव-परिजणस्स पुरतो एवं वइस्संति—

जम्हा णं देवाणुप्पिया ! इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि चेव समाणंसि धम्मे दढा पइण्णा जाया, तं होउ णं अम्हं एयस्स दारयस्स दढपइण्णे णामेणं। तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधेज्जं करिस्संति—दढपइण्णो य दढपइण्णो य।

तए णं तस्स अम्मापियरो आणुपुव्वेणं ठितिवडियं च चंदसूरियदरिसणं च धम्मजागरियं च नामधिज्जकरणं च पजेमणगं च पडिवद्धावणगं च पचंकमणगं च कन्नवेहणं च संवच्छरपडिलेहणगं च चूलोवणयं च अन्नाणि य बहूणि गब्भाहाणजम्मणाइयाइं महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं करिस्संति।

२८०—तत्पश्चात् उस दारक के गर्भ में आने पर माता-पिता की धर्म में दृढ प्रतिज्ञा—श्रद्धा होगी।

उसके बाद नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिन बीतने पर दारक की माता सुकुमार हाथ-पैर वाले शुभ लक्षणों एवं परिपूर्ण पांच इन्द्रियों और शरीर वाले, सामुद्रिक शास्त्र में बताये गये शारीरिक लक्षणों, तिल आदि व्यंजनों और गुणों से युक्त, माप, तोल और नाप में बराबर, सुजात, सर्वांगसुन्दर, चन्द्रमा के समान सौम्य आकार वाले, कमनीय, प्रियदर्शन एवं सरूपवान् पुत्र को जन्म देगी।

तब उस दारक के माता-पिता प्रथम दिवस स्थितिपतिता (कुलपरंपरागत क्रियाओं से पुत्र-जन्मोत्सव) करेगे। तीसरे दिन चन्द्रदर्शन और सूर्यदर्शन सम्बंधी क्रियायें करेगे। छठे दिन रात्रिजागरण करेंगे। ग्यारह दिन बीतने के बाद बारहवें दिन जातकर्म संबन्धी अशुचि की निवृत्ति के लिये घर झाड़-बुहार और लीप-पोत कर शुद्ध करेगे। घर की शुद्धि करने के बाद अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप विपुल भोजनसामग्री बनवायेगे और मित्रजनों, ज्ञातिजनों, निजजनों, स्वजन-संबन्धियों एवं दास-दासी आदि परिजनों, परिचितों को आमंत्रित करेगे। इसके बाद स्नान, बलिकर्म, तिलक आदि कौतुक-मंगल-प्रायश्चित्त यावत् आभूषणों से शरीर को अलंकृत करके भोजनमंडप में श्रेष्ठ आसनों पर सुखपूर्वक बैठकर मित्रों यावत् परिजनों के साथ विपुल अशनादि रूप भोजन का आस्वादन, विशेष रूप में आस्वादन करेगे, उसका परिभोग करेगे, एक दूसरे को परोसेगे और भोजन करने के पश्चात् आचमन-कुल्ला आदि करके स्वच्छ, परम शुचिभूत होकर उन मित्रों, ज्ञातिजनों यावत् परिजनों का विपुल वस्त्र, गंध, माला, अलंकारों आदि से सत्कार-संमान करेगे और फिर उन्हीं मित्रों यावत् परिजनों से कहेंगे—

देवानुप्रियो ! जब से यह दारक माता की कुक्षि में गर्भ रूप से आया था तभी से हमारी धर्म में दृढ़ प्रतिज्ञा—श्रद्धा हुई है, इसलिये हमारे इस बालक का 'दृढप्रतिज्ञ' यह नाम हो। इस तरह उस दारक के माता-पिता 'दृढप्रतिज्ञ' यह नामकरण करेगे।

इस प्रकार से उसके माता-पिता अनुक्रम से १. स्थितिपतिता, २. चन्द्र-सूर्यदर्शन, ३. धर्म-जागरण, ४. नामकरण, ५. अन्नप्राशन ६. प्रतिवर्धापन (आशीर्वाद, अभिनंदन-संमान समारोह),

७. प्रचंक्रमण (पैरों चलना—डग भरना और शब्दोच्चारण करना), ८. कर्णवेधन ९. संवत्सर प्रतिलेख (प्रथम वर्ष का जन्मोत्सव) और १०. चूलोपनयन (मुंडनोत्सव—झडूला उतारना) आदि तथा अन्य दूसरे भी बहुत से गर्भाधान, जन्मादि सम्बन्धी उत्सव भव्य समारोह के साथ प्रभावक रूप में करेंगे।

दृढप्रतिज्ञ का लालन-पालन

२८१—तए णं दढपतिण्णे दारगे पंचधाईपरिक्खित्ते—खीरधाईए-मंडणधाईए-मज्जणधाईए-अंकधाईए-कीलावणधाईए, अन्नाहि बहूहिं खुज्जाहिं, चिलाइयाहिं, वामणियाहिं, वडभियाहिं, बव्वराहि बउसियाहिं, जोण्हियाहिं, पण्णवियाहिं, ईसिणियाहिं, वारुणियाहिं, लासियाहिं, लाउसियाहिं, दमिलीहिं, सिहलीहिं, पुलिंदीहिं, आरबीहिं, पक्कणीहिं, बहलीहिं, मुरंडीहिं, सबरीहिं, पारसीहिं, णाणादेसी-विदेस-परिमंडियाहिं इंगियचिंतियपत्थियवियाणाहिं सदेसणेवत्थगहियवेसाहिं निउणकुसलाहिं विणीयाहिं चेडियाचक्कवालतरुणिवंदपरियालपरिवुडे वरिसधरकंचुइमहयरवंदपरिक्खित्ते हत्थाओ हत्थं साहरिज्जमाणे उवनच्चिज्जमाणे अंकाओ अंकं परिभुज्जमाणे उवगिज्जेमाणे उवलालिज्जमाणे उवगूहिज्जमाणे अवतासिज्जमाणे परियंदिज्जमाणे परिचुंबिज्जमाणे रम्मेसु मणिकोट्टिमतलेसु परंगमाणे गिरिकंदरमल्लीणे विव चंपगवरपायवे णिव्वाघायंसि सुहंसुहेण परिवड्ढिस्सइ।

२८१—उसके बाद वह दृढप्रतिज्ञ शिशु १. क्षीरधात्री—दूध पिलानेवाली धाय, २. मंडनधात्री—वस्त्राभूषण पहनाने वाली धाय, ३. मज्जनधात्री—स्नान कराने वाली धाय, ४. अंकधात्री—गोद में लेने वाली धाय और ५. क्रीडापनधात्री—खेल खिलाने वाली धाय—इन पांच धायमाताओं की देखरेख में तथा इनके अतिरिक्त इंगित (मुख आदि की चेष्टा), चिन्तित (मानसिक विचार), प्रार्थित (अभिलषित) को जानने वालीं, अपने-अपने देश के वेष को पहनने वाली, निपुण, कुशल-प्रवीण एवं प्रशिक्षित ऐसी कुब्जा (कुबड़ी), चिलातिका (चिलात-किरात नामक देश में उत्पन्न), वामनी (बौनी), वडभी (बड़े पेट वाली), बर्बरी (बर्बर देश की), बकुश देश की, योनक देश की, पल्हविका (पल्हव देश की), ईसिनिका, वारुणिका (वरुण देश की), लासिका (तिब्बत देश की), लाकुसिका (लकुस देश की), द्रावड़ी (द्रविड़ देश की), सिंहली (सिंहल देश, लंका की), पुलिंदी (पुलिंद देश की), आरबी (अरब देश की), पक्कणी (पक्कण देश की), बहली (बहल देश की), मुरण्डी (मुरण्ड देश की), शबरी (शबर देश की), पारसी (पारस देश की) आदि अनेक देश-विदेशों की तरुण दासियों एवं वर्षधरों (प्रयोग द्वारा नपुंसक बनाये हुए पुरुषों), कंचुकियों और महत्तरकों (अन्तःपुर के कार्य की चिन्ता रखने वालों) के समुदाय से परिवेष्टित होता हुआ, हाथों ही हाथों में लिया जाता, नचाया जाता, एक गोद से दूसरी गोद में लिया जाता, गा-गाकर बहलाया जाता, क्रीडा आदि द्वारा लालन-पालन किया जाता, लाड़ किया जाता, लोरियां सुनाया जाता, चुम्बन किया जाता और रमणीय मणिजटित प्रांगण में चलाया जाता हुआ व्याघातरहित गिरि-गुफा में स्थित श्रेष्ठ चम्पक वृक्ष के समान सुखपूर्वक दिनोंदिन परिवर्धित होगा—बढ़ेगा।

दृढप्रतिज्ञ का कलाशिक्षण

२८२—तए णं तं दढपतिण्णं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि ण्हायं कयबलिकम्मं कयकोउयमंगलपायच्छित्तं सव्वालंकारभूसियं करेत्ता महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं कलायरियस्स उवणेहिंति।

[illegible] वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक बालभाव से मुक्त हो परिपक्व विज्ञानयुक्त,
[illegible] बहत्तर कलाओं में पंडित होगा, बाल्यावस्था के कारण मनुष्य के जो
३ [illegible] दो नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन सुप्त-से अर्थात् अव्यक्त चेतना वाले
म [illegible] अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में कुशल हो जायेगा, वह गीत का
ल [illegible] कुशल हो जायेगा। अपने सुन्दर वेष से शृंगार का आगार-जैसा प्रतीत
अ [illegible] शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत होंगी।
बूह [illegible] में निपुण-कुशल होगा। अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध
धनु [illegible] का मर्दन करने में सक्षम एवं भोग भोगने की सामर्थ्य से संपन्न
[illegible] विकालचारी (मध्यरात्रि में इधर-उधर जाने-आने में

[illegible] 'कलापंडिए' और 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए'

[illegible] करने का कौशल। व्यक्ति के उन संस्कारों को [illegible]
[illegible] जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। [illegible]
[illegible] विकास न हो और संस्कृति की सुरक्षा के लिये [illegible]
[illegible] प्रकार से पालन नहीं किया जाये तो मानव [illegible]
[illegible] कोई अन्तर नहीं रहेगा। [illegible]
[illegible] कलाओं के [illegible]

बुह [illegible]
भोज [illegible]
आदि [illegible]
प्रायश्चि [illegible]
बैठकर भि [illegible]
आस्वादन व [illegible]
कुल्ला आदि [illegible]
वस्त्र, गंध, माल [illegible]
कहेंगे—

देवानुप्रियो ! [illegible]
में दृढ़ प्रतिज्ञा—श्रद्धा हुई ह [illegible]
दारक के माता-पिता 'दृढप्रति [illegible]

इस प्रकार से उसके मात [illegible]
जागरण, ४. नामकरण, ५. अन्नप्राशन [illegible]

गृहभूमि के गुण-दोषों को जानना, ४४. नया नगर बसाने आदि की कला, ४५. स्कन्धावार—सेना के पड़ाव की रचना करने की कला, ४६. मापने-नापने-तोलने के साधनों को जानना, ४७. प्रतिचार—शत्रु सेना के सामने अपनी सेना को चलाना, ४८. व्यूह—युद्ध में शत्रु सेना के समक्ष अपनी सेना का मोर्चा बनाना, ४९. चक्रव्यूह—चक्र के आकार की मोर्चाबन्दी करना, ५०. गरुडव्यूह—गरुड के आकार की व्यूहरचना करना, ५१. शकटव्यूह रचना, ५२. सामान्य युद्ध करना, ५३. नियुद्ध—मल्लयुद्ध करने की कला, कुश्ती लड़ना, ५४. युद्ध-युद्ध—शत्रु सेना की स्थिति को जानकर युद्धविधि को बदलने की कला अथवा घमासान युद्ध करना, ५५. अट्ठि (यष्ठि—लाठी या अस्थि—हड्डी) से युद्ध करना, ५६. मुष्ठियुद्ध करना, ५७. बाहुयुद्ध करना, ५८. लतायुद्ध करना, ५९. इष्वस्त्र—शस्त्र-बाण बनाने की कला अथवा नागबाण आदि विशिष्ट बाणों के प्रक्षेपण की विधि, ६०. तलवार चलाने की कला, ६१. धनुर्वेद—धनुष-बाण संबन्धी कौशल, ६२. चांदी का पाक बनाना, ६३. सोने का पाक बनाना, ६४. मणियों के निर्माण की कला अथवा मणियों की भस्म आदि औषधि बनाना, ६५. धातुपाक—औषधि के लिये स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म बनाना, ६६. सूत्रखेल—रस्सी पर खेल-तमाशे, क्रीडा करने की कला, ६७. वृत्तखेल—क्रीडाविशेष, ६८. नालिकाखेल—द्यूत—जुआविशेष, ६९. पत्र को छेदने की कला, ७०. पार्वतीय भूमि छेदने की कला, ७१. मूर्छित को होश में लाने और अमूर्च्छित को मृततुल्य करने की कला, ७२. काक, घूक आदि पक्षियों की बोली और उससे अच्छे-बुरे शकुन का ज्ञान करना।

कलाचार्य का सम्मान

२८३—तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुय-पज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य गंथओ य करणओ य सिक्खावेत्ता सेहावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेहिंति।

तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणपाणखाइम-साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारिस्संति सम्माणिस्संति विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलइस्संति विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति।

२८३—तत्पश्चात् कलाचार्य उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक को गणित प्रधान, लेखन (लिपि) से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाओं को सूत्र (मूल पाठ) से, अर्थ (व्याख्या) से, ग्रन्थ एवं प्रयोग से सिखला कर, सिद्ध कराकर माता-पिता के पास ले जायेंगे।

तब उस दृढप्रतिज्ञ बालक के माता-पिता विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार, वस्त्र, गन्ध, माला और अलंकारों से कलाचार्य का सत्कार, सम्मान करेंगे और फिर जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान (भेट) देंगे। जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देकर विदा करेंगे।

दृढप्रतिज्ञ की भोगसमर्थता

२८४—तए णं से दढपतिण्णे दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुपत्ते बावत्तरिकलापंडिए णवंगसुत्तपडिबोहिए अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए गीयरई गंधव्वणट्ट-कुसले सिंगारागारचारुवेसे संगयगयहसियभणियचिट्ठियविलाससंलावणिउणजुत्तोवयारकुसले हयजोही गय-जोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलंभोगसमत्थे साहसिए वियालचारी यावि भविस्सइ।

तए णं से कलायरिए तं दढपतिण्णं दारगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ अत्थओ य गंथओ य करणओ य सेहावेहि य पसिक्खावेहि य।

तं जहा—लेहं गणियं रूवं नट्टं गीयं वाइयं सरगयं पुक्खरगयं समतालं जूयं जणवयं पासगं अट्ठावयं पारेकव्वं दगमट्टियं अन्नविहिं पाणविहिं वत्थविहिं विलेवणविहिं सयणविहिं अज्जं पहेलियं मागहियं णिद्दाइयं गाहं गीइयं सिलोगं हिरण्णजुत्ति सुवण्णजुत्ति आभरणविहिं तरुणीपडिकम्मं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं कुक्कुडलक्खणं छत्तलक्खणं चक्कलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागणिलक्खणं वत्थुविज्जं णगरमाणं खंधवारं माणवारं पडिचारं वूहं चक्कवूहं गरुलवूहं सगडवूहं जुद्धं नियुद्धं जुद्धजुद्धं अट्ठिजुद्धं मुट्ठिजुद्धं बाहुजुद्धं लयाजुद्धं ईसत्थं छरुप्पवायं धणुवेयं हिरण्णपागं सुवण्णपागं मणिपागं धाउपागं सुत्तखेड्डं वट्टखेड्डं णालियाखेड्डं पत्तच्छेज्जं कडगच्छेज्जं सज्जीवनिज्जीवं सउणरुयं-इति।

२८२—तत्पश्चात् दृढ़प्रतिज्ञ बालक को कुछ अधिक आठ वर्ष का होने पर कलाशिक्षण के लिये माता-पिता शुभ तिथि, करण, नक्षत्र और मुहूर्त में स्नान, बलिकर्म, कौतुक-मंगल-प्रायश्चित्त कराके और अलंकारों से विभूषित कर ऋद्धि-वैभव, सत्कार, समारोहपूर्वक कलाचार्य के पास ले जायेंगे।

तब कलाचार्य उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक को गणित जिनमें प्रधान है ऐसी लेख (लिपि) आदि शकुनिरुत (पक्षियों के शब्द—बोली) तक की बहत्तर कलाओं को सूत्र से, अर्थ से (विस्तार से व्याख्या करके), ग्रन्थ से तथा प्रयोग से सिद्ध करायेंगे, अभ्यास करायेंगे। वे कलायें इस प्रकार हैं—

१. लेखन, २. गणित, ३. रूप सजाने की कला, ४. नाट्य (अभिनय) अथवा नृत्य करने की कला, ५. संगीत, ६. वाद्य बजाना, ७. स्वर जानना, ८. वाद्य सुधारना अथवा ढोल आदि बजाने की कला, ९. संगीत में गीत और वाद्यों के सुर-ताल की समानता को जानना, १०. द्यूत—जुआ खेलना, ११. लोगों के साथ वार्तालाप और वाद-विवाद करना, १२. पासों से खेलना, १३. चौपड़ खेलना, १४. तत्काल काव्य—कविता की रचना करना, १५. जल और मिट्टी को मिलाकर वस्तु निर्माण करना, अथवा जल और मिट्टी के गुणों की परीक्षा करना, १६. अन्न उत्पन्न करने अथवा भोजन बनाने की कला, १७. नया पानी उत्पन्न करना अथवा औषधि आदि के संयोग-संस्कार से पानी को शुद्ध करना, स्वादिष्ट पेय पदार्थों का बनाना, १८. नवीन वस्त्र बनाना, वस्त्रों को रंगना, सीना और पहनना, १९. विलेपनविधि—शरीर पर लेप करने की विधि, २०. शय्या बनाना और शयन करने की विधि जानना, २१. मात्रिक छन्दों को बनाना और पहचानना, २२. पहेलियां बनाना और बुझाना, २३. मागधिक—मागधी भाषा में गाथा-छन्द आदि बनाना, २४. निद्रायिका—नींद में सुलाने की कला, २५. प्राकृत भाषा में गाथा आदि बनाना, २६. गीति-छंद बनाना, २७. श्लोक (अनुष्टुप छंद) बनाना, २८. हिरण्ययुक्ति—चांदी बनाना और चांदी शुद्ध करना, २९. स्वर्णयुक्ति—स्वर्ण बनाना और स्वर्ण शुद्ध करना, ३०. आभूषण-अलंकार बनाना, ३१. तरुणीप्रतिकर्म—स्त्रियों का श्रृंगार-प्रसाधन करना, ३२. स्त्रियों के शुभाशुभ लक्षणों को जानना, ३३. पुरुष के लक्षण जानना, ३४. अश्व के लक्षण जानना, ३५. हाथी के लक्षण जानना, ३६. मुर्गों के लक्षण जानना, ३७. छत्र-लक्षण जानना, ३८. चक्र-लक्षण जानना, ३९. दंड-लक्षण जानना, ४०. असि-(तलवार) लक्षण जानना, ४१. मणि-लक्षण , ४२. काकणी-(रत्न-विशेष) लक्षण जानना, ४३. वास्तुविद्या—गृह,

गृहभूमि के गुण-दोषों को जानना, ४४. नया नगर बसाने आदि की कला, ४५. स्कन्धावार—सेना के पड़ाव की रचना करने की कला, ४६. मापने-नापने-तोलने के साधनों को जानना, ४७. प्रतिचार—शत्रु सेना के सामने अपनी सेना को चलाना, ४८. व्यूह—युद्ध में शत्रु सेना के समक्ष अपनी सेना का मोर्चा बनाना, ४९. चक्रव्यूह—चक्र के आकार की मोर्चाबन्दी करना, ५०. गरुडव्यूह—गरुड के आकार की व्यूहरचना करना, ५१. शकटव्यूह रचना, ५२. सामान्य युद्ध करना, ५३. नियुद्ध—मल्लयुद्ध करने की कला, कुश्ती लड़ना, ५४. युद्ध-युद्ध—शत्रु सेना की स्थिति को जानकर युद्धविधि को बदलने की कला अथवा घमासान युद्ध करना, ५५. अट्ठि (यष्ठि—लाठी या अस्थि—हड्डी) से युद्ध करना, ५६. मुष्ठियुद्ध करना, ५७. बाहुयुद्ध करना, ५८. लतायुद्ध करना, ५९. इष्वस्त्र—शस्त्र-बाण बनाने की कला अथवा नागबाण आदि विशिष्ट बाणों के प्रक्षेपण की विधि, ६०. तलवार चलाने की कला, ६१. धनुर्वेद—धनुष-बाण संबन्धी कौशल, ६२. चांदी का पाक बनाना, ६३. सोने का पाक बनाना, ६४. मणियों के निर्माण की कला अथवा मणियों की भस्म आदि औषधि बनाना, ६५. धातुपाक—औषधि के लिये स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म बनाना, ६६. सूत्रखेल—रस्सी पर खेल-तमाशे, क्रीडा करने की कला, ६७. वृत्तखेल—क्रीडाविशेष, ६८. नालिकाखेल—द्यूत—जुआविशेष, ६९. पत्र को छेदने की कला, ७०. पार्वतीय भूमि छेदने की कला, ७१. मूर्छित को होश मे लाने और अमूर्च्छित को मृततुल्य करने की कला, ७२. काक, घूक आदि पक्षियों की बोली और उससे अच्छे-बुरे शकुन का ज्ञान करना।

कलाचार्य का सम्मान

२८३—तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुय-पज्जवसाणाओ बावत्तरिं कलाओ सुत्तओ य अत्थओ य गंथओ य करणओ य सिक्खावेत्ता सेहावेत्ता अम्मापिऊणं उवणेहिति।

तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउलेणं असणपाणखाइम-साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारिस्संति सम्माणिस्संति विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलइस्संति विउलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति।

२८३—तत्पश्चात् कलाचार्य उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक को गणित प्रधान, लेखन (लिपि) से लेकर शकुनिरुत पर्यन्त बहत्तर कलाओं को सूत्र (मूल पाठ) से, अर्थ (व्याख्या) से, ग्रन्थ एवं प्रयोग से सिखला कर, सिद्ध कराकर माता-पिता के पास ले जायेंगे।

तब उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक के माता-पिता विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार, वस्त्र, गन्ध, माला और अलंकारों से कलाचार्य का सत्कार, सम्मान करेंगे और फिर जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान (भेंट) देंगे। जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देकर विदा करेंगे।

दृढ़प्रतिज्ञ की भोगसमर्थता

२८४—तए णं से दढपतिण्णे दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमित्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते बावत्तरिकलापंडिए णवंगसुत्तपडिबोहए अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए गीयरई गंधव्वणट्ट-कुसले सिंगारागारचारुवेसे संगयगयहसियभणियचिट्ठियविलासनिउणजुत्तोवयारकुसले हयजोही गय-जोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी अलंभोगसमत्थे साहस्सीए वियालचारी यावि भविस्सइ।

२८४—इसके बाद वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक बालभाव से मुक्त हो परिपक्व विज्ञानयुक्त, युवावस्थासंपन्न हो जायेगा। बहत्तर कलाओं में पंडित होगा, बाल्यावस्था के कारण मनुष्य के जो नौ अंग—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन सुप्त-से अर्थात् अव्यक्त चेतना वाले रहते हैं, वे जागृत हो जायेंगे। अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में कुशल हो जायेगा, वह गीत का अनुरागी, गीत और नृत्य में कुशल हो जायेगा। अपने सुन्दर वेष से शृंगार का आगार-जैसा प्रतीत होगा। उसकी चाल, हास्य, भाषण, शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत होंगी। पारस्परिक आलाप-संलाप एवं व्यवहार में निपुण-कुशल होगा। अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध करने एवं अपनी भुजाओं से विपक्षी का मर्दन करने में सक्षम एवं भोग भोगने की सामर्थ्य से संपन्न हो जायेगा तथा साहसी ऐसा हो जायेगा कि विकालचारी (मध्यरात्रि में इधर-उधर जाने-आने में भी) भयभीत नही होगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगत 'बावत्तरिकलापंडिए' और 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए' इन दो पदों का विचार करते हैं।

कला का अर्थ है—कार्य को भलीभांति करने का कौशल। व्यक्ति के उन संस्कारों को सबल बनाना जो स्वयं उसके एवं सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण न हो, चारित्र का विकास न हो और संस्कृति की सुरक्षा के लिये सामाजिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का सम्यक् प्रकार से पालन नही किया जाये तो मानव का कुछ भी महत्त्व नहीं है। मानव और दानव, पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। यही कारण है कि प्रत्येक युग में मानव को सुसंस्कारी बनाने, शारीरिक, मानसिक दृष्टि से विकसित करने और आजीविका के प्रामाणिक साधनों की योग्यता अर्जित करने के लिये कलाओं के शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है।

यद्यपि कलाओं के विषय में प्रत्येक देश के साहित्य में विचार किया गया है, तथापि हम अपने देश को ही मुख्य धर्मपरंपराओं के साहित्य को देखे तो सर्वत्र विस्तार के साथ कलाओ का विवरण उपलब्ध है। वैदिक परंपरा के रामायण, महाभारत, शुक्रनीति, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थो में बौद्ध-परंपरा के ललितविस्तरा में और जैन परंपरा के समवायांगसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञातासूत्र, औपपातिकसूत्र, कल्पसूत्र और इनकी व्याख्याओं में वर्णन किया गया है। किन्तु संख्या और नामो मे अन्तर है। कही कलाओं की संख्या चौसठ बताई है तो क्षेमेन्द्र के कलाविलास ग्रन्थ मे सौ से अधिक कलाओं का वर्णन किया है। बौद्धसाहित्य में इनकी संख्या छियासी कही है। जैनसाहित्य में पुरुष योग्य बहत्तर और महिलाओं के लिये चौसठ कलाओ का उल्लेख है। लेकिन जैनसाहित्यगत पुरुष-योग्य कलाये बहत्तर मानने की परंपरा सर्वमान्य है। जिसकी पुष्टि जनसाधारण मे प्रचलित इस दोहे से हो जाती है—

कला बहत्तर पुरुष की, तामे दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

जीवन धारण करने के लिये मानव को जैसे रोटी, कपड़ा और मकान जरूरी है, उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा के लिये शरीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुद्धि और आजीविका के साधनो की व्यवस्था, ये तीन भी आवश्यक हैं। अतएव पूर्व सूत्र में उल्लिखित बहत्तर कलाओं के नामों में ध्यान

देने योग्य यह है कि उनके चयन में दीर्घदृष्टि से काम लिया गया है। उनमें जीवन की सुरक्षा के तीनों अंगों के साधनों का समावेश करने के साथ लोकव्यवहारों के निर्वाह करने की क्षमता और प्राकृतिक पदार्थों को अपने लिये उपयोगी बनाने और उनका समीचीन उपयोग करने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य रखा गया है।

कलाओं के शिक्षण की प्राचीन पद्धति पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय शिक्षणपद्धति का स्तर क्या था? मात्र पुस्तकीय ज्ञान करा देना अथवा ग्रंथ रटा देना और वाणी द्वारा व्याख्या कर देना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था, किन्तु प्रयोग द्वारा वैसा कार्य भी कराया जाता था। यदि उन कलाओं और शिक्षणपद्धति को सन्मुख रखकर आज की शिक्षा-नीति निर्धारित की जाये तो उपयोगी रहेगा।

विद्वत्ता के लिये जैसे आज अनेक देशों की बोलियों और भाषाओं को जानना आवश्यक है, उसी तरह प्राचीन काल में भी कलाओं के अध्ययन के साथ प्रत्येक व्यक्ति और विशेषकर समृद्ध परिवारों में जन्मे व्यक्तियों और देश-विदेश में व्यापार के निमित्त जाने वालों के लिये अनेक भाषाओं का ज्ञाता होना अनिवार्य था। जो दृढ़प्रतिज्ञ के उत्पन्न होने के कुलों के लिये दिये विशेषणों से स्पष्ट है।

यद्यपि यहाँ की तरह अन्य आगम-पाठों में भी 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए' पद आया है। वह वर्ण्य व्यक्ति की विशेषता बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वे अठारह भाषायें कौनसी थीं, इसका उल्लेख मूल पाठों में कहीं भी देखने में नहीं आया है। हां समवायांग, प्रज्ञापना, विशेषावश्यकभाष्य और कल्पसूत्र की टीकाओं में अठारह लिपियों के नाम मिलते हैं। परन्तु उन नामों में भी भिन्नता है। इस स्थिति में यही माना जा सकता है कि उस समय बहुमान्य प्रचलित बोलियों को एक-एक भाषा माना जाता हो और उनको बोलने-समझने में निष्णात होने का बोध कराने के लिये ही 'अठारह भाषाविशारद' पद ग्रहण किया गया हो।

२८५—तए णं तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जाव वियालचारिं च वियाणित्ता विउलेहिं अन्नभोगेहि य पाणभोगेहि य लेणभोगेहि य वत्थभोगेहि य सयणभोगेहि य उवनिमंतेहिंति।

२८५—तब उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक को बाल्यावस्था से मुक्त यावत् विकालचारी जानकर माता-पिता विपुल अन्नभोगों, पानभोगों, प्रासादभोगों, वस्त्रभोगों और शय्याभोगों के [illegible] भोगने के लिये आमंत्रित करेंगे। अर्थात् माता-पिता उसे भोगसमर्थ [illegible] हे [illegible]! तुम युवा हो गये हो अतः अब कामभोगों की इस विपुल सामग्री का [illegible]।

दृढ़प्रतिज्ञ की अनासक्ति

२८६—तए णं दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अन्नभोगेहिं जाव सयणभोगेहिं [illegible], [illegible], णो मुच्छिहिति, णो अज्झोववज्जिहिति, से जहा णामए [illegible] [illegible] सयसहस्सपत्तेति वा पंके जाते जले संवड्ढे णोवलिप्पइ [illegible] [illegible] कामेहिं जाते भोगेहिं संवड्ढिए णोवलिप्पिहिति [illegible] [illegible]।

२८४—इसके बाद वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक बालभाव से मुक्त हो परिपक्व विज्ञानयुक्त, युवावस्थासंपन्न हो जायेगा। बहत्तर कलाओं में पंडित होगा, बाल्यावस्था के कारण मनुष्य के जो नौ अंग—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन सुप्त-से अर्थात् अव्यक्त चेतना वाले रहते हैं, वे जागृत हो जायेंगे। अठारह प्रकार की देशी भाषाओं मे कुशल हो जायेगा, वह गीत का अनुरागी, गीत और नृत्य में कुशल हो जायेगा। अपने सुन्दर वेष से शृंगार का आगार-जैसा प्रतीत होगा। उसकी चाल, हास्य, भाषण, शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत होगी। पारस्परिक आलाप-संलाप एवं व्यवहार में निपुण-कुशल होगा। अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध करने एवं अपनी भुजाओं से विपक्षी का मर्दन करने में सक्षम एव भोग भोगने की सामर्थ्य से सपन्न हो जायेगा तथा साहसी ऐसा हो जायेगा कि विकालचारी (मध्यरात्रि में इधर-उधर जाने-आने में भी) भयभीत नहीं होगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगत 'बावत्तरिकलापंडिए' और 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए' इन दो पदों का विचार करते हैं।

कला का अर्थ है—कार्य को भलीभांति करने का कौशल। व्यक्ति के उन सस्कारों को सबल बनाना जो स्वयं उसके एवं सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण न हो, चारित्र का विकास न हो और संस्कृति की सुरक्षा के लिये सामाजिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का सम्यक् प्रकार से पालन नही किया जाये तो मानव का कुछ भी महत्त्व नहीं है। मानव और दानव, पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। यही कारण है कि प्रत्येक युग में मानव को सुसंस्कारी बनाने, शारीरिक, मानसिक दृष्टि से विकसित करने और आजीविका के प्रामाणिक साधनों की योग्यता अर्जित करने के लिये कलाओं के शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है।

यद्यपि कलाओं के विषय में प्रत्येक देश के साहित्य में विचार किया गया है, तथापि हम अपने देश को ही मुख्य धर्मपरंपराओं के साहित्य को देखें तो सर्वत्र विस्तार के साथ कलाओ का विवरण उपलब्ध है। वैदिक परंपरा के रामायण, महाभारत, शुक्रनीति, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थो मे बौद्ध-परंपरा के ललितविस्तरा में और जैन परंपरा के समवायांगसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञातासूत्र, औपपातिकसूत्र, कल्पसूत्र और इनकी व्याख्याओं में वर्णन किया गया है। किन्तु संख्या और नामो मे अन्तर है। कही कलाओं की संख्या चौसठ बताई है तो क्षेमेन्द्र के कलाविलास ग्रन्थ में सौ से अधिक कलाओं का वर्णन किया है। बौद्धसाहित्य में इनकी संख्या छियासी कही है। जैनसाहित्य मे पुरुष योग्य बहत्तर और महिलाओं के लिये चौसठ कलाओं का उल्लेख है। लेकिन जैनसाहित्यगत पुरुष-योग्य कलाये बहत्तर मानने की परंपरा सर्वमान्य है। जिसकी पुष्टि जनसाधारण मे प्रचलित इस दोहे से हो जाती है—

कला बहत्तर पुरुष की, तामे दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार ॥

जीवन धारण करने के लिये मानव को जैसे रोटी, कपड़ा और मकान जरूरी है, उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा के लिये शरीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुद्धि और आजीविका के साधनो की व्यवस्था, ये तीन भी आवश्यक हैं। अतएव पूर्व सूत्र में उल्लिखित बहत्तर कलाओं के नामों में ध्यान

यह है कि उनके चयन में दीर्घदृष्टि से काम लिया गया है। उनमें जीवन की सुरक्षा के ों के साधनों का समावेश करने के साथ लोकव्यवहारों के निर्वाह करने की क्षमता और पदार्थों को अपने लिये उपयोगी बनाने और उनका समीचीन उपयोग करने की योग्यता रने का लक्ष्य रखा गया है।

कलाओं के शिक्षण की प्राचीन पद्धति पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस क्षणपद्धति का स्तर क्या था? मात्र पुस्तकीय ज्ञान करा देना अथवा ग्रंथ रटा देना और रा व्याख्या कर देना ही पर्याप्त नही माना जाता था, किन्तु प्रयोग द्वारा वैसा कार्य भी ाता था। यदि उन कलाओं और शिक्षणपद्धति को सन्मुख रखकर आज की शिक्षा-नीति की जाये तो उपयोगी रहेगा।

विद्वत्ता के लिये जैसे आज अनेक देशों की बोलियों और भाषाओं को जानना आवश्यक है, ह प्राचीन काल में भी कलाओं के अध्ययन के साथ प्रत्येक व्यक्ति और विशेषकर समृद्ध ं में जन्मे व्यक्तियों और देश-विदेश में व्यापार के निमित्त जाने वालों के लिये अनेक भाषाओं ा होना अनिवार्य था। जो दृढ़प्रतिज्ञ के उत्पन्न होने के कुलों के लिये दिये विशेषणों से ।

यद्यपि यहाँ की तरह अन्य आगम-पाठों में भी 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए' पद । वह वर्ण्य व्यक्ति की विशेषता बताने के लिये प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वे अठारह भाषायें थी, इसका उल्लेख मूल पाठों में कहीं भी देखने में नहीं आया है। हाँ समवायांग, प्रज्ञापना, वश्यकभाष्य और कल्पसूत्र की टीकाओं में अठारह लिपियों के नाम मिलते हैं। परन्तु इन में भी भिन्नता है। इस स्थिति में यही माना जा सकता है कि उस समय बहुमान्य प्रचलित ों को एक-एक भाषा माना जाता हो और उनको बोलने-समझने में निष्णात होने का बोध के लिये ही 'अठारह भाषाविशारद' पद ग्रहण किया गया हो।

२८५—तए णं तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जाव वियालचारिं च णत्ता विउलेहिं अन्नभोगेहि य पाणभोगेहि य लेणभोगेहि य वत्थभोगेहि य सयणभोगेहि य मंतिहिति।

२८५—तब उस दृढ़प्रतिज्ञ बालक को बाल्यावस्था से मुक्त यावत् विकालचारी जानकर -पिता विपुल अन्नभोगों, पानभोगों, प्रासादभोगों वस्त्रभोगों और शय्याभोगों के योग्य भोगों ोगने के लिये आमंत्रित करेंगे। अर्थात् माता-पिता उसे भोगसमर्थ जानकर कहेंगे कि हे ीव! तुम युवा हो गये हो अतः अब कामभोगों की इस विपुल सामग्री का भोग करो।

तिज्ञ की अनासक्ति

२८६—तए णं दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अन्नभोएहिं जाव सयणभोगेहिं णो सज्जिहिति, ििज्जहिति, णो मुच्छिहिति, णो अज्झोववज्जिहिति, से जहा णामए पउमुप्पले ति वा पउमे इ वा सहस्सपत्तेति वा पंके जाते जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं नोवलिप्पइ जलरएणं, एवामेव ि दारए कामेहि जाते भोगे[illegible] संवड्ढिए णोवलिप्पिहिति० मित्तणाइणियगसयण ििरजणेणं।

२८४—इसके बाद वह दृढ़प्रतिज्ञ बालक बालभाव से मुक्त हो परिपक्व विज्ञानयुक्त, युवावस्थासंपन्न हो जायेगा। बहत्तर कलाओं में पंडित होगा, बाल्यावस्था के कारण मनुष्य के जो नौ अंग—दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, जिह्वा, त्वचा और मन सुप्त-से अर्थात् अव्यक्त चेतना वाले रहते हैं, वे जागृत हो जायेंगे। अठारह प्रकार की देशी भाषाओं में कुशल हो जायेगा, वह गीत का अनुरागी, गीत और नृत्य में कुशल हो जायेगा। अपने सुन्दर वेष से शृंगार का आगार-जैसा प्रतीत होगा। उसकी चाल, हास्य, भाषण. शारीरिक और नेत्रों की चेष्टायें आदि सभी संगत होगी। पारस्परिक आलाप-संलाप एवं व्यवहार में निपुण-कुशल होगा। अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध करने एवं अपनी भुजाओं से विपक्षी का मर्दन करने में सक्षम एवं भोग भोगने की सामर्थ्य से सपन्न हो जायेगा तथा साहसी ऐसा हो जायेगा कि विकालचारी (मध्यरात्रि में इधर-उधर जाने-आने में भी) भयभीत नही होगा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगत 'बावत्तरिकलापंडिए' और 'अट्ठारसविहदेसिप्पगारभासाविसारए' इन दो पदों का विचार करते हैं।

कला का अर्थ है—कार्य को भलीभांति करने का कौशल। व्यक्ति के उन संस्कारो को सबल बनाना जो स्वयं उसके एवं सामाजिक जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। यदि व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण न हो, चारित्र का विकास न हो और संस्कृति की सुरक्षा के लिये सामाजिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का सम्यक् प्रकार से पालन नही किया जाये तो मानव का कुछ भी महत्त्व नही है। मानव और दानव, पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। यही कारण है कि प्रत्येक युग में मानव को सुसंस्कारी बनाने, शारीरिक, मानसिक दृष्टि से विकसित करने और आजीविका के प्रामाणिक साधनों की योग्यता अर्जित करने के लिये कलाओं के शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है।

यद्यपि कलाओं के विषय में प्रत्येक देश के साहित्य में विचार किया गया है, तथापि हम अपने देश को ही मुख्य धर्मपरंपराओं के साहित्य को देखे तो सर्वत्र विस्तार के साथ कलाओ का विवरण उपलब्ध है। वैदिक परंपरा के रामायण, महाभारत, शुक्रनीति, वाक्यपदीय आदि ग्रन्थो मे बौद्ध-परंपरा के ललितविस्तरा में और जैन परंपरा के समवायांगसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्ञातासूत्र, औपपातिकसूत्र, कल्पसूत्र और इनकी व्याख्याओं में वर्णन किया गया है। किन्तु संख्या और नामो मे अन्तर है। कही कलाओं की संख्या चौसठ बताई है तो क्षेमेन्द्र के कलाविलास ग्रन्थ मे सौ से अधिक कलाओं का वर्णन किया है। बौद्धसाहित्य में इनकी संख्या छियासी कही है। जैनसाहित्य मे पुरुष योग्य बहत्तर और महिलाओं के लिये चौसठ कलाओं का उल्लेख है। लेकिन जैनसाहित्यगत पुरुष-योग्य कलाये बहत्तर मानने की परंपरा सर्वमान्य है। जिसकी पुष्टि जनसाधारण मे प्रचलित इस दोहे से हो जाती है—

कला बहत्तर पुरुष की, तामे दो सरदार।
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार॥

जीवन धारण करने के लिये मानव को जैसे रोटी, कपड़ा और मकान जरूरी है, उसी प्रकार जीवन की सुरक्षा के लिये शरीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुद्धि और आजीविका के साधनो की व्यवस्था, ये तीन भी आवश्यक हैं। अतएव पूर्व सूत्र में उल्लिखित बहत्तर कलाओं के नामों में ध्यान

(भोगे जा चुके), प्रतिसेवित (भोग-परिभोग की वस्तुओं), आविष्कर्म (प्रकट कार्यो), रहःकर्म (एकान्त में किये गुप्त कार्यो) आदि, प्रकट और गुप्त रूप से होने वाले उस—उस मन, वचन और कायभोग में विद्यमान लोकवर्ती सभी जीवों के सर्वभावों को जानते-देखते हुए विचरण करेंगे।

तत्पश्चात् वे दृढप्रतिज्ञ केवली इस प्रकार के विहार से विचरण करते हुए अनेक वर्षों तक केवलिपर्याय का पालन कर, आयु के अंत को जानकर अपने अनेक भक्तों-भोजनों का प्रत्याख्यान व त्याग करेंगे और अनशन द्वारा बहुत से भोजनों का छेदन करेंगे और जिस साध्य की सिद्धि के लिये नग्नभाव, केशलोच, ब्रह्मचर्यधारण, स्नान का त्याग, दंतधावन का त्याग, पादुकाओं का त्याग, भूमि पर शयन करना, काष्ठासन पर सोना, भिक्षार्थ परगृहप्रवेश, लाभ-अलाभ में सम रहना, मान-अपमान सहना, दूसरों के द्वारा की जानेवाली हीलना (तिरस्कार), निन्दा, खिसना (अवर्णवाद), तर्जना (धमकी), ताड़ना, गर्हा (घृणा) एवं अनुकूल-प्रतिकूल अनेक प्रकार के बाईस परीषह, उपसर्ग तथा लोकापवाद (गाली-गलौच) सहन किये जाते है, उस साध्य—मोक्ष की साधना करके चरम श्वासोच्छ्वास में सिद्ध हो जायेंगे, मुक्त हो जायेंगे, सकल कर्ममल का क्षय और समस्त दुःखों का अंत करेंगे।

उपसंहार

२८७—सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

२८७—इस प्रकार से सूर्याभदेव के अतीत, अनागत और वर्तमान जीवन-प्रसंगों को सुनने के पश्चात् गौतम स्वामी ने कहा—

भगवान् ! वह ऐसा ही है जैसा आपने प्रतिपादन किया है, हे भगवन् ! वह इसी प्रकार है, जैसा आप फरमाते है, इस प्रकार कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान महावीर को वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

२८८—णमो जिणाणं जियभयाणं। णमो सुयदेवयाए भगवतीए। णमो पण्णत्तीए भगवईए। णमो भगवओ अरहओ पासस्स। पस्से सुपस्से पस्सवणा णमो। ग्रन्थाग्रम्—२१२०।

॥ रायपसेणइयं समत्तं ॥

भयों के विजेता भगवान् को नमस्कार हो। भगवती श्रुत देवता को नमस्कार हो। प्रज्ञप्ति भगवती को नमस्कार हो। अर्हत् भगवान् पार्श्वनाथ को नमस्कार हो। प्रदेशी राजा के प्रश्नों के प्रदर्शक को नमस्कार हो।

॥ राजप्रश्नीयसूत्र समाप्त ॥

से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिति, केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सति, से णं अणगारे भविस्सइ ईरियासमिए जाव सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंते।

तस्स णं भगवतो अणुत्तरेणं णाणेणं एवं दंसणेणं चरित्तेणं आलएणं विहारेणं अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं खन्तीए गुत्तीए मुत्तीए अणुत्तरेणं सव्वसंजमसुचरियतवफलणिव्वाणमग्गेण अप्पाणं भावमाणस्स अणंते अणुत्तरे कसिणे पडिपुण्णे निरावरणे णिव्वाघाए केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जिहिति।

तए णं से भगवं अरहा जिणे केवली भविस्सइ सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स परियायं जाणहिति तं०—आगतिं गतिं ठितिं चवणं उववायं तक्कं कडं मणोमाणसियं खइयं भुत्तं पडिसेवियं आवीकम्मं रहोकम्मं अरहा अरहस्सभागी तं तं मणवयकायजोगे वट्टमाणाणं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावे जाणमाणे पासमाणे विहरिस्सइ।

तए णं दढपइन्ने केवली एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएत्ता बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइस्सइ, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेइस्सइ, जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे केसलोचबंभचेरवासे अण्हाणगं अदंतवणं अणुवहाणगं भूमिसेज्जाओ फलहसेज्जाओ परघरपवेसो लद्धावलद्धाइं माणावमाणाइं परेसिं हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ तज्जणाओ ताडणाओ गरहणाओ उच्चावया विरूवरूवा बावीसं परीसहोवसग्गा गामकंटगा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेइ, चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं सिज्झिहिति मुच्चिहिति परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति।

२८६—तब वह दृढ़प्रतिज्ञ दारक उन विपुल अन्न रूप भोग्य पदार्थो यावत् शयन रूप भोग्य पदार्थो में आसक्त नहीं होगा, गृद्ध नहीं होगा, मूर्च्छित नही होगा और अनुरक्त नही होगा। जैसे कि नीलकमल, पद्मकमल (सूर्यविकासी कमल) यावत् शतपत्र या सहस्रपत्र कमल कीचड़ में उत्पन्न होते हैं और जल में वृद्धिगत होते है, फिर भी पंकरज और जल रज से लिप्त नही होते है, इसी प्रकार वह दृढ़प्रतिज्ञ दारक भी कामों में उत्पन्न हुआ, भोगों के बीच लालन-पालन किये जाने पर भी उन कामभोगों मे एवं मित्रों, ज्ञातिजनों, निजी-स्वजन-सम्बन्धियों और परिजनों में अनुरक्त नहीं होगा।

किन्तु वह तथारूप स्थविरों से केवलबोधि—सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करेगा एवं मुंडित होकर, गृहत्याग कर अनगार-प्रव्रज्या अगीकार करेगा। अनगार होकर ईर्यासमिति आदि अनगार धर्म का पालन करते हुए सुहुत (अच्छी तरह से होम की गई) हुताशन (अग्नि) की तरह अपने तपस्तेज से चमकेगा, दीप्तमान होगा।

इसके साथ ही अनुत्तर (सर्वोत्तम) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अप्रतिबद्ध विहार, आर्जव, मार्दव, लाघव, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति (निर्लोभता) सर्व संयम एव निर्वाण की प्राप्ति जिसका फल है ऐसे तपोमार्ग से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् (दृढप्रतिज्ञ) को अनन्त, अनुत्तर, सकल, परिपूर्ण, निरावरण, निर्व्याघात, अप्रतिहत, सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होगा।

तब वे दृढ़प्रतिज्ञ भगवान् अर्हत, जिन, केवली हो जायेंगे। जिसमें देव, मनुष्य तथा असुर आदि रहते हैं ऐसे लोक की समस्त पर्यायों को वे जानेगे। अर्थात् वे प्राणिमात्र की आगति—एक गति से दूसरी गति मे आगमन को, गति—वर्तमान गति को छोड़कर अन्यगति मे गमन को, स्थिति,

परिशिष्ट-१

नृत्य-संगीत-नाट्य-वाद्य से सम्बन्धित

शब्दसूची

□□

परिशिष्ट—२

विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार वत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३-४.—**गर्जित-विद्युत्**—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. **यूपक**—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज उद्घात**—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. **हड्डी मांस और रुधिर**—पंचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएं उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाना है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये है।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव है। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया , मद्रास
२. श्री गुलावचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७ श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरड़िया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१० श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२ श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता. मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगा-टोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K. G. F.) जाड़न
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचन्दजी वैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टगना
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४० श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजो मोदी, भिलाई
६४. श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८ श्री भंवरलालजी डूगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंद
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी वागरेचा, जोधपुर
८९. श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी वाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री वालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलोर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७ श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरडिया, भैरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेडता सिटी
११५ श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चादमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थावला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५ श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□